R 12
1606
मानस-
चरितावली
रामकिंकर उपाध्याय

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मानस-
चरितावली

बिरला अकादमी आफ

२

चरितावली

रचयिता

रामकिंकर उपाध्याय

आर्ट एण्ड कल्चर, कलकत्ता

प्रकाशक : बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर,
१०८/१०९ सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता-२९
मूल्य : दस रुपये
दूसरा संस्करण : रामनवमी, संवत् २०३७
मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स,
के १७ नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

श्री रामः —

।। श्री रामः शरणं मम ।।

सविनय

चार वर्ष पूर्व मानस चतुःशती के ऐतिहासिक पर्व पर रामचरितमानस की ४०० पंक्तियों पर मानस के अप्रतिम मर्मज्ञ एवं उत्कृष्ट व्याख्याता पं० **रामकिंकर जी उपाध्याय** द्वारा विवेचन-विश्लेषण चार खण्डों में **मानस-मुक्तावली** के प्रकाशन के निमित्त-सुयोग बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर अपना परम सौभाग्य अनुभव करती है। **मानस-मुक्तावली** का विमोचन सम्वत् २०३१ श्री रामनवमी का पावन तिथि को दिल्ली में पूज्य पिताश्री श्री घनश्यामदास जी बिरला द्वारा सुसम्पन्न हुआ। उक्त अवसर पर पूज्य पिताश्री ने पं० रामकिंकर जी के सामने मानस के विभिन्न चरित्रों के विश्लेषण पर प्रकाशन की प्रस्तावना की, जिसका पूज्य पंडित जी ने स्वागत किया एवं सहर्ष स्वीकार किया। हमें हार्दिक प्रसन्नता है कि पूज्य पंडित जी के अत्यन्त व्यस्त एवं साथ ही अस्वस्थ रहते हुए भी उक्त परिकल्पना साकार संभव हो सकी और **मानस-चरितावली** का प्रकाशन दो खण्डों में हो रहा है। हम पूज्य पंडित रामकिंकर जी महाराज के अत्यन्त आभारी हैं।

रामचरितमानस सर्वांगीण ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न चरित्रों के माध्यम से आद्योपान्त अवतार-लीला सम्पन्न हुई। चरित्र-प्रसंगों में ऐसे आदर्श निहित हैं जो सार्वभौम है, सार्वकालिक हैं—ऐसे सूत्रों एवं संकेतों का समावेश है जो सर्वजन-हिताय है। पुण्यात्माओं के उदात्त चरित्र तो अनुकरण एवं मार्ग-दर्शन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होते ही हैं, दुर्गुण, दुर्विचार और दुष्कर्म से सावधान और दूर रहने की दृष्टि से रावण का चरित्र भी मानव के लिए महत्त्वपूर्ण है।

हमें विश्वास है **मानस-चरितावली** का प्रस्तुत प्रकाशन हमारे धर्म, साहित्य एवं दर्शन के लिए विशिष्ट अवदान होगा तथा हमारा जीवन-पथ आलोकित होता रहेगा। ऐसे लोक कल्याणकारी प्रकाशन से संबद्ध होकर बिरला अकादमी अपने को धन्य समझती है।

सरला बिरला

महाशिवरात्रि
सं० २०३४ प्रथम संस्करण

कोउ नहि शिव समान प्रिय मोरे
श्री राम

।। श्री रामः शरणं मम ।।

समर्पण

मानस चतु:शती के अवसर पर 'मानस-मुक्तावली' के लेखन के पश्चात् संभव है निष्क्रियता की ओर अभिमुख मेरा स्वभाव लम्वी अवधि तक लेखन से छुट्टी ले लेता। किन्तु प्रभु को यह अभीष्ट नहीं था। इसीलिए परम प्रेरक ने श्री घनश्याम दास जी विरला के सुझाव के माध्यम से मानस-चरितावली के लेखन में लगा दिया। मानस-मुक्तावली के प्रकाशन से श्री बसन्त कुमार जी तथा श्रीमती सरला जी का आनन्दित होना स्वाभाविक ही था। क्योंकि मानस चतु:शती के सन्दर्भ में विरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर की ओर से श्रीरामचरितमानस जैसी कालजयी कृति के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित किये जायं उनकी ऐसी इच्छा थी। पर मानस-चरितावली के शीघ्र प्रकाशन के लिए इन दोनों की उत्सुकता कम नहीं थी। क्योंकि यह उनके लिए अपने पूज्य पिताजी के संकल्प और सुझाव को साकार रूप देने का प्रश्न था। अस्वस्थता के कारण जब कभी लेखन में अवरोध की स्थिति आई भी तो दम्पत्ति के सौजन्यमय विनत जिज्ञासा ने मुझे प्रेरित किया कि मैं इस कार्य को यथासाध्य शीघ्र पूरा करूं। फिर भी विलम्ब तो हुआ ही। संशोधन परि-वर्धन का क्रम भी चला। सच तो यह है कि किसी भी कृति को पूरा कर पाना मुझे सर्वदा कठिन प्रतीत होता है। लेखन के पश्चात् पुन: पढ़ते हुए भावों का नूतन प्रवाह मुझे पुनर्लेखन की प्रक्रिया में लगा देता है। पर मैं यह भी जानता हूं कि इस तरह तो कभी भी किसी कृति का पूरा हो पाना सम्भव ही नहीं है। भगवान् और भक्तों के चरित्र-लेखन में यह अपूर्णता भी इन चरित्रों की अनन्तता का ही संकेत है। इस अपूर्ण वृत्ति को पूर्ण के चरणों में अर्पित करते हुए यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता हूं कि 'कहत नसाइ होय हिइ नीकी। रीझहि राम जानि जन जी की।।'

—रामकिंकर

संवत् २०३४ प्रथम संस्करण

चरितावली-क्रम

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

भूमिका

साहित्य और इतिहास में अनेक ऐसे पात्रों का दर्शन होता है जिनसे हम केवल ग्रंथों के माध्यम से परिचित हो जाते हैं। कभी-कभी उन्हें देखकर उनकी दुर्लभता की ऐसी अनुभूति होती है कि मन यह सोचकर संशयग्रस्त हो उठता है कि क्या सचमुच ऐसे व्यक्ति कभी धरती पर हुए होंगे या केवल वे साहित्यकार की मानसिक सृष्टिमात्र हैं। पर साहित्य और इतिहास के माध्यम से ऐसे भी चित्र सामने आते हैं जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इनसे तो हम पूरी तरह परिचित ही हैं। ये व्यक्ति ग्राम-नगर, हाट-वाट में वहुधा दिखाई दे जाते हैं और कभी-कभी तो वे अपने अन्तराल में ही झांक उठते हैं। ऐसा लगने लगता है कि जैसे किसी दर्पण में हम अपना ही प्रतिविम्व देख रहे हैं। रामचरितमानस के पात्रों से परिचय पाते समय भी कुछ इसी प्रकार के मिले-जुले भावों की अनुभूति होती है। वहुधा इनका विभाजन यथार्थ और आदर्श के रूप में किया जाता है। कुछ विचारकों की ऐसी धारणा है कि विकृति, क्षुद्रता और स्वार्थपरता ही जीवन का यथार्थ है, शेष वातें तो केवल काल्पनिक उड़ानमात्र हैं। यह वे बातें हैं जिन तक व्यक्ति कभी पहुंच ही नहीं सकता है। अध्यात्मवादी विचारक इसे नहीं स्वीकार कर सकता है। उसकी दृष्टि में जीव मूलतः शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है विकृति केवल आगन्तुक है। ठीक उसी प्रकार जैसे स्वस्थता शरीर का सहज धर्म है और रोग कुछ समय के लिए उस पर अधिकार कर लेते हैं। रोग के विनष्ट होते ही व्यक्ति पुनः स्वस्थता की पूर्व-स्थिति में पहुंच जाता है। रोग को शाश्वत सत्य मानकर उसे स्वीकार कर लेने वाला व्यक्ति रोग से लड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकता है। इसलिए यदि रोग यथार्थ है तो औषधि उससे कम यथार्थ नहीं है। अन्तर्मन की स्थिति ठीक इसी प्रकार की है। विकृतियों को यथार्थ मानकर उदात्त गुणों को केवल काल्पनिक आदर्श के रूप में उपेक्षा की दृष्टि से देखना आत्मिक स्वस्थता के स्थान पर आत्म-घात को स्वीकार करना है। अतः साहित्य का कार्य यथार्थ के नाम पर केवल विकृतियों का चित्रण करना ही नहीं है। इसीलिए गोस्वामी जी की कृतियों में जीवन के यथार्थ और आदर्श दोनों ही पक्षों का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। मानस-चरितावली में भी इसी परंपरा का पालन किया गया है। मानस-चरितावली के प्रथम खण्ड में जिन पात्रों के चरित्र की चर्चा की गई है, वे मुख्यतः मानस के आदर्श पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। द्वितीय खण्ड में जीवन की विकृति और स्वस्थता दोनों के ही चित्र अंकित करने की चेष्टा की गई है।

सद्गुणों और दुर्गुणों का अलग-अलग विवेचन करने के पश्चात् रामभद्र ने इसका समापन जिस पंक्ति से किया है वह इनके तात्त्विक स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत की जिज्ञासा थी, सन्त और असन्त के

लक्षणों को लेकर राघव के द्वारा इनका वड़ा ही विस्तृत वर्णन किया गया, पर अचानक ही इस विश्लेषण की धारा वदल-सी जाती है। जव वे कहते हैं "गुण और दोष दोनों ही माया की कृति हैं इसलिए इन दोनों को भिन्न रूप में न देखना ही सच्चा गुण है। इन दोनों में भिन्नता देखना सबसे वड़ा अज्ञान है :

सुनहु तात मायाकृत गुण अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अविवेक।।

ऐसा लगता है कि इस वाक्य से तो सन्त-असन्त का सारा आधार ही समाप्त हो जाता है। यदि गुण और दोष को भिन्न मानना अविवेक है तो उसके आधार पर किसी को सन्त या असन्त की उपाधि देना भी तो अज्ञान का ही परिचायक माना जाएगा। फिर तो सन्त-महिमा और असन्त-निन्दा का कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाता है। पर विचित्र प्रकार का विरोधाभास तो यही है कि इस विश्लेषण के पहले स्वयं राम ही सन्त के सद्‌गुणों का वर्णन करने के साथ-साथ ऐसे सद्‌गुण-सम्पन्न सन्तों को प्राणप्रिय वताते हैं और असन्तों के विषय में तो वे इतने सजग हैं कि उनके दुर्गुणों का वर्णन करने से पहले ही उनसे दूर रहने की शिक्षा देते हैं :

निन्दा अस्तुति उभय सम ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुखपुंज।।
सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ।
भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ।।

वस्तुतः इस विरोधाभास में ही समन्वय का सूत्र छिपा हुआ है। गुण-दोष के विषय में विचार करते हुए इस जिज्ञासा का उदय होना स्वाभाविक ही है कि इनका निर्माता कौन है ? यह प्रश्न सृष्टि-निर्माण की समस्या के साथ जुड़ा हुआ है। क्योंकि सारी सृष्टि ही गुण-दोषमयी दिखाई देती है। इस प्रश्न का उत्तर कई रूपों में दिया गया है। पौराणिक दृष्टि से सृष्टि के आदिनिर्माता व्रह्मा हैं, गुण-दोष भी सृष्टि का ही एक भाग हैं तो इस अर्थ में सारी सृष्टि के पीछे व्रह्मा का कृतित्व है। मानस में इस मान्यता का समर्थन कई पंक्तियों में किया गया है :

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।।
दुख सुख पाप पुन्य दिन राती।
साधु असाधु सुजाति कुजाती।।
दानव देव ऊँच अरु नीचू।
अमिअ सुजीवनु माहुरु मीचू।।
मांया ब्रह्म जीव जगदीसा।
लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा।।
कासी मग सुरसरि क्रमनासा।
मरु मारव महि देव गवासा।।

सरग नरक अनुराग बिरागा।
निगमागम गुन दोष बिभागा।।
जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।।

यह एक तरह से यथार्थ की स्वीकृति है पर इसकी अन्तिम पंक्ति में गुण-दोष की समस्या का समाधान हंसवृत्ति में ढूंढ़ा गया। हंस के समान गुण-दुग्ध को ग्रहण करें और जल रूप अवगुण का परित्याग कर दें। किन्तु इससे मनुष्य की जिज्ञासा का समाधान नहीं होता। यदि पितामह ब्रह्मा इसके निर्माता हैं तो उन्हें क्या पड़ी हुई थी जो इस प्रकार की सृष्टि का निर्माण करें जिसमें गुण के साथ-साथ दोष की भी स्थिति हो और फिर बेचारा मनुष्य जीवन-भर दोष-गुण की समस्या से जूझता रहे। क्या वे इसके स्थान पर ऐसा संसार नहीं बना सकते थे जिसमें केवल गुण होता? सृष्टि में अवगुण और पाप की समस्या होती ही नहीं। इस प्रश्न का उत्तर भी अनेक रूपों में दिया जाता है। सृष्टि अनादि है ब्रह्मा इसके स्वतंत्र निर्माता नहीं हैं। वे पूर्व कर्मों और संस्कारों के अनुकूल संसार का निर्माण करते हैं अत: इसका मूल ढूंढ़ने की चेष्टा करना व्यर्थ है। हमारे सामने जो समस्याएं हैं केवल उन्हीं का समाधान खोजने की चेष्टा करनी चाहिए।

श्री राम इसे ब्रह्मा की कृति न कहकर माया की रचना कहते हैं। यह माया कौन है? इसकी भी व्याख्या अनेक रूपों में की गई है। गोस्वामी जी एक स्थान पर कहते हैं—यह ईश्वर की दासी है और ज्ञानपूर्वक विचार करने पर सर्वथा मिथ्या है :

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहहुँ पन रोपि।।

दूसरे स्थान पर इस माया के दो भेद किए गए हैं : विद्या और अविद्या। विद्या माया के द्वारा सृष्टि का निर्माण होता है और अविद्या माया के द्वारा मोहग्रस्त होकर व्यक्ति वन्धन में पड़ जाता है :

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ।।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा।।
एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।

इस अर्थ में सृष्टि का निर्माण उसके द्वारा हुआ है जो स्वतः है ही नहीं। माया है नहीं पर वह संसार का निर्माण करती है बंधन की सृष्टि करती है। अद्भुत पहेली है। पर इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि जिसकी सत्ता ही नहीं है वह बंधन और सृष्टि का निर्माण कर भी कैसे सकता है। अतः इस माया की सत्ता केवल व्यक्ति की भ्रान्ति में है। अनादिकाल से अगणित व्यक्तियों के हृदय में यह भ्रम बद्धमूल है। यदि उसे भ्रम कहकर मिटाने की चेष्टा की भी जाय तो उसे व्यक्ति

पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता। मानव-मन की इस समस्या का विनय पत्रिका में बड़ा ही यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया गया है :

हे हरि ! यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-संदेह न जाई ॥१॥
जो जग मृषा ताप त्रय-अनुभव होइ कहतु केहि लेखे।
कहि न जाय मृग बारि सत्य, भ्रम ते दुख होइ विसेखे ॥२॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै ॥३॥
अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम संतोष-दया-विवेक तें, व्यवहारी सुखकारी ॥४॥
तुलसिदास सब विधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति भगति, संत संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै ॥५॥

अर्थ : हे हरि ! यह भ्रम की ही अधिकता है कि देखने, सुनने, कहने और समझने पर भी न तो संशय (असत्य जगत को सत्य मानना) ही जाता है और न (एक परमात्मा की ही अखंड सत्ता है या कुछ और भी है—ऐसा) संदेह ही दूर होता है। (कोई कहे कि) यदि संसार असत्य है, तो फिर तीनों तापों का अनुभव किस कारण से होता है ? (संसार असत्य है तो संसार के ताप भी असत्य हैं; परन्तु तापों का अनुभव तो सत्य प्रतीत होता है।) (इसका उत्तर यह है कि) मृगतृष्णा का जल सत्य नहीं कहा जा सकता, परन्तु जब तक भ्रम है, तब तक वह सत्य ही दीखता है और इसी भ्रम के कारण विशेष दुःख होता है। इसी प्रकार जगत में भी भ्रमवश दुःखों का अनुभव होता है। जैसे कोई सुन्दर सेज पर सोया हुआ मनुष्य सपने में समुद्र में डूबने से भयभीत हो रहा हो पर जब तक वह स्वयं जाग नहीं जाता, तब तक करोड़ों नौकाओं द्वारा भी वह पार नहीं जा सकता उसी प्रकार यह जीव निद्रा में अचेत हुआ सागर में डूब रहा है। परमात्मा के तत्त्वज्ञान में जागे विना सहस्रों साधनों द्वारा भी यह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। यह अत्यन्त भयानक संसार अज्ञान के कारण ही मनोरम दिखाई देता है। अवश्य ही उनके लिये यह संसार सुखकारी हो सकता है जो सम, संतोष, दया और विवेक से युक्त व्यवहार करते हैं। हे तुलसीदास ! वेद कह रहे हैं कि यद्यपि सांसारिक प्रपंच सब प्रकार से असत्य है, किन्तु रघुनाथ जी की भक्ति और सन्तों की संगति के बिना किसमें सामर्थ्य है जो इस संसार के भीषण भय का नाश कर सके, इस भ्रम को छुड़ा सके ?

इस भ्रम के निराकरण के लिए सत्संग और भक्ति को उपाय रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस आधार पर सन्त-असन्त-भेद को केवल इस रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि सच्चा सन्त वही है जो इस भेद-भ्रम को विनष्ट करने की चेष्टा करता है। असन्त के द्वारा इस भ्रान्ति को बढ़ावा मिलता है इसलिए उसकी निन्दा की जाती है। सृष्टि के निर्माता के रूप में ब्रह्मा और माया का वर्णन यथार्थ न होकर केवल कल्पित है। किन्तु यदि व्यक्ति के सामने प्रारम्भ में ही इसे भ्रान्ति

के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाय तो इससे उसकी भ्रान्ति विनष्ट होना तो दूर, कहने वाले पर ही अनास्था हो जाएगी। ठीक उन मानस-रोगियों की भांति जो किसी कारण से स्वयं को कल्पित रोग से ग्रस्त मान लेते हैं। कुछ चिकित्सक यह कहकर कि तुम्हें कुछ नहीं हुआ है एक नई समस्या खड़ी कर लेते हैं। रोगी स्वयं को भ्रान्त न मानकर ऐसा कहने वाले चिकित्सक को ही मूर्ख मान लेता है। इस लिए बुद्धिमान चिकित्सक उनके भ्रम को ही यथार्थ मानने का दिखावा करता है और औषधि के नाम पर उसे ऐसी वस्तुएं देता है जिससे रोगी को यह सान्त्वना प्राप्त होती है कि उसे रोग की दवा दी जा रही है। इससे उसे क्रमशः स्वस्थता की अनुभूति होती है। पूर्ण स्वस्थ हो जाने के वाद चिकित्सक यदि चाहे तो उसके सामने यह रहस्य खोल सकता है कि वस्तुतः तुम मानसिक रोग से ही ग्रस्त थे। दी जाने वाली औषधियां सान्त्वनामूलक थीं। सम्भव है मानस-रोगी तब अपनी भ्रान्ति और चिकित्सक की चतुराई पर मुस्करा उठे।

तुलसी भी एक चतुर चिकित्सक की भांति इसी पद्धति का आश्रय लेते हैं। वे मानस-मन में वद्धमूल धारणाओं को सीधे अस्वीकार नहीं कर देते। वे क्रमशः उसे ऊपर की ओर उठाते हैं। इसलिए मानस में कभी-कभी ऐसी पंक्तियां आती हैं जो परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं, पर अन्त में गहराई से विचार करने पर विरोधाभास का समाधान हो जाता है। एक ओर वे ब्रह्मा का वर्णन सृष्टि निर्माता के रूप में करते हैं तो दूसरी ओर ब्रह्मा के मुख से ही इसका खण्डन भी करवा देते हैं। एक ओर माया की भयानकता और उसकी अद्‌भुत क्षमताओं का वर्णन करते हैं तो दूसरी ओर उसी माया के मिथ्यात्व का प्रतिपादन कर देते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार के विरोधाभास को भली भांति देखा जा सकता है :

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

× × ×

जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करहु अघारी चिंत हमारी जानिअ भगति न पूजा॥

× × ×

यह सब माया कर परिवारा।
प्रबल अमिति को बरनै पारा॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं॥
ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखंड॥

× × ×

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पन रोपि॥

प्रकृति और विकृति, गुण और दोष के मूल में एक ही शुद्ध सच्चिदानन्द ईश्वर विद्यमान है। इसीलिए मानस में जिन पात्रों को बुराई के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है बहुधा उनके पूर्वजन्मों की ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया है और इन सब पात्रों की विलक्षणता यही है कि वे सबके सब सद्‌गुण-सम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्ति थे। यहां तक कि दुर्गुणों का घनीभूत रावण तो साक्षात् भगवान् का पार्षद और उन्हीं के समान रूप वाला बताया गया है। अंत में भी वह मुक्त होकर भगवान से एकाकार हो जाता है। केवल मध्य की अवधि में ही वह पाप का प्रतीक प्रतीत होता है। वस्तुतः यह केवल रावण और कुम्भकर्ण की ही गाथा नहीं है यह तो प्रत्येक जीव का शाश्वत इतिहास है। साधना और सत्संग का मुख्य उद्देश्य इसी मध्यकालीन समस्या का समाधान देना है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी यही तथ्य सामने आता है। कोई वस्तु अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं है। एक पत्थर का टुकड़ा पूजा या प्रहार—दोनों का ही साधन बन सकता है। पत्थर को किसी के ऊपर फेंक कर उसे घायल या मृत्यु की सीमा तक पहुंचा सकते हैं, परन्तु चतुर शिल्पी के द्वारा देव-प्रतिमा का रूप ग्रहण करके वही पत्थर वन्दनीय और अभयद बन जाता है। और इससे भी आगे बढ़कर देखें तो प्रहार और पूजा के पीछे भी एक ही उद्देश्य कार्य कर रहा है। प्रहार द्वारा यदि व्यक्ति स्वयं को सुरक्षित बनाने की चेष्टा करता है तो देव पूजा के माध्यम से भी पूजक स्वयं के लिए सुरक्षा और सुख की ही याचना करता है। प्रहार के पीछे क्रोध है तो पूजा के पीछे प्रेम। पर क्रोध और प्रेम के उदय केन्द्र क्या भिन्न-भिन्न हैं ? नहीं, इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का उदय तो मन में ही होता हैं और मन की मूल कामना सुख ही तो है। इस तरह पाप, पुण्य, सद्‌गुण, दुर्गुण—सबके पीछे सुख की ही तीव्र लालसा विद्यमान है। केवल सुख की व्याख्या और उसकी उपलब्धि के मार्ग को लेकर ही विवाद या भिन्नता है। सृष्टि के मूल में ईश्वर की अवस्थिति को स्वीकार करने के बाद मध्य में आने वाली विकृतियों के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसके निवारण का प्रयास ही साधना है।

विभिन्न व्यक्तियों के जीवन की विकृतियों में भले ही भिन्नता हो पर सारी विकृतियों के मूल में भ्रमजन्य मोह ही मुख्य हेतु है। मानस-रोगों का विस्तृत वर्णन करते हुए इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है :

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।
जेहि ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

दूसरे प्रसंग में इन विकृतियों का वर्णन सैनिकों और सेनापतियों के रूप में किया गया है जिनके समक्ष बड़े-बड़े शक्तिशाली देवता भी स्वयं को पराजित अनुभव करते हैं। पर वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इन सबको जन्म देने वाली माया ही है :

यह सब माया कर परिवारा।
प्रबल अमिति को बरनै पारा॥

सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं।।
ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखंड।।

मोह और माया शब्द यद्यपि भिन्न अर्थ के प्रतिपादक हैं पर वे अत्यन्त समीपी हैं। माया के विषय में जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि यह एक ऐसी भ्रान्ति है जो न होते हुए भी अनादि काल से व्यक्ति के मन पर शासन कर रही है। इसीलिए भगवान शंकराचार्य इसे अनिर्वचनीय कहकर प्रतिपादित करते हैं। जिसे न तो सत्य कह सकें और न असत्, उसे अनिर्वचनीय ही तो मानना होगा। साधारणतया जब किसी भी विषय में भ्रान्ति होती है तब उसे समझ लेने पर उसका निराकरण हो जाना चाहिए। दूर से चमकती हुई सीप को देखकर चांदी की भ्रान्ति हुई। समीप से जाकर देखने पर उसका सही ज्ञान हो गया। ऐसा लगा कि भ्रम का निराकरण हो गया। एक सीमा तक यह यथार्थ भी है। दूसरे दिन उसी स्थान पर सीप की चमक देखकर ध्यान आ जाता है कि अरे यह तो सीप है। पर इससे सदा-सर्वदा के लिए भ्रम का निवारण नहीं हो जाता। वही व्यक्ति दूसरे दिन कहीं अन्यत्र चमक देखकर पुनः प्रभावित हो सकता है। क्योंकि उसे चांदी की सत्ता और चमक पर विश्वास है। उसके मन में सहज ही तर्क आता है कि यह ठीक है कि प्रत्येक चमकने वाली वस्तु चांदी ही नहीं होती पर प्रत्येक चमकने वाले पदार्थ को सीप समझ लेना भी तो मूर्खता है और तब पुनः वह उस वस्तु के समीप जाकर देखने और पाने का प्रयास करता है। इस तरह काल और देश के अमित विस्तार के कारण भ्रम की कभी न समाप्त होने वाली श्रृंखला का प्रारम्भ होता है। भ्रान्ति को समझ कर भी उसकी ओर पुनः आकृष्ट होना ही मोह है। तुलसीदास जी सेमल और तोते का दृष्टान्त देकर मोह की व्याख्या करते हैं। सेमल के पुष्प पर तोता रस की आकांक्षा से प्रहार करता है क्योंकि पुष्प उसे आकर्षक फल प्रतीत होता है। प्रहार के बाद उसे कुछ नहीं मिलता। फिर भी वह पुनः वही भूल दुहराता है क्योंकि उसके मन में पुनः यह आशा बनी ही रहती है कि उस पुष्प में न सही, इसमें अवश्य रस होगा। अनगिनत बार वही भूल दुहराने पर भी उसकी भ्रान्ति का निवारण कभी नहीं होता। प्रत्येक वसन्त में सेमल फूलता है और वे ही तोते बार-बार वही चेष्टा करते दिखाई देते हैं। तुलसी कहते हैं यही मोह है :

सोई सेमर तेई सुआ सेवत सदा बसंत।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत।।

जीवन की वास्तविकता भी यही है। अनगिनत बार आघात झेलकर भी व्यक्ति उन्हीं भूलों को बार-बार दुहराता है। फिर भी कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो भूलों से सीखते हैं। न केवल अपनी भूलों से अपितु इतिहास में दुहराई गई भूलों से भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इन भूलों के निराकरण का सतत प्रयास चलता ही रहता है। समाज और शासन इसके लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। कभी-कभी

उसका सुफल भी सामने आता है पर बाद में ऐसा लगता है कि उपाय भी व्यर्थ है क्योंकि दण्ड की व्यवस्था करने वाले भी भूलें करने लग जाते हैं अथवा यों कहें कि कुछ प्रकार की भूलें कम हो जाती हैं तो उनसे भिन्न प्रकार के अपराध सामने आने लगते हैं, ठीक रोग और चिकित्सा की भांति। न जाने कब से व्यक्ति रोगों के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। वह रोग-निवारण के लिए औषधि की खोज करता है। कभी-कभी लगता है कुछ रोग असाध्य हैं; पर चिकित्सक उन रोगों की चिकित्सा भी खोज लेते हैं। परन्तु प्रकृति की समस्या भी कम जटिल नहीं है। जब चिकित्सा-शास्त्र अपनी नई सफलता पर प्रसन्न होता है तभी कोई नया रोग सामने आ जाता है। अभी कुछ वर्ष पहले राजयक्ष्मा को असाध्य रोगों की श्रेणी में माना जाता था पर आज वह सर्वथा साध्य कोटि में है, पर दूसरी ओर कैन्सर जैसा रोग सामने है। इस तरह रोग और चिकित्सा का सतत संघर्ष चलता ही रहता है। रोग-निवारण की दिशा में भिन्न-भिन्न चिकित्सा पद्धतियां अपनी शैली के अनुरूप प्रयत्नशील हैं। अपराध और मानसिक विकारों के सन्दर्भ में भी यही स्थिति है। इनके निवारण के लिए जहां शासन और सत्ता के द्वारा दण्ड-विधान जैसे उपायों का आश्रय लिया जाता है वहीं धर्म और अध्यात्म के माध्यम से मानसिक परिवर्तन के द्वारा इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया जाता है। सत्ता इसका तात्कालिक समाधान चाहती है तो धर्म और दर्शन इसके भूल का निराकरण करने के लिए दीर्घकालीन समाधान लेकर सामने आते हैं। दोनों की अपनी उपयोगिता है। रामचरितमानस की रचना भी इसी उद्देश्यवादी दृष्टि को सामने रखकर की गई है। इसीलिए रामचरितमानस की समाप्ति मानस-रोगों के विश्लेषण से की गई है। इसमें जिन बुरे पात्रों का वर्णन किया गया है वे किसी न किसी मानस-रोग से पीड़ित हैं। दृष्टान्त के रूप में मन्थरा को ही ले लें, इसे मानस-रोग की भाषा में राजयक्ष्मा-ग्रस्त कह सकते हैं। यह रोग अत्यन्त संक्रमणशील है, दूसरों को सुखी देखकर दु:खी हो जाना ही इस मानस-रोग का लक्षण है :

पर सुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।

मन्थरा से ही यह रोग कैकेयी में संक्रमण कर जाता है। रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा जैसे पात्र किसी न किसी मानस-रोग से ग्रस्त हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनके मानसिक रोगों की प्रक्रिया इतनी जटिल हो चुकी है कि उनकी चिकित्सा नहीं हो पाती है। कुछ ऐसे पात्र हैं जो अस्वस्थ होने के पश्चात् पुनः स्वस्थ हो जाते हैं। वालि, सुग्रीव, अंगद के चरित्र में यही तथ्य सामने आता है। इन रोगों से प्रत्येक व्यक्ति को सतत सावधान रहना चाहिए, इस विषय में स्वयं को स्वस्थ मानकर रोगों की उपेक्षा घातक है। इसका दृष्टान्त तब सामने आता है जब हम वैद्य अथवा डाक्टर को ही रोगग्रस्त देखते हैं। श्री परशुराम का चरित इसी मनोवृत्ति का एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है। वे रोगग्रस्त समाज को स्वस्थ बनाने की चेष्टा करते हैं पर स्वयं वे भी रोगग्रस्त हो जाते हैं। श्रीरामभद्र जैसे चिकित्सक की

चिकित्सा-पद्धति से वे पुनः स्वस्थ हो जाते हैं।

प्रथम खण्ड में मुख्य रूप से ऐसे पात्र हैं जिन्हें पूर्ण स्वस्थ चरित्र का माप-दण्ड कह सकते हैं। केवल कैकेयी ही इसकी अपवाद हैं, वे रोगग्रस्त होने के बाद पुनः रोगमुक्त होकर स्वस्थ हो जाती हैं। वहुधा स्वस्थ और दीर्घजीवी व्यक्तियों को देखकर हमारे अन्तःकरण में उनके अनुभवों से लाभ लेने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। भगवान शंकर, भरत, लक्ष्मण और हनुमान जैसे पात्रों का चरित्र इसी श्रेणी में आता है। ये पात्र न केवल स्वस्थ हैं अपितु चिकित्सक भी हैं। इनकी चिकित्सा-पद्धतियों में कुछ भिन्नताएं हैं पर वे प्रकृतिगत भिन्नता के नाते अलग-अलग व्यक्तियों के लिए उपयोगी हैं। अपनी रुचि और संस्कार के अनुकूल हम इनमें से किसी एक का आश्रय लेकर स्वयं भी स्वस्थ हो सकते हैं।

रामचरितमानस के प्रारम्भ में गोस्वामी जी ने रामकथा और रामचरित्र को अनेकों रूपों में देखा है। इनमें से एक में वे उन्हें देवताओं के महान् वैद्य के रूप में देखते हैं जिनका कार्य व्यक्ति को भीषण मानस-रोगों से मुक्त करना है :

सद्‌गुरु ग्यान विराग जोग के।
विबुध वैद भव भीम रोग के॥

उपर्युक्त पंक्तियां मात्र कवि-कल्पना न होकर पूरी तरह यथार्थ हैं। मानस के इन वहुरंगे पात्रों के जीवन में रोग और स्वस्थता दोनों के रहस्य छिपे हुए हैं। मानस-चरितावली में जीवन के यथार्थ और आदर्श चरित्रों के कुछ संक्षिप्त शब्द-चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे पात्र हैं जिन पर विस्तार से विचार करने के लिए प्रत्येक पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ की आवश्यकता है। पर यह रचना वहुरंगे पुष्पों की एक माला के समान है जिसमें समग्र वाटिका के पूरे फूलों का समा पाना भले ही सम्भव न हो पर जो पूरी वाटिका की एक झलक दिखा पाने में एक सीमा तक समर्थ है।

अस्वस्थता के कारण इस ग्रंथ के लेखन में अत्यधिक विलम्ब हुआ फिर भी जिस रूप में यह पाठकों के समक्ष जा रहा है उसके निर्माण और सज्जा में अनेक लोगों का हाथ है। लेखन का मुख्य भार मेरे प्रिय शिष्य श्री उमाशंकर शर्मा पर था। पुनर्लेखन का परिश्रमसाध्य कार्य मेरे स्नेहभाजन श्री विष्णुकान्त तथा श्री श्रीकान्त पाण्डेय वन्धुद्वय के द्वारा सम्पन्न हुआ। इसके पुनरीक्षण और त्रुटि परि-मार्जन का भार प्रिय श्री जगदीश गुप्त ने उठाया। श्रीमती शीला कोचर, श्रीमती प्रेम तथा गोविन्द प्रसाद दूवे की सेवाओं का स्मरण किये विना कृतज्ञता-ज्ञापन का यह कार्य अधूरा रह जायेगा।

—लेखक

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

प्रतापभानु और रावण

व्यक्तियों के रूप, गुण, स्वभाव, सामर्थ्य में दिखायी देने वाली भिन्नता मनुष्य की जिज्ञासु वृत्ति के समक्ष प्रश्नचिह्न के रूप में उपस्थित होती रही है। सृष्टि का प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से इतना भिन्न क्यों है? यहां तक कि एक ही परिवार में एक ही माता-पिता से जन्म लेने वाले बालकों में भी आश्चर्यजनक भिन्नता पायी जाती है। विचारकों ने विभिन्न पद्धतियों से इस प्रश्न का समाधान करने की चेष्टा की है। हिन्दू धर्म ने इन सारे रहस्यों का उत्तर पुनर्जन्म के रूप में दिया है। आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्ति की मानसिक समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने के लिए उसकी बाल्यावस्था की ओर दृष्टि डालता है। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में व्यक्ति के जीवन के संचालन में बाल्यावस्था में पड़ने वाले प्रभावों का मुख्य हाथ है, हिन्दू धर्म इसे अस्वीकार नहीं करता, किन्तु संस्कारों के मूल उत्स को वह एक ही जीवन की सीमा में बांधना भी स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में शरीर परिवर्तित होने वाले वस्त्रों के समान है। अनादिकाल से जीव जन्म और मृत्यु के रूप में इन वस्त्रों को परिवर्तित करता आया है। इसलिए अपने पूर्वजन्मों से जुड़ा हुआ व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है। गोस्वामी जी की पुन-र्जन्म के सिद्धान्त में पूरी आस्था है। इसलिए वे मानस के अनेक अच्छे-बुरे पात्रों के पूर्वजन्म का संकेत करते हुए दिखाई देते हैं।

यदि वे दशरथ का वर्णन करते हुए मनु के रूप में उनके पूर्वजन्म का उल्लेख करते हैं तो दशग्रीव के चरित्र का विश्लेषण करते हुए वे यह याद दिलाना नहीं भूलते कि वह पूर्वजन्म में प्रतापभानु नाम का राजा था।

पर विचित्रता यह है कि जहां मनु और दशरथ के चरित्र में सर्वथा साम्य है, वहां प्रतापभानु और रावण एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और विरोधी व्यक्ति से प्रतीत होते हैं। इस विरोधाभास का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार के रूप में किया जा सकता है। "भानु" के "निशाचर" बन जाने की यह गाथा समाज में उठने वाली अनेकों समस्याओं का स्वरूप और समाधान उपस्थित करती है। प्रतापभानु का चरित्र संक्षेप में इस तरह प्रस्तुत किया गया है :

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी।
जो गिरिजा प्रति संभु बखानी॥
बिस्व बिदित एक कैकय देसू।
सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू॥
धरम धुरंधर नीति निधाना।
तेज प्रताप सील बलवाना॥

तेहि के भए जुगल सुत बीरा।
सब गुन धाम महा रन धीरा।।
राज धनी जो जेठ सुत आही।
नाम प्रतापभानु अस ताही।।
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा।
भुजबल अतुल अचल संग्रामा।।
भाइहि भाइहि परम समीती।
सकल दोष छल बरजित प्रीती।।
जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा।
हरि हित आपु गवन बन कीन्हा।।
जब प्रतापरबि भयउ नृप फिरी दोहाई देस।
प्रजा पाल अति बेद बिधि कतहुँ नहीं अघ लेस।।
नृप हितकारक सचिव सयाना।
नाम धरमरुचि सुक्र समाना।।
सचिव सयान बंधु बलबीरा।
आपु प्रतापपुंज रनधीरा।।
सेन संग चतुरंग अपारा।
अमित सुभट सब समर जुझारा।।
सेन बिलोकि राउ हरषाना।
अरु बाजे गहगहे निसाना।।
बिजय हेतु कटकई बनाई।
सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई।।
जहँ तहँ परी अनेक लराई।
जीते सकल भूमि बरिआई।।
सप्तदीप भुजबल बस कीन्हे।
लै लै दंड छाँड़ि नृप दीन्हे।।
सकल अवनि मंडल तेहि काला।
एक प्रतापभानु महिपाला।।
स्वबस बिस्व करि बाहुबल निज पुर कीन्ह प्रबेसु।
अरथ धरम कामादि सुख सेवइ समयँ नरेसु।।
भूप प्रतापभानु बल पाई।
कामधेनु भै भूमि सुहाई।।
सब दुःख बरजित प्रजा सुखारी।
धरमसील सुंदर नर नारी।।
सचिव धरमरुचि हरि पद प्रीती।
नृप हित हेतु सिखव नित नीती।।

गुरु सुर संत पितर महिदेवा।
करइ सदा नृप सब कै सेवा॥
भूप धरम जे बेद बखाने।
सकल करइ सादर सुख माने॥
दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना।
सुनइ सास्त्र बर बेद पुराना॥
नाना बापी कूप तड़ागा।
सुमन बाटिका सुंदर बागा॥
बिप्र भवन सुर भवन सुहाए।
सब तीरथन्ह बिचित्र बनाए॥
जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक-एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग॥
हृदय न कछु फल अनुसंधाना।
भूप बिबेकी परम सुजाना॥
करइ जे धरम करम मन बानी।
बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥

इन पंक्तियों में प्रतापभानु का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है वह मानस के अनेक उत्कृष्ट पात्रों की तुलना में भी श्रेष्ठ जैसा प्रतीत होता है। सत्यकेतु राजा का यह पुत्र समस्त सद्‌गुणों का पुंज दिखलाई पड़ता है। उसके राज्य शासन की सराहना में जो पंक्तियां प्रस्तुत की गई हैं, वे रामराज्य के प्रसंग में उल्लिखित वर्णन से मिलती-जुलती हैं। पर वही व्यक्ति अगले जन्म में अपने सारे सद्‌गुणों को झुठलाता हुआ प्रतीत होता है। यदि वह प्रथम जन्म में सूर्य के समान प्रकाशित प्रतापभानु है तो दूसरे जन्म में अंधकारप्रिय निशाचर है। निम्न पंक्तियों के माध्यम से इस विरोधाभास का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है :

प्रतापभानु	रावण
१. भाइहि भाइहि परम सप्रीती।	१. तात लात मोहि रावण मारा।
२. भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई॥	२. परम सभीत धरा अकुलानी॥
३. धरमसील सुंदर नर नारी।	३. हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह कै पापनि कवन मिति।
४. गुरु सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सबकै सेवा॥	४. मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
५. दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना।	५. पुष्पक जान जीति लै आवा।
६. सुनइ शास्त्र बर बेद पुराना।	६. सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
७. जहँ लगि कहे पुरान श्रुति,	७. द्विज भोजन मख होम सराधा।

एक एक सब जाग। सबकें जाइ करहु तुम बाधा॥
बार सहस्र सहस्र नृप,
किए सहित अनुराग॥
८. भूप बिवेकी परम सुजाना। ८. तब उर कुमति बसी बिपरीता।

प्रतापभानु के उत्कृष्ट चरित्र पर विचार करते हुए उसकी कुछ आन्तरिक दुर्बलताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। ऐसा लगता है कि प्रतापभानु के अन्तः-करण में राज्य सत्ता के प्रति तीव्र आकर्षण विद्यमान था। इसका प्रथम सांकेतिक चिह्न पिता द्वारा दिए गए राज्य को सरलतापूर्वक स्वीकार करने के रूप में दिखाई देता है। मानस के दो भिन्न प्रसंगों में पुत्रों को—राज्य सौंप दिए जाने का वर्णन किया गया है। मनु ने तपस्या के लिए वन जाने से पूर्व अपने पुत्र को राज्य दे दिया किन्तु पुत्र ने सरलता से इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसकी यह तीव्र इच्छा थी कि अभी महाराज मनु के द्वारा ही राज्य संचालन होता रहे :

बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा।
हरि हित आपु गवन बन कीन्हा॥

किन्तु तपस्या के लिए जाते हुए सत्यकेतु राजा के द्वारा राज्य दिये जाने पर प्रतापभानु के द्वारा कोई अनिच्छा प्रकट नहीं की जाती है। "जेठे सुतहिं राज नृप दीन्हा" में औपचारिक परम्परा का निर्वाह मात्र दिखाई देता है। प्रतापभानु की दूसरी दुर्बलता उसकी विश्व-विजय की तीव्र अभिलाषा के रूप में सामने आती है। इसलिए राजा बनते ही वह संगठित सेना के द्वारा आक्रमण करके अन्य राजाओं को अपना आश्रित बनने के लिए बाध्य करता है। प्रतापभानु की तीसरी सबसे बड़ी दुर्बलता मिथ्याचार के रूप में सामने आती है। हृदय से सकाम होते हुए भी वह लोकदृष्टि में स्वयं को निष्काम सिद्ध करना चाहता है। उसके द्वारा सार्वजनिक रूप से जो यज्ञ सम्पन्न होते हैं उनमें संकल्प के रूप में वह समर्पण का दिखावा करता है। किन्तु एकान्त में कपट-मुनि के सामने उसकी कामनाओं की पोटली खुल जाती है :

करइ जो धरम करम मन बानी।
बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥

× × ×

जरा मरन दुःख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥

रावण और प्रतापभानु के चरित्र में भले ही सर्वथा विरोधी कार्य-प्रणाली का दर्शन होता हो पर रावण के मूल संस्कार बीज-रूप में प्रतापभानु के जीवन में विद्यमान थे। यही बीज पल्लवित और पुष्पित होकर रावण के व्यक्तित्व की सृष्टि करते हैं। राज्यलिप्सा अपने विकृत रूप में उसे ऐसे योद्धा के रूप में परिणत कर देती है जो बलपूर्वक दूसरों की भूमि पर अधिकार कर लेने में संकोच का अनुभव नहीं करता। पिता-प्रदत्त राज्य को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेने वाला प्रताप-

भानु अपने अगले जन्म में बड़े भाई कुबेर की भूमि और समृद्धि तथा वाहन पर बलपूर्वक अधिकार कर लेता है :

भोगावति जसि अहिकुल बासा।
अमरावति जसि सक्रनिवासा।।
तिन्ह ते अधिक रम्य अति बंका।
जग बिख्यात नाम तेहि लंका।।
खाईं सिंधु गभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव।
कनक कोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव।।
हरि प्रेरित जेहिं कलप जोइ जातुधान पति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ।।
रहे तहाँ निसिचर भट भारे।
ते सब सुरन्ह समर संघारे।।
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे।
रच्छक कोटि जच्छपति केरे।।
दसमुख कतहुँ खबर असि पाई।
सेन साजि गढ़ घेरिसि जाई।।
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।
जच्छ जीव लै गए पराई।।

इसी तरह राज्य-विस्तार की आकांक्षा से प्रेरित होकर वह रावण के रूप में सारी ब्रह्मसृष्टि को पराधीन बनाने का प्रयास करता है :

ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि धनु धारी।
दसमुख बसबरती नर नारी।।

× × ×

भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र।।

अमरता की तीव्र आकांक्षा से प्रेरित होकर यह भगवान शिव और लोक पितामह ब्रह्मा की आराधना करता है। प्रतापभानु के प्रारम्भिक जीवन में अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह न्याय और धर्म का आश्रय लेता है किन्तु क्रमशः अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह इस मार्ग से दूर होता जाता है। सार्वजनिक रूप से जन-मन में उसने अपनी जो मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी उसे वह धूमिल होने देना नहीं चाहता। लोकदृष्टि में वह स्वयं को एक निष्काम महापुरुष के रूप में प्रदर्शित करना चाहता है, इसीलिए वह यज्ञ के प्रारम्भ में लिए जाने वाले संकल्पों में अपनी कामनाओं को स्वीकार नहीं करता। यज्ञ की समाप्ति पर वह उसके फल को ईश्वरार्पण करता हुआ प्रतीत होता है। इस तरह समाज के समक्ष वह एक ऐसे महापुरुष के रूप में आता है जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का अद्भुत सामंजस्य है। जब मानस में उसे विवेकी, परम सुजान और ज्ञानी की उपाधि दी गई तब उसका तात्पर्य

लोक में प्रचलित धारणा की अभिव्यक्ति मात्र है। यदि उसका नैष्कर्म्य और समर्पण यथार्थ होता तो वह एकान्त क्षणों में कपट-मुनि के समक्ष सर्वथा भिन्न रूप में सामने न आता। इस तरह वह एक ऐसे मिथ्याचारी व्यक्ति के रूप में सामने आता है जो अन्तरंग में अस्वस्थ होते हुए भी बाहर से स्वस्थता का दिखावा करता है। इस सन्दर्भ में मानस में प्रस्तुत किया गया मृगया-प्रसंग तात्त्विक और अनेक संकेत-सूत्रों से भरा हुआ है।

विश्व पर एकछत्र शासन करने वाला यह सम्राट मृगया के लिए विन्ध्याचल के गम्भीर वन की यात्रा करता है। इस मृगया का उद्देश्य क्या था? बहिरंग दृष्टि से वह मृगया के रूप में क्षात्र-धर्म का पालन करता हुआ प्रतीत होता है। यदि यह यथार्थ होता तो इसमें कोई अनौचित्य न था। किन्तु इस यात्रा में उसके निष्काम कर्मयोग की वास्तविकता सामने आ जाती है। वह आखेट करता हुआ वन के अनेक मृगों को मारने में सफलता प्राप्त करता है, किन्तु इस बड़ी सफलता के पश्चात् एक नन्हीं असफलता से वह क्षुब्ध हो जाता है। शूकर के रूप में आये हुए कालकेतु पर वह शरसन्धान करता है। अपने इस लक्ष्यभेद में वह सफल नहीं हुआ और वार-वार वाणों का प्रयोग करता हुआ भी वह कृतकार्य नहीं हो पाया। "हृदय न कछु फल अनुसन्धाना" का प्रदर्शन करने वाला यह राजा यदि वस्तुतः ऐसा होता तो वह इस असफलता से क्रुद्ध न होता। उसे मृग-मांस की कोई अपेक्षा न थी। फिर इस असफलता से विक्षुब्ध होने का वास्तविक कारण था? यहां भी उसकी लोकैषणा के प्रति प्रवल आसक्ति का परिचय प्राप्त होता है। वह जिन लोगों के साथ वन में आया हुआ था उनके मन पर प्रतापभानु के एक महान् योद्धा होने की छाप विद्यमान थी। उन लोगों की दृष्टि में वह एक ऐसा महारथी था जो युद्धक्षेत्र में कभी विफल मनोरथ नहीं हुआ। जिसके वाण सर्वथा अमोघ थे। प्रतापभानु को लगा होगा कि इस विफलता से उसकी वह मूर्ति खंडित होने जा रही है जो योद्धाओं के मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित है। इस प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए ही वह शूकर के पीछे अश्व पर आरूढ़ होकर तीव्र गति से भागता हुआ दिखाई देता है। एक ओर यज्ञ-स्थल में यदि वह मुनि मण्डली के समक्ष स्वयं को निष्काम कर्मयोगी ज्ञानी के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास करता है तो दूसरी ओर योद्धाओं के सामने अतुलनीय वीरता की ख्याति के लिए व्यग्र है। वस्तुतः वह समाज के प्रत्येक वर्ग के समक्ष अपने को सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रतिष्ठापित करने का प्रयास करता है। इसी प्रयास में उसकी दोनों ही मूर्तियां खण्डित हो जाती हैं। जहां शूकर के वध में वह विफल-मनोरथ होता है वहीं इस विफलता से उत्पन्न होने वाली खीझ और क्रोध के कारण उसके निष्काम कर्मयोग की कलई भी खुल जाती है।

वराह-वध के प्रयास में वह अपने समस्त साथियों से दूर चला जाता है। अनगिनत व्यक्तियों को पीछे लेकर चलने वाला प्रतपाभानु स्वयं एक पशु के पीछे भाग रहा था। अनेक योद्धाओं को परास्त करने वाला वह राजा एक पशु से पराजित हो गया। इस तरह वह उस कपट-मुनि के आश्रम में पहुंच जाता है जो वास्तव में

एक ऐसा राजा था जो प्रतापभानु के द्वारा पराजित किया जा चुका था। प्रतापभानु के जीवन में घटित होने वाली घटना उन व्यक्तियों का वास्तविक चित्र उपस्थित कर देती है जो वहिरंग दृष्टि से सफल होने पर भी अपने आन्तरिक जीवन में पूरी तरह पराजित हो जाते हैं।

कपट-मुनि के आश्रम में उसकी समस्त दुर्बलताएं खुलकर सामने आ जाती हैं। प्रारम्भ में वह एक राजनीतिज्ञ की चतुरता का प्रदर्शन करता हुआ कपट-मुनि को अपना वास्तविक परिचय नहीं देता है। वह स्वयं को प्रतापभानु के मंत्री के रूप में प्रस्तुत करता है :

नाम प्रतापभानु अवनीसा।
तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा॥
फिरत अहेरे परेउँ भुलाई।
वड़े भाग देखेउँ पद आई॥

यहां भी स्वयं को दो भिन्न रूपों में प्रदर्शित करता हुआ वह उसी तरह असफल होता है जिस तरह इससे पूर्व प्रसंग में हो चुका था। प्रारम्भ में स्वयं को एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत होता है। राजनीतिज्ञ सर्वदा चौकन्ना रहता है। दूरस्थ व्यक्तियों की वात तो दूर, वह निकट से निकट व्यक्तियों पर भी विश्वास नहीं करता। नाम-गोपन की प्रक्रिया का उद्देश्य भी यही है। किन्तु प्रतापभानु ने भले ही अपना वास्तविक नाम न लिया हो पर अपना परिचय प्रतापभानु के मंत्री के रूप में देकर वह राजनीति की मूल धारणा को ही भुला वैठा। ऐसा लगता है कि 'प्रतापभानु' नाम लेकर वह स्वयं को यह भुलावा देने का प्रयास करता है कि उसने इसके द्वारा सत्य को पूरी तरह विनष्ट नहीं होने दिया। कपट-मुनि से वार्तालाप करता हुआ वह कुछ देर के पश्चात् ही सारी राजनीतिज्ञता भुला वैठता है। कपट-मुनि की वैराग्य भरी वाणी से वह पूरी तरह प्रभावित हो जाता है और तव वह स्वयं को परम श्रद्धालु शिष्य के रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है। क्या उसकी श्रद्धा वास्तविक थी? यदि कपट-मुनि की निष्कामता और वैराग्य भरी वाणी से प्रभावित होकर वह स्वयं भी तपस्या और वैराग्य में आरूढ़ हो जाता तो उसकी श्रद्धा सही रूप ग्रहण कर लेती, पर वह यह सोचकर प्रसन्न होता है कि इस निष्कामता और तपस्या के द्वारा इस महापुरुष को जो सिद्धियां प्राप्त हुई होंगी, उनका उपयोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। वस्तुतः प्रतापभानु और कपट-मुनि के वार्तालाप में दो मिथ्याचारियों के कपट-कलाप का परिचय प्राप्त होता है। प्रतापभानु विनम्रता का प्रदर्शन करता हुआ ऐसे वरदान प्राप्त कर लेने का प्रयास करता है जिनकी पूर्ति वह आज तक असम्भव मानता रहा था :

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥

ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के स्थान पर उपर्युक्त वरदानों की यह याचना ही

प्रतापभानु की उस निष्कामता की कलई खोल देती है जिसका प्रदर्शन वह समाज के समक्ष करता रहता था। कपट-मुनि भी अपनी कृपा का प्रदर्शन करता हुआ उसके समक्ष एक योजना रखता है। इस योजना में प्रतापभानु के पुरोहित का अपहरण करना आवश्यक था। प्रतापभानु अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए इस योजना की स्वीकृति में संकोच का अनुभव नहीं करता। जिन कुलगुरु के माध्यम से वह आज तक पुण्य-सम्पादन करता रहा था, उनके प्रति इस प्रकार के व्यवहार की स्वीकृति देकर उसने अपनी स्वार्थपरता को पूरी तरह प्रकट कर दिया। कपट-मुनि और कालकेतु मिलकर उसे इस स्थिति में पहुंचा देते हैं जिसकी परिणति ब्राह्मणों के शाप में होती है। प्रतापभानु महान् पुण्यात्मा था और निशाचरत्व के रूप में उसकी परिणति वहिरंग दृष्टि से वड़ी अटपटी प्रतीत होती है। ऐसे अवसरों पर व्यक्ति की बुद्धि का विचलित होना स्वाभाविक है। इससे एक प्रकार की निराशा की भावना भी उदित हो जाती है। प्रतापभानु के उपाख्यान को पढ़कर अनेक लोग यह कहते देखे गए हैं कि यदि इतना वड़ा पुण्यात्मा अनजाने में की गई भूल के लिए इतने कठोर दण्ड से दण्डित हो सकता है तो एक साधारण पुण्यात्मा यह कैसे आशा कर सकता है कि धर्म के द्वारा उसकी रक्षा हो सकती है। प्रतापभानु के नगर में निवास करने वाले नागरिकों की प्रतिक्रिया भी कुछ इसी प्रकार की थी। इसके लिए वे दैव को दोष दे रहे थे :

अस कहि सब महिदेव सिधाए।
समाचार पुरलोगन्ह पाए॥
सोचहिं दूषन दैवहिं देहीं।
विचरत हंस काग किय जेहीं॥

वहिरंग दृष्टि से यथार्थ प्रतीत होते हुए भी इस प्रकार की धारणा के पीछे कोरी भावुकता मात्र है। दैव या विधाता जिस न्यायासन पर विद्यमान है, वहां केवल कर्म और न्याय की दृष्टि ही प्रयोग में लायी जाती है। न्याय केवल क्षणिक भावुकता के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसलिए मानस में 'कठिन करम फल' शब्द का प्रयोग किया गया है :

कठिन करम फल जान बिधाता।
जो सुभ असुभ करम फलदाता॥

प्रतापभानु की रावण के रूप में परिणति इसी कर्मफल की कठिनता का परिचायक है। पुण्यात्मा और पापी के भेद का आधार क्या है? जीवन में प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य सुख प्राप्त करना है। अतः एक पुण्यात्मा की भांति वड़ा से बड़ा पापी भी सुख प्राप्त करना चाहे यह सर्वथा स्वाभाविक है। तब दोनों में पार्थक्य कहां है? यहां पुण्यात्माओं को भी दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। एक पुण्यात्मा वे हैं जो विवेक के द्वारा भलीभांति यह जान चुके हैं कि भौतिक ऐश्वर्य और उपलब्धियां वास्तविक सुख का हेतु नहीं वन सकती हैं। अतः वे पुण्य के द्वारा कामनाओं की पूर्ति के स्थान पर निष्कामता और वैराग्य की ओर अभिमुख होना चाहते

हैं। इसीलिए रामचरितमानस में धर्म का फल 'विरति' बताया गया है :

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।।

पर ऐसे पुण्यात्माओं की संख्या सर्वदा कम होती है। दूसरी श्रेणी के पुण्यात्माओं के रूप में अधिकांश व्यक्ति वे हैं जो ऐश्वर्य और भौतिक सुखों की उपलब्धि को ही सुख मानते हैं। उनके पुण्य और सत्कर्म के पीछे भी यही भावना कार्य करती है कि धर्म के द्वारा इन वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकता है। इन पुण्यात्माओं की सुख की इस परिभाषा को पापी कहे जाने वाले व्यक्ति भी ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं। अतः जीवन के साध्य को लेकर दोनों में कोई भेद नहीं है। केवल इस साध्य तक पहुंचने के उपाय में ही भिन्नता होती है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो साधना की पवित्रता-अपवित्रता पर विचार नहीं करते हैं उन्हें ही हम पापी की उपाधि दे देते हैं। देव और दैत्य दर्शन में यहीं पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। वैदिक और पौराणिक मान्यता के अनुसार जीवन में सौ अश्वमेध सम्पन्न करने वाला व्यक्ति इन्द्रपद प्राप्त करता है। और इस प्रकार वह स्वर्ग के भोगों का अधिपति बनकर भोगजन्य सुख का आस्वादन करता है। इसलिए जब कोई व्यक्ति स्वर्ग की उपलब्धि के लिए इस प्रक्रिया का पालन करता है तब उसे महान् पुण्यात्मा की ख्याति प्राप्त होती है। पुण्य की यह प्रक्रिया स्वभावतः बड़ी लम्बी है। इसलिए उपलब्धि की इस प्रक्रिया में महान् धैर्य की आवश्यकता है। इस परम्परा का पालन करने वालों की गणना देववर्ग में की जाती है। दैत्य भी स्वर्ग के भोगों को प्राप्त करना चाहता है। किन्तु वह इस उपलब्धि के लिए इतनी लम्बी प्रतीक्षा करने के लिए प्रस्तुत नहीं है। वह चाहे जैसे स्वर्ग पर अधिकार करने के लिए व्यग्र हो जाता है। इसके लिए वह तप और पुण्य से लेकर छल, बल तक किसी का भी आश्रय लेने में संकोच का अनुभव नहीं करता। दैत्यों में यही मनोवृत्ति दिखाई देती है। इस पृष्ठभूमि में विचार करने पर प्रतापभानु की रावण के रूप में होने वाली परिणति अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होती। प्रारम्भ में अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह पुण्यपथ का आश्रय लेता है। उस समय उसमें दिखायी देने वाली निष्कामता की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है जो भीतर से भूख से व्याकुल होते हुए भी ऊपर से भूखे न होने का दिखावा करता है। और परोसने वाले के पूछने पर नहीं-नहीं करता जाता है। वह यह आशा रखता है कि सामने वाला उसके 'न' कहने पर भी परोसता चला जायेगा। और यदि कहीं परोसने वाला व्यक्ति उसके मिथ्या नकार को स्वीकार कर ले तो ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति का भूखा उठ जाना स्वाभाविक ही है। ऐसा व्यक्ति रात्रि के अन्धकार में भोजनालय में पैठकर चोरी से भूख मिटाने की चेष्टा करेगा। प्रतापभानु की मनःस्थिति ठीक इसी प्रकार की है। यज्ञमण्डप में निष्कामता का प्रदर्शन करने वाला यह व्यक्ति रात्रि के अन्धकार में कपटमुनि के भोजनागार से अपनी कामनाओं की भूख मिटाने की चेष्टा करता है।

अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह औचित्य-अनौचित्य को भुला बैठता है, इस तरह वहिरंग दृष्टि से राक्षस बनने से पहले ही वह अन्तर्मन में दैत्य-दर्शन को स्वीकार कर चुका था। अतः रावण के रूप में उसकी यह परिणति अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। फिर भी उसके सत्कर्म व्यर्थ नहीं जाते। प्रतापभानु के रूप में वह जिन अधूरी आकांक्षाओं को लेकर मृत्यु का ग्रास बना, रावण के रूप में वह उन्हें एक सीमा तक प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

प्रतापभानु के रूप में उसकी चिर-यौवन की कामना रावण के जीवन में साकार हो जाती है। दीर्घायु होने पर भी रावण में वृद्धावस्था का कोई चिह्न नहीं आता। यमराज से युद्ध करता हुआ वह उन्हें भी पराजित करने में सफल हो जाता है। युद्धक्षेत्र में सिर कट जाने पर भी नये सिरों का जन्म उसकी अप्रतिम उपलब्धि का प्रमाण था। प्रतापभानु रावण के रूप में जन्म लेकर प्रकृति और उसके समस्त तत्त्वों पर अधिकार करने में समर्थ हो जाता है। न केवल मनुष्य अपितु देवताओं को भी अपनी इच्छा के अनुकूल नचाता है :

चलत दसानन डोलति अवनी।
गर्जत गर्भ स्रवहिं सुर रवनी॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा।
देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥
दिगपालन्ह के लोक सुहाए।
सूने सकल दसानन पाए॥
पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी।
देइ देवतन्ह गारि पचारी॥
रन मद मत्त फिरइ जग धावा।
प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥
रबि ससि पवन बरुन धनधारी।
अगिनि काल जम सब अधिकारी॥
किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा।
हठि सबही के पंथहि लागा॥
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी।
दसमुख बसबरती नर नारी॥
आयसु करहिं सकल भयभीता।
नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥
भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करइ निज मंत्र॥

इस तरह उसके द्वारा किए जाने वाले सत्कर्मों के प्रति न्याय किया गया। पर उसके अन्तःकरण में जिस आसुरी वृत्ति का उदय हुआ था वह रावण के रूप में पूरी तरह प्रतिफलित हो गई।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतापभानु के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं की प्रतिक्रिया रावण के चरित्र में दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मणों के द्वारा शापित होने पर भी प्रतापभानु में अन्तर्मुखता का उदय नहीं होता है। उसे अपनी त्रुटियां नहीं दिखाई देतीं। उसे ऐसा लगता है कि उसके सारे सत्कर्मों की उपेक्षा कर दी गई और अनजाने में होने वाली भूल के लिए इतना क्रूर दण्ड दिया गया। इसलिए उसकी धर्म और सन्मार्ग के प्रति आस्था पूरी तरह मिट जाती है। कालकेतु और कपट-मुनि की सफलता से उसे ऐसा लगता है कि यदि इतने सत्कर्म के बाद भी मैं पराजित और विनष्ट होने जा रहा हूं तो इसका तात्पर्य यही है कि पुण्य और सत्कर्म सर्वथा व्यर्थ हैं। कपट और राक्षसत्व ही सफलता के मूल मन्त्र हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रिया से प्रेरित प्रतापभानु रावण के रूप में जन्म लेता है। यज्ञ और सत्कर्म के प्रति उसका विद्वेष इसी प्रतिक्रिया का परिचायक है। वह वस्तुतः उन सभी प्रवृत्तियों और व्यक्तियों से बदला लेना चाहता था जो उसकी दृष्टि में उसके प्रति होने वाले अन्याय के हेतु थे। वह भगवत्कथा और पुराणों का विरोध करता था, क्योंकि उसे लगता था कि इन कथाओं में जो कुछ कहा गया है वह पूरी तरह मिथ्या है। यदि 'यतो धर्मस्ततो जयः' का सिद्धान्त यथार्थ होता तो मुझे कालकेतु और कपट-मुनि के समक्ष पराजित न होना पड़ता। अतः कथा-पुराण कहने वालों को इस मिथ्यालाप के लिए दण्डित किया जाना चाहिए। रावण के द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का जो वर्णन किया गया है उसे केवल उसके पागलपन के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। देवताओं के प्रति उसका विद्वेष भी इसी कारण है। उसे लगा कि विविध यज्ञों द्वारा मैंने जिन देवताओं का यजन किया था उन्होंने संकट के समय मेरी कोई सहायता नहीं की। अतः रावण के रूप में वह उन्हें भूखे रखने का प्रयास करता है। इतना ही नहीं वह कपट-मुनि और कालकेतु की सफलताओं से प्रभावित होकर स्वयं भी जीवन में उन जैसा ही बनने का प्रयास करता है। कपट-मुनि ने उसे जिस तरह भुलावे में डालने में सफलता प्राप्त की थी, श्री सीता जी को छलने के लिए वह स्वयं भी उसी वेश का आश्रय लेता है। श्री राम को पराजित करने के लिए वह सीधे युद्ध का आश्रय नहीं लेता, इसके पीछे भी उसका यही पूर्वानुभव कार्य कर रहा था। प्रतापभानु के रूप में उसने सीधे युद्ध में लोगों को पराजित करने का प्रयास किया था। उन पराजित राजाओं में से ही एक राजा कपट-मुनि ने केवल कालकेतु का आश्रय लेकर उसे पूरी तरह पराजित एवं विनष्ट करने में सफलता प्राप्त की थी। अतः वह भी केवल मारीच का आश्रय लेकर राम को पराजित करने का प्रयास करता है। कालकेतु की भूमिका वह मारीच को सौंपता है। शूकर के पीछे भागता हुआ जिस तरह वह परिजनों से दूर चला जाता है उसी प्रकार मृग का आश्रय लेकर वह राम को सीता से दूर करने का प्रयास करता है। श्री राम को मृग के पीछे भागते देखकर उसे पूरी तरह विश्वास हो गया कि इतिहास पुनः अपने को दोहरा रहा है। इस तरह रावण का समस्त चरित्र उन प्रतिक्रियाओं से संचालित होता है जो प्रतापभानु के रूप में उसके जीवन में संचित हो चुकी थीं।

पूर्वजन्म के संचित संस्कारों के साथ वह महर्षि पुलस्त्य के पवित्र कुल में जन्म लेता है। यदि विश्रवा मुनि उसके पिता थे तो एक राक्षस जातीय महिला के गर्भ से जन्म लेकर वह अद्भुत मिश्रण के रूप में सामने आता है। मुनि के द्वारा जन्म लेने पर यह कल्पना की जा सकती थी कि इससे उसकी आसुरी वृत्तियों का उपशमन होगा, किन्तु हुआ इसका ठीक उल्टा ही। उसके जीवन में शास्त्रज्ञान के द्वारा शस्त्र-नियन्त्रण नहीं हुआ अपितु इसके स्थान पर शस्त्र और शास्त्र के ज्ञान ने उसके अभिमान को द्विगुणित कर दिया। तत्कालीन वर्ण व्यवस्था के अनुसार शस्त्र और शास्त्र अलग-अलग वर्णों के लिए विभाजित थे। यदि एक ओर विश्व में शास्त्र के महान् पण्डित मुनि थे जो दूसरी ओर शस्त्रविद् क्षत्रिय योद्धा थे। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि क्षत्रिय राजा शास्त्रविद् नहीं थे या मुनियों में शस्त्रविद्या के ज्ञान का अभाव था। पर इनमें से अधिकांश अपने-अपने स्वधर्म का पालन करते हुए केवल शस्त्र अथवा शास्त्र का ही उपयोग करते थे। किन्तु रावण के समक्ष कोई बाध्यता न थी। शस्त्र और शास्त्र का मनमाना उपयोग करता हुआ वह स्वयं को विश्व का अप्रतिम व्यक्ति मान बैठता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि विशिष्टताओं की सारी कसौटी पर एकमात्र वही ऐसा व्यक्ति है जो खरा उतरता है।

जीवन के प्रारम्भिक भाग में वह एक महान् तपस्वी के रूप में आचरण करता हुआ दिखाई देता है। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे तपस्या के द्वारा वह पुलस्त्य-कुल में जन्म लेने को सार्थकता प्रदान कर रहा है किन्तु बाह्य जीवन में अहिंसा व्रत का पालन करता हुआ भी अन्तर्मन में हिंसा-वृत्ति को पुष्ट कर रहा था। इसीलिए वह अपनी तपस्या के द्वारा ब्रह्मा और शंकर को वर देने के लिए बाध्य करता हुआ जिस वर की याचना करता है उसमें उसकी यही हिंसा-वृत्ति मुखर हो उठती है। उसके द्वारा मांगा जानेवाला वरदान उसकी हिंसक और अभिमान भरी वृत्ति का परिचायक है। जब वह यह वरदान मांगता है कि 'हम काहू के मरहिं न मारें' तो इसमें उसके भविष्य की युद्ध योजना का पूर्वाभास सामने आ जाता है। वह चाहता है कि उसके द्वारा युद्धक्षेत्र में भले ही दूसरों का वध किया जा सके पर दूसरा कोई उसे मारने में समर्थ न हो। इस वरदान के साथ जोड़ा गया अगला वाक्य उसकी अभिमानी प्रकृति का वास्तविक चित्र उपस्थित कर देता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मैं वरदान के पूर्वार्ध के द्वारा ही विजय प्राप्त करूंगा तो इसका सारा श्रेय ब्रह्मा और शंकर को प्राप्त होगा। इसलिए 'बानर मनुज जाति दुइ बारें' कहकर उसने अपने व्यक्तिगत गौरव को सुरक्षित करने की चेष्टा की। इस तरह विनम्रता के क्षणों में भी उसका अहंकार खुलकर सामने आ जाता है। मनोवृत्तियों का यही विरोध उसके जीवन में पग-पग पर परिलक्षित होता है।

वह समस्त शास्त्रों का महान् पण्डित था इसलिए वह स्वयं को विश्व का सबसे बड़ा ज्ञानी समझता था। परन्तु उसके चरित्र में ज्ञान का वह चरम फल, जिसमें अभिमान मिटकर सर्वत्र ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, कहीं नहीं दिखाई देता है :

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं॥

वह स्वयं को ब्रह्म और ईश्वर मानकर दूसरों को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखता हुआ अभिमान के शिखर पर आरूढ़ हो जाता है। वह भगवान शंकर का गुरु के रूप में वरण करता है और अपने सिर काटकर उन्हें अर्पित कर देता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि उससे बढ़कर पुजारी और समर्पणकर्त्ता विश्व के इतिहास में दूसरा उत्पन्न ही नहीं हुआ। परन्तु वास्तविक समर्पण का उसके जीवन में कोई अर्थ न था। उसका समर्पण उस चतुर व्यापारी की भांति था जो धन देते समय बड़ा उदार प्रतीत होता है पर जो ब्याज सहित मूलधन को पाने के लिए ही इस उदारता का प्रदर्शन करता है। उसकी धारणा यह थी कि सिर काट कर चढ़ा देने पर पुनः उसे नये सिर तो प्राप्त हो ही जाएंगे, साथ ही उसकी पूजा से प्रसन्न होकर शिव कोई वरदान अवश्य देंगे। और जब उसे यह वरदान प्राप्त होता है कि उसके सिर कटने पर भी उसे नवीन सिर प्राप्त होते रहेंगे तब उसे चक्रवृद्धि ब्याज पाने वाले व्यापारी की भांति प्रसन्नता हुई होगी। पर इससे उसके अन्तर्जीवन में उत्थान के स्थान पर पतन ही हुआ। व्यक्ति में जीवन के साथ मृत्यु का भय जुड़ा हुआ है और यह भय उसे सजग रहने की प्रेरणा भी प्रदान कर सकता है। किन्तु रावण के जीवन में इस वरदान से जिस निर्भयता का उदय हुआ, उससे वह पूरी तरह निरंकुश हो जाता है। स्वयं को मृत्यु के भय से मुक्त मानकर वह दूसरों को मृत्यु का ग्रास बनाने का प्रयास करता है :

दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी।
बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी॥

इतना ही नहीं वह शिव का गुरु रूप में वरण करने के पश्चात् स्वयं उनके ही गुरुत्व को विनष्ट करने पर तुल जाता है। कैलाश पर्वत को उठा लेने का कार्य उसकी इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। किसी को सिर पर धारण करना अत्यन्त समादर का चिह्न माना जाता है; किन्तु रावण इसके द्वारा अपने पुरुषार्थ की गुरुता सिद्ध करने का प्रयास करता है :

कौतुक ही कैलास पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहु बल चला बहुत सुख पाइ॥

पुरुषार्थ-सम्पन्न यह महान योद्धा अपनी सारी शक्तियों का उपयोग मुख्य रूप से दो दिशाओं में ही करता है। प्रतिहिंसा और वासना उसके जीवन की प्रेरणा के सूत्र थे। समस्त देवता और उनकी आराधना करने वालों को अपना परम शत्रु मानकर उन्हें निरंतर पीड़ित करते रहने में उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इसी की पूर्ति के लिए वह यज्ञों को विनष्ट करने का आदेश देता है। उसे यह ज्ञात था कि देवताओं को विनष्ट करना सम्भव नहीं है। इसलिए वह उन्हें संत्रस्त और आतंकित रखकर स्वयं के अहं की तृप्ति करना चाहता है। वह कल्पना करता है कि यज्ञों के विनष्ट कर दिये जाने पर क्षुधा से पीड़ित देवता उसके समक्ष गिड़-

गिड़ाने के लिए बाध्य होंगे। उस दयनीय स्थिति में उनसे मनमाना व्यवहार करने के लिए वह स्वतन्त्र होगा। वह अपने सेनापतियों को इस योजना को क्रियान्वित करने का आदेश देता है। यद्यपि देवता उससे संघर्ष बचाने की चेष्टा करते हैं किन्तु वह इतने से ही संतुष्ट होने वाला नहीं था। इसलिए वह अपने सेनापतियों के समक्ष अपने उद्देश्य को इन शब्दों में प्रकट करता है :

सेन बिलोकि सहज अभिमानी।
बोला बचन क्रोध मद सानी।।
सुनहु सकल रजनीचर जूथा।
हमरे बैरी बिबुध बरूथा।।
ते सनमुख नहिं करहिं लराई।
देखि सबल रिपु जाहिं पराई।।
तिन्ह कर मरन एक बिधि होई।
कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई।।
द्विज भोजन मख होम सराधा।
सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा।।
छुधा छीन बलहीन सुर सहजेहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहउँ कि छाँड़िहउँ भली भाँति अपनाइ।।

परोत्पीड़न की प्रेरणा से प्रेरित उसका यह अभियान केवल उसकी हिंस्र वृत्ति को ही प्रकट करता है। हिंसा उसके लिए वाध्यता न होकर आत्मतुष्टि का साधन थी। इसलिए गोस्वामी जी को यह लिखना पड़ता है कि जिस व्यक्ति के जीवन में हिंसा के प्रति इतनी अधिक आसक्ति हो उसके पापों की गणना करना सम्भव नहीं है :

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापनि कवन मिति।।

यद्यपि उपर्युक्त पंक्तियां सारी राक्षस जाति के सन्दर्भ में लिखी गई हैं, किन्तु इस जीवनदर्शन का मुख्य प्रणेता रावण ही था। हिंसा के साथ उसके जीवन की दूसरी मुख्य प्रेरक प्रवृत्ति भोग की असीम आकांक्षा थी। वासना की पूर्ति में संयम अथवा नियन्त्रण की कोई मर्यादा उसे स्वीकार न थी। इसलिए वह जीवन के प्रारम्भिक भाग से लेकर अन्तिम क्षणों तक भोग-चिन्तन में तल्लीन रहा। अपनी असीम कामवासना की तृप्ति के लिए वह अगणित सुन्दरियों से विवाह करता है। इन्हें प्राप्त करने के लिए वह किसी भी पद्धति का आश्रय लेने में संकोच नहीं करता :

देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि।।

किन्तु बाहुबल के द्वारा सुन्दरता पर अधिकार करने की उसकी मनोवृत्ति रसज्ञता का परिचायक नहीं है। इस तरह वह वासना और अहंकार की तृप्ति को पर्यायवाची बनाने का प्रयास करता है। रावण की बहन शूर्पणखा उसके इस स्वभाव से भली भांति परिचित थी। इसीलिए लक्ष्मण के द्वारा विरूपीकरण के

पश्चात् विफल मनोरथ शूर्पणखा रावण की अहंकार और वासनामिश्रित प्रवृत्ति को उकसाने की चेष्टा करती है। सीताजी का अपहरण इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। किन्तु इस प्रयास में उसकी वासना और अहंकार दोनों को आहत होना पड़ा। सीता जी के अपहरण के लिए वह निम्नतम धरातल पर उतर आता है; किन्तु इस घटना के पश्चात् उसे पूरी तरह निराश होना पड़ा। वह अपने समस्त ऐश्वर्य और पुरुषार्थ को भगवती सीता की तेजस्विता के समक्ष पराहत पाता है। कई समालोचक सीता को अशोक-वाटिका में बन्दिनी बनाए जाने के कार्य को रावण की उदारता के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। इससे वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वह वैदेही को प्राप्त करने के लिए शिष्ट पद्धति का आश्रय लेता है। वह बलपूर्वक उन पर अधिकार नहीं करना चाहता। रावण के इतिहास से परिचित कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के तर्कों की निरर्थकता को समझ सकता है। वाल्मीकि रामायण में ऐसे प्रसंग आते हैं जब वह वासना की पूर्ति के लिए बलात्कार के मार्ग का भी प्रयोग करने में संकुचित नहीं होता। इसी प्रसंग में इस प्रकार के शाप का भी उल्लेख किया गया है जिसमें उसे आगे चलकर बलात्कार का प्रयास करने पर मृत्यु का ग्रास बनने के लिए कहा गया था। अतः वैदेही-प्रसंग में मृत्यु का भय भी उसे असद्व्यवहार से विरत रखता है। पर इसके साथ एक मनोवैज्ञानिक कारण भी विद्यमान था। वह रामभद्र से पूरी तरह बदला लेने के लिए व्यग्र था। उसे यह ज्ञात हो चुका था कि उसकी भगिनी ने राघवेन्द्र से विवाह का प्रस्ताव किया था। इस अस्वीकृति के अपमान का बदला भी तभी लिया जा सकता था जब मैथिली उसका स्वेच्छा से वरण करें। उसकी यही धारणा उन्हें अशोक-वाटिका में बन्दिनी बनाने की प्रेरणा देती है। इसमें रावण के औदार्य को ढूँढ़ना उसके चरित्र और मनोभूमि को भुला देने का प्रयास मात्र है। किन्तु जिन दिनों लंका में जीवन-मरण का महान् युद्ध छिड़ा हुआ था, उन दिनों भी उसके अन्तर्मन में निरन्तर मैथिली के सौन्दर्य का ही चिन्तन होता रहता था। लंकाकाण्ड के त्रिजटा-मैथिली सम्वाद में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है :

प्रभु ताते उर हतइ न तेही।
एहि के हृदय बसत बैदेही॥

इसमें जिस दार्शनिक पक्ष की ओर संकेत किया गया है वह तो महत्त्वपूर्ण है ही पर इससे रावण की मनोवृत्ति का वास्तविक परिचय भी प्राप्त हो जाता है। विदेहजा के प्रति उसकी प्रबल आसक्ति ही उसके विनाश का कारण बनती है। अनेक व्यक्तियों के द्वारा मैथिली को लौटाने का प्रस्ताव उसके समक्ष रखा गया। इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करना तो दूर उनके शब्द भी उसके लिए असह्य थे। इसलिए इस प्रकार के प्रस्ताव रखने वालों को अपमानित करने में भी वह किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता है। उसके चरित्र में एक ऐसे उद्धत अभिमानी का चित्र सामने आता है, जो स्वयं को विश्व का सबसे बुद्धिमान व्यक्ति समझता है। यद्यपि वह कभी-कभी दूसरों से सम्मति मांगता हुआ दिखाई देता है

पर उस समय भी वह केवल अपने मत का समर्थन मात्र ही चाहता है। मित्र और शत्रु पक्ष में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था कि जिसकी सम्मति को वह सद्भाव से स्वीकार कर सका हो।

इसलिए वह मारीच की सम्मति के प्रति जिस शब्दावली का प्रयोग करता है, हनुमान जी का उपहास करते हुए ठीक वैसे ही वाक्यों को दोहरा देता है।

मारीच :— गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।
कहु सठ मोहि समान को जोधा।।

× × ×

हनुमान जी :— बोला बिहँसि महा अभिमानी।
मिला हमहि कपि गुरु बड़ ग्यानी।।

साधारणतया कामी व्यक्ति के चरित्र में अभिमान का अभाव होता है। 'कामिन्ह कै दीनता दिखाई' में इसी मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत किया गया है। अतः कामी आवेश में कितनी भी अन्धता का परिचय क्यों न दे वाद में उसमें पश्चात्ताप का उदय देखा जाता है। इससे उसके जीवन में त्रुटियों के परि-मार्जन की सम्भावना वनी रहती है। किन्तु काम के साथ जव अहंकार भी सम्मि-लत हो जाय तव कल्याण की आशा नहीं की जा सकती, दुर्भाग्यवश रावण के जीवन में दोनों दुर्गुण इतनी अधिक मात्रा में विद्यमान थे कि यह कहना कठिन है कि इनमें से किसका आधिक्य है।

महाप्रतापी रावण को भी अपने जीवन में कई वार विफलताओं का सामना करना पड़ा। वह अपने विजय अभियान में कुछ लोगों से पराजित भी हुआ। यदि इन विफलताओं से प्रेरणा लेकर वह अपने अभिमान पर अंकुश रखना सीख लेता ता वह इतनी वड़ी भूलें न करता जो उसके विनाश का कारण वनीं। मानस में उसकी विफलताओं का केवल सांकेतिक वर्णन किया गया है। हनुमान और अंगद के द्वारा उसे इन पराजयों की स्मृति दिलाई गई। माहिष्मति के स्वामी कार्तवीर्य सहस्रार्जुन ने उसे सरलता से वन्दी वनाने में सफलता प्राप्त की। इसी तरह वालि के द्वारा भी वह वुरी तरह पराजित किया गया :

हनुमान जी :— जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई।
सहसबाहु सन परी लराई।।
समर बालि सन करि जसु पावा।
सुनि कपि बचन बिहँसि बिहरावा।।

× × ×

अंगद जी :— एक बहोरि सहसभुज देखा।
धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा।।
एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँखि।
तिन्ह महँ रावन तैं कवन सत्य बदहु तजि माखि।।

इन घटनाओं की स्मृति दिलाने का उद्देश्य रावण का उपहास करना मात्र

नहीं था। वस्तुतः इसका तात्पर्य उसे यह बताना था कि वह सर्वशक्तिमान नहीं है, इसलिए उसे जीवन की वास्तविकता से भागना नहीं चाहिए। किन्तु रावण पर इस प्रकार की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि उसकी विपरीत बौद्धिकता उसके आड़े आती है। वह यह मानकर आत्मतुष्ट हो जाता है कि भले ही वह किसी क्षण में शारीरिक बल की दृष्टि से पराजित हुआ हो पर अपनी राजनैतिक बुद्धिमत्ता से ऐसे कुशल योद्धाओं से भी उसने मैत्री-सन्धि करने में सफलता प्राप्त की। इस तरह वह अपनी पराजयों को भी राजनैतिक विजय का रंग दे देता है।

अपने जीवन के पूर्वार्ध में उसने अनेक बड़ी सफलताएं प्राप्त कीं, किन्तु जीवन के अन्तिम युद्ध में वह तरह बुरी पराजित हुआ। उसकी यह पराजय केवल सैनिक पराजय मात्र न थी। अपितु राघवेन्द्र से युद्ध करता हुआ वह संघर्ष के प्रत्येक क्षेत्र में विफल होता है। जीवन के पूर्वार्ध की लड़ाइयों में वह सर्वथा आक्रामक योद्धा के रूप में सामने आया। उसके सारे युद्ध लंका से बाहर लड़े गए, किन्तु भगवान राम के विरुद्ध वह रक्षात्मक युद्ध की रणनीति अपनाता है। लगता है कि प्रारम्भिक सफलताओं ने उसे इतना आत्मतुष्ट बना दिया था कि वह लंका दुर्ग को अजेय मान बैठा था। वह यह समझ बैठा था कि किसी भी मनुष्य का उसकी इच्छा के विरुद्ध लंका के दुर्ग में प्रवेश करना असम्भव है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लंका दुर्ग की भौगोलिक स्थिति ऐसी अद्‌भुत थी कि वह समुद्र से घिरा होने के कारण अगम्य ही प्रतीत होता था। जीवन के पूर्वार्ध में जहां रावण ने लंका की अग्रिम चौकियों के रूप में दण्डकारण्य का चुनाव करके अपनी आक्रमणात्मक नीति का परिचय दिया था, वहां उत्तरार्ध में राघवेन्द्र के द्वारा इन चौकियों के संरक्षक के रूप में नियुक्त सेना सहित खर-दूषण के विनष्ट कर दिए जाने पर भी रावण पुनः इन चौकियों पर अधिकार पाने का कोई प्रयास नहीं करता है। एक समय ऐसा भी था कि जब रावण मारीच और सुबाहु जैसे अपने दुर्धर्ष सेनापतियों के द्वारा भारत के सुदूर उत्तर-पूर्व तक अपने अभियान को चला रहा था। किशोरावस्था में महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ का संरक्षण करते हुए भगवान श्री राम ने इन्हें पूरी तरह पराजित कर दिया। रावण इस पराजय के घूंट को चुपचाप पी लेता है और सिमट कर अपनी गतिविधियों को दक्षिण भारत तक सीमित कर देता है। दण्डकारण्य में अपने बन्धुओं के विनष्ट कर दिए जाने पर भी वह पुनः पलायन की उसी नीति का पालन करता हुआ लंका में ही सिमट जाता है। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक जीवन में वह जिस उत्साह और स्फूर्ति से भरा हुआ था, अपनी भोग परायणता के कारण उससे क्रमशः दूर होता चला गया। शूर्पणखा द्वारा रावण पर किया जाने वाला आक्षेप केवल आक्रोश मात्र न था। क्रोध में ही सही, शूर्पणखा ने इस तथ्य को रावण की भरी सभा में उजागर कर दिया :

करसि पान सोवसि दिन राती।
सुधि नहिं तव सिर पर आराती ॥

वैदेही के हरण के पश्चात् उसका प्रमाद आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। एक

चौकन्ने राजनीतिज्ञ की भांति वह यह पता लगाने की कोई चेष्टा नहीं करता कि सीताहरण के पश्चात् राम की गतिविधियां क्या हैं ? यहां तक कि उसे वालि वध और सुग्रीव से श्री राम की मित्रता तक का पता नहीं चला। लगता है जैसे उसकी सारी गुप्तचर व्यवस्था ही समाप्त हो चुकी थी। यह सब उसकी आत्मतुष्टि से उत्पन्न होने वाले प्रमाद के प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

विभीषण से प्रति किया जाने वाला दुर्व्यवहार उसकी अमर्यादित प्रवृत्ति का परिचायक तो है ही पर बाद में उसके कार्यों से राजनैतिक सजगता का भी परिचय प्राप्त नहीं होता है। सद्भाव से दी गई विभीषण की सम्मति को स्वीकार कर लेना उसके अपने ही हित में था। पर सभा में उन्हें अपमानित करने के बाद लंका से निकल जाने का आदेश देना राजनैतिक मूर्खता का सबसे बड़ा प्रमाण था। कोई भी सजग राजनीतिज्ञ ऐसी स्थिति में विभीषण को वन्दी बना लेने का आदेश देता। मृत्यु-दंड न सही, वे कारागार में तो डाले ही जा सकते थे। पर वह विभीषण की छाती में चरण-प्रहार करता हुआ राम से मिल जाने की चुनौती देता है :

> सुनत दसानन उठा रिसाई।
> खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥
> जिअसि सदा सठ मोर जिआवा।
> रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
> कहसि न खल अस को जग माहीं।
> भुज बल जाहि जिता मैं नाहीं॥
> मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।
> सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥
> अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा।
> अनुज गहे पद बारहिं बारा॥

उपर्युक्त सारा प्रसंग उसकी असहिष्णुता और अहंकार का सबसे बड़ा दृष्टान्त है। उसकी यह धारणा थी कि विभीषण के निकल जाने पर भी उसकी रंचमात्र कोई हानि न होगी। इस तरह वह प्रीति अथवा नीति किसी भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। लंका के सारे भेदों को जानने वाले विभीषण को बलपूर्वक लंका से निष्कासित कर देने के पश्चात् वह विभीषण के प्रति किए जाने वाले रामभद्र के व्यवहार का पता लगाने के लिए गुप्तचरों को भेजने का उपहासास्पद प्रयास करता है। साथ ही वह इन गुप्तचरों को यह भी आदेश देता है कि उन्हें राम की सेना के रहस्यों का पता लगाकर लौटना है। इन दोनों गुप्तचरों के लौट कर आने के बाद वह और भी राजनैतिक असावधानी का परिचय देता है। राजा एकान्त कक्ष में गुप्तचरों से समाचार प्राप्त करते हैं और इसके बाद वे निर्णय करते हैं कि प्राप्त सूचनाओं का उपयोग किस रूप में किया जाना चाहिए। राजनीति का सर्वस्व मानस की भाषा में आत्मगोपन है। श्री भरत के द्वारा प्रश्न किए जाने पर भगवान राम ने एक ही वाक्य में राजनीति का यह सार प्रस्तुत किया था :

राजनीति सरबस एतनोई।
जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥

रावण राजनीति के इस महान् सिद्धान्त का उल्लंघन करता हुआ शुक और सारण नाम के गुप्तचरों से भरी सभा में प्रश्न पूछता है। उसके प्रश्नों में अहंकार, उपहास और व्यंग्य का पुट था। वह एक साथ राम, विभीषण और वन्दरों का तो उपहास करता ही है, भरी सभा में अपने ही गुप्तचरों पर आक्षेप करने में भी संकोच का अनुभव नहीं करता। शुक और सारण को सांत्वना देने के स्थान पर उनसे कुशल प्रश्न भी व्यंग्य भरी भाषा में ही करता है :

बिहँसि दसानन पूछी बाता।
कहसि न सुक आपनि कुसलाता॥
पुनि कहु खबर विभीषन केरी।
जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥
करत राज लंका सठ त्यागी।
होइहि जब कर कीट अभागी॥
पुनि कहु भालु कीस कटकाई।
कठिन काल प्रेरित चलि आई॥
जिन्ह के जीवन कर रखवारा।
भयउ मृदुल चित सिंधु बिचारा॥
कहु तपसिन्ह कै बात वहोरी।
जिन्ह के हृदयँ त्रास अति मोरी॥
की भइ भेंट कि फिर गए श्रवन सुजसु सुनि मोर।
कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर॥

इसका दुष्परिणाम भी सामने आया, एक ओर दोनों गुप्तचर, जो पहले ही श्री राम के शील और शौर्य से प्रभावित होकर लौटे थे, रावण के व्यवहार से और भी उत्तेजित हो गये। इसीलिए उन्होंने सूचनाओं को इस रूप में प्रस्तुत किया जिससे रावण की सारी सभा आतंकित हो उठी। उस स्थिति की कल्पना की जा सकती है कि जव उनके द्वारा यह सूचना दी गई कि नगर जलाने वाला वन्दर सुग्रीव की सेना में सबसे कम क्षमता रखने वाला है। वे सबके सामने विभीषण के प्रति राम के द्वारा किये जाने वाले सद्व्यवहार की भी सराहना करते हैं, और उनके द्वारा रामानुज लक्ष्मण ने जो पत्र भेजा था उसे रावण के हाथ में देकर भरी सभा में पढ़वाने की चुनौती देते हैं :

नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसें।
मानहु कहा क्रोध तजि तैसें॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा।
जातहि राम तिलक तेहि सारा॥

रावन दूत हमहिं सुन काना।
कपिन्ह बाँधि दीन्हें दुख नाना।।
श्रवन नासिका काटैं लागे।
राम सपथ दीन्हें हम त्यागे।।
पूँछिहु नाथ राम कटकाई।
बदन कोटि सत बरनि न जाई।।
नाना बरन भालु कपि धारी।
बिकटानन बिसाल भयकारी।।
जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा।
सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा।।
अमित नाम भट कठिन कराला।
अमित नाग बल बिपुल बिसाला।।
द्विविद मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि।
दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि।।
ए कपि सब सुग्रीव समाना।
इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना।।
राम कृपाँ अतुलित बल तिन्हहीं।
तृन समान त्रैलोकहि गनहीं।।
अस मैं सुना श्रवन दसकंधर।
पदुम अठारह जूथप बंदर।।
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं।
जो न तुम्हहि जीतै रन माहीं।।
परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।
आयसु पै न देहिं रघुनाथा।।
सोषहिं सिंधु सहित झष ब्याला।
पूरहिं नत भरि कुधर बिसाला।।
मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा।
ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा।।
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका।
मानहुँ ग्रसन चहत हहिं लंका।।
सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम।।
राम तेज बलि बुधि बिपुलाई।
सेष सहस सत सकहिं न गाई।।
सक सर एक सोषि सत सागर।
तव भ्रातहि पूँछेउ नय नागर।।

तासु बचन सुनि सागर पाहीं।
माँगत पंथ कृपा मन माहीं॥
सुनत वचन बिहँसा दससीसा।
जौं अस मति सहाय कृत कीसा॥
सहज भीरु कर वचन दृढ़ाई।
सागर सन ठानी मचलाई॥
मूढ़ मृषा का करसि वड़ाई।
रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥
सचिव सभीत विभीषन जाकें।
विजय विभूति कहाँ जग ताकें॥
सुनि खल बचन दूत रिस बाढ़ी।
समय बिचारि पत्रिका काढ़ी॥
रामानुज दीन्हीं यह पाती।
नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती॥

इस तरह शुक-सारण के द्वारा जो सूचनाएं दी जाती हैं उनसे उस उद्देश्य का हनन होता है, जिसके लिए गुप्तचर भेजे जाते हैं गुप्तचर-व्यवस्था का मुख्य तात्पर्य बल और उसकी दुर्वलताओं के विषय में सही ज्ञान प्राप्त हो सके और इन सूचनाओं यह है कि शत्रु के के आधार पर अपनी व्यूह-रचना के साथ अपने नागरिकों के मनो-वल को वढ़ावा दिया जा सके। किन्तु यहां गुप्तचरों के द्वारा प्राप्त सूचना तथ्य की दृष्टि से तो असंगत थी ही उससे लंका में अभूतपूर्व आतंक की भी सृष्टि हो गई। हनुमान के द्वारा लंका जलाए जाने के पश्चात् से ही सारी लंका के लोग आतंक की स्थिति में जी रहे थे। इस सूचना ने कि 'लंका जलाने वाला वन्दर सवसे दुर्वल है' जिस भय की सृष्टि की होगी उसकी कल्पना करना भी कठिन है। और यह सव हुआ था रावण के अपने ही अविवेक के कारण। एकान्त कक्ष में सारे समाचार सुनकर वह इन सारी समस्याओं से मुक्ति पा सकता था।

शुक और सारण के द्वारा यह समाचार प्राप्त होने पर भी कि राम समुद्र पार करने की योजना वना रहे हैं वह निश्चिन्त मन से वैठ जाता है। उसने केवल इतनी-सी सूचना पर ध्यान दिया कि राघवेन्द्र अनशन करते हुए समुद्र से मार्ग की याचना कर रहे हैं। वस इतने मात्र से ही उसने यह निर्णय कर लिया कि राम में पौरुष और नीतिज्ञता दोनों का अभाव है :

सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई।
सागर सन ठानी मचलाई॥
मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।
रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥
सचिव सभीत विभीषन जाकें।
विजय विभूति कहाँ जग ताकें॥

वह स्वयं को राजनीति का एक महान् तैराक मानता था। तैराकी के इस अहं-कार में ही वह नीति-सागर राम का पार पाने का प्रयास करता है और इसी असम्भव प्रयास में वह डूब जाता है। प्रारम्भ से लेकर प्रत्येक प्रसंग में राघवेन्द्र की नीति का समन्वय दर्शनीय है। वे एक महान् एवं आदर्श जीवन-दर्शन को राजनीति के माध्यम से साकार करने में सफल होते हैं। भगवान् राम को रणनीति की समझ पाने में रावण प्रारंभ से विफल रहा। भागवान् राम अपनी रण-योजना को कई चरणों में क्रियान्वित करते हैं। उनके चरित्र में संघर्ष का श्रीगणेश परम्परागत प्रणाली से सर्वथा हटकर था।

उनके अभियान का प्रारम्भ धन और धरती की आकांक्षा से नहीं होता है। वे महर्षि विश्वामित्र की यज्ञरक्षा के लिए धनुर्धर के रूप में आगे बढ़ते हैं। इस अभि-यान में वे अयोध्या की सेना का उपयोग नहीं करते। वे महर्षि विश्वामित्र के शिष्य के रूप में केवल लक्ष्मण को साथ लेकर महर्षि के साथ चल पड़ते हैं। इस तरह वे युद्ध को भी दीक्षा, सेवा और गुरु-दक्षिणा का रूप दे देते हैं। वे अभियान के प्रथम चरण में ही मारीच और सुबाहु के रूप में रावण की उत्तर और पूर्व भारत में घुसपैठ को समाप्त करने में सफल होते हैं।

उनके अभियान का द्वितीय चरण वनगमन के रूप में प्रारम्भ होता है। अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठकर भी वे रावण के विरुद्ध संघर्ष कर सकते थे, पर इस प्रकार का युद्ध केवल दो राजकुलों के संघर्ष के रूप में दिखाई देता। जहां वे छोटे भाई के लिये राज्य छोड़कर त्याग का महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं, वहीं रावण के विरुद्ध अपने संघर्ष को व्यापक रूप देने के लिए वे स्वयं को मुनिमण्डली से ही नहीं अपितु कोल-किरातों से भी एकाकार कर लेते हैं विशेष रूप से वे समाज के निम्न कहे जाने वाले वर्ग में अद्भुत आत्मविश्वास उत्पन्न करने में सफल होते हैं। जिसकी एक झलक उस समय दिखाई देती है जब एक छोटे से गांव के चौधरी निषाद ने अयोध्यापति भरत को चुनौती देने का संकल्प किया। भले ही युद्ध का यह संकल्प केवल संशय पर आधारित रहा हो किन्तु इससे उस क्रांतिकारी परि-वर्तन की झलक मिलती है जो श्री राम के साहचर्य से जनजीवन में उत्पन्न हुआ था। वे लंका के विरुद्ध अपने बहिरंग अभियान के लिए रंचमात्र उतावलेपन का परिचय नहीं देते। इसीलिए उन्होंने बनवास की एक लम्बी अवधि को इस रूप में व्यतीत कर दिया कि ऐसा प्रतीत ही नहीं होता था कि वे लंका-विजय का उद्देश्य लेकर बन में आये हुए हैं। वस्तुतः यह उनके उस जीवन-दर्शन का प्रमाण था जिसका उद्देश्य केवल बहिरंग परिवर्तन मात्र नहीं है। वे बनवास के तेरह वर्षों की लम्बी अवधि में अपने निवासस्थान को परिवर्तित करते रहते हैं और इस तरह उनका सम्पर्क अभियान आगे बढ़ता जाता है। यदि उनका उद्देश्य बनवास की अवधि को आनन्दपूर्वक व्यतीत कर देना होता तो वे बड़ी सरलता से सारा समय चित्रकूट में ही समाप्त कर सकते थे। पर अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे क्रमशः अपने आगे बढ़ते जाते हैं। दण्डकारण्य जैसी राक्षसों से पीड़ित भूमि को निवास

स्थान के लिए चुनना उनके राजनैतिक दर्शन का ही एक अङ्ग था। वे रावण को खुली चुनौती देने का संकल्प कर चुके थे। दण्डकारण्य के निवास काल में ही उन्होंने मैथिली के समक्ष यह योजना प्रस्तुत की जिसका उद्देश्य भू-भारहरण था :

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला।
मैं कछु करबि ललित नर लीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।
जौं लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी।
प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी॥

राजनीति की गोप्यता के सिद्धान्त का पालन करते हुए उन्होंने इस योजना का रहस्य लक्ष्मण के समक्ष भी प्रकट नहीं होने दिया। शूर्पणखा का उच्छृंखल विवाह-प्रस्ताव उनके समक्ष एक ऐसे अवसर के रूप में आया कि जब वे शूर्पणखा के विरूपी-करण के बहाने रावण और उसकी विचारधारा दोनों को ही चुनौती दे सकते थे।

'लछिमन अति लाघव तेहीं नाक कान बिनु कीन्ह।' फिर मैथिली का अन्वेषण करते हुए वे सुग्रीव से मैत्री स्थापित करते हैं, और अन्याय पथ में आरूढ़ रावण के मित्र वालि को विनष्ट कर देते हैं। वन्दरों को श्री सीता जी की खोज में भेजकर वे महावीर हनुमान के माध्यम से लंका के भौगोलिक और नगर-रचना के रहस्यों से परिचित हो जाते हैं, और तब उनका लंका के अभियान का चौथा चरण प्रारम्भ हो जाता है। यहीं वे रावणानुज विभीषण से मैत्री-भावना स्थापित करने में सफल होते हैं। विभीषण के रूप में उन्हें एक ऐसा मन्त्री प्राप्त होता है जिसे लंका के सारे रहस्यों का ज्ञान था।

दूसरी ओर जीवन की प्रारम्भिक सफलताओं के बाद रावण मानसिक दृष्टि से अवनति की दिशा में क्रमशः गिरता हुआ दिखाई देता है। मारीच और सुबाहु की पराजय के पश्चात् वह चुप होकर बैठ जाता है। धनुषयज्ञ के सन्दर्भ में उस का व्यवहार उसके डिगते हुए आत्मविश्वास का परिचायक था। जनकपुर पहुंचकर भी वह धनुष उठाने की कोई चेष्टा नहीं करता। कैलास पर्वत को उठाने में सक्षम व्यक्ति अपना आत्मविश्वास किस सीमा तक खो चुका था, इसका यह सबसे बड़ा प्रमाण है। बाद में उसे यह समाचार अवश्य मिला होगा कि राघवेन्द्र के द्वारा न केवल धनुष तोड़ा जा चुका है अपितु भगवान् परशुराम भी पराजित किये जा चुके हैं। नई शक्ति के इस उदय को उसने चुपचाप स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् घटित होने वाली घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस अवधि के वर्षों में राजनीति और पुरुषार्थ से उदासीन होकर अपने जीवन को पूरी तरह भोगों में डुबो चुका था। खर-दूषण के विनाश के पश्चात् अचानक ही वह अपनी निद्रा से जाग उठता है। और उसके पश्चात् भी उसका आचरण उनींदे व्यक्ति की भांति था जो जग जाने के पश्चात् भी नींद के झोंके लेता रहता है। केवल मैथिली के हरण के द्वारा वह यह समझ बैठा था कि वह अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल हो चुका है।

उसने यह मान लिया कि वनवासी और एकाकी राम सीता का पता लगाने में असमर्थ रहेंगे और सम्भवतः प्रिया के वियोग में विक्षिप्त होकर प्राण खो बैठेंगे। साथ ही उसने अपने मन में यह दुराशा भी पाल ली कि समय की अवधि के साथ राम के प्रति सीता का अनुराग भी कम होता जायगा और वह उन्हें प्राप्त करने में सफल-मनोरथ होकर अपने अपमान का वदला ले लेगा। उसने सारे संघर्ष को केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही जीत लेने का प्रयास किया। वह राक्षसों के अन्तःकरण में किसी प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है। यह युद्ध देश, जाति अथवा किसी विचारधारा को लेकर लड़ा जा रहा है ऐसा उसके किसी व्यवहार से सिद्ध नहीं होता। यदि वह एक सजग राजनीतिज्ञ की भांति आचरण करता तो गुप्तचरों के माध्यम से राम की प्रतिक्रिया और प्रयासों का पता लगाने की चेष्टा करता। दस मास के इस अन्तराल में घटित होने वाली घटनाओं का उसे रंचमात्र ज्ञान न था। आंजनेय के रूप में जव उसके ऊपर महान् विपत्ति टूट पड़ी तव उसका आचरण एक बौखलाए हुए व्यक्ति की भांति होने लगा। वह लंका में एकता के स्थान पर विघटन की सृष्टि करता है। उस समय तक वह आत्मप्रवंचना की उन सीमाओं तक पहुंच चुका था जहां पहुंचकर वह यथार्थ स्थिति को देखना तो दूर उस विषय में कुछ सुनने के लिए भी प्रस्तुत नहीं था। वह एक ऐसे समर्थन को पाने के लिए व्यग्र था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समस्या की गुरुता को भुलाकर केवल उसकी अजेयता में विश्वास प्रकट करे। जिस समय लंका में सबसे अधिक एकता की आवश्यकता थी तभी उसने अपने भाई को लात मारकर वाहर निकाल दिया। इस दुर्व्यवहार के वाद भी उसे यह आशा थी कि विभीषण उस ओर से अनादृत होगा। उसकी धारणा थी कि शत्रु का भाई समझकर विभीषण पर विश्वास नहीं किया जाएगा और इस तरह विभीषण दोनों ओर से अपमानित होकर विनष्ट हो जाएगा।

पुरुषार्थ के साथ नवनीयता की जो आवश्यकता राजनीतिज्ञ के जीवन में होती है उसका उसके जीवन में सर्वथा अभाव था। उसके सारे चरित्र पर अहंकार इतना हावी था कि वास्तविकता को वह सर्वदा अनदेखा करता रहा। उसने अपने अहंकार की वलिवेदी पर सारी राक्षस जाति का वलिदान कर दिया। विभीषण ही नहीं माल्यवान्, प्रहस्त और कुम्भकर्ण जैसे निकटस्थ हितैषियों की सम्मति की भी उसने उपेक्षा कर दी।

जहां तक प्रशासकीय योग्यता का सम्वन्ध है, रावण में वह प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। भौतिक समृद्धि की दृष्टि से लंका की तुलना सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रों से की जा सकती है। राक्षस जाति और अपने परिवार के प्रति व्यवहार में भी वह उदार प्रतीत होता है। सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में लंका का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समृद्धि, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शिक्षा और सुप्रबन्ध की दृष्टि से यह नगरी अद्वितीय थी :

कनक कोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना॥

गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै॥
बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापीं सोहहीं।
नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं॥
कहुँ लाल देह बिशाल सैल समान अतिबल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥
करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥
एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछु एक हि कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही॥

विभीषण के प्रति उसके व्यवहार में सहिष्णुता का दर्शन होता है। यहां उसका चरित्र अपने पूर्ववर्ती दैत्य और राक्षसों से भिन्न दिखाई देता है। पुराणों में हिरण्यकशिपु का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें असहिष्णुता का चरम दर्शन होता है। भगवन्नाम लेने के कारण वह अपने प्रिय पुत्र का भी विरोधी बन जाता है। वह बार-बार प्रह्लाद को मृत्यु के मुख में ढकेलने की चेष्टा करता है और अन्य उपायों के असफल हो जाने पर स्वयं मृत्युदण्ड देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। इसकी तुलना में रावण के चरित्र में आश्चर्यजनक सहिष्णुता का दर्शन होता है। इसीलिए लंका में हरि मन्दिर और विभीषण का भवन देखकर आंजनेय आश्चर्य-चकित हो उठे थे। यह कल्पना करना भी असम्भव था कि विश्व-विरोधी रावण अपने ही नगर में हरि मन्दिर की अवस्थिति सह सकता है। फिर वह हरि मन्दिर किसी उपेक्षित खंडहर के समान नहीं दिखाई देता था। सारा प्राकृतिक वातावरण साधना-भूमि की पवित्रता से ओत-प्रोत था। लंका और इस प्रकार के दृश्य में इतना अधिक विरोधाभास था कि पवननन्दन जैसे व्यापक दृष्टि वाले महापुरुष को भी इस पर विश्वास करना कठिन हो गया :

भवन एक पुनि दीख सुहावा।
हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥
रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका बृन्द तहँ देखि हरषि कपिराइ॥
लंका निसिचर निकर निवासा।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥
मन महुँ तरक करैं कपि लागा।
तेहीं समय बिभीषनु जागा॥

इसी तरह वह सभा में विभीषण के अनुरोध पर हनुमान जी को दिया गया मृत्युदण्ड वापस लेने के लिए भी प्रस्तुत हो जाता है :

सुनत निसाचर मारन धाए।
सचिवन्ह सहित बिभीषनु आए॥

नाइ सीस करि बिनय बहूता।
नीति बिरोध न मारिअ दूता॥
आन दंड कछु करिअ गोसाईं।
सबहीं कहा मंत्र भल भाई॥
सुनत बिहँसि बोला दसकंधर।
अंग भंग करि पठइअ बंदर॥

पर इस सहिष्णुता के बदले में वह उनके मूक समर्थन की आशा करता है। उसकी सहिष्णुता के पीछे विचारजन्य उदारता के स्थान पर ममताजन्य आसक्ति का ही हाथ अधिक था। इसीलिए वह विभीषण के द्वारा दी गयी सम्मति की केवल उपेक्षा ही नहीं करता अपितु उसे इसमें विभीषण की कृतघ्नता भी दिखाई देती है। और इसी झुंझलाहट में वह भरी सभा में उनसे दुर्व्यवहार करता है। उसकी यह ममताजन्य आसक्ति केवल विभीषण तक ही सीमित नहीं थी। शूर्पणखा, मन्दोदरी, विभीषण और कुम्भकर्ण के प्रति किये जाने वाले व्यवहार में भी यह वृत्ति साफ-साफ झलक उठती है। वह भरी सभा में शूर्पणखा द्वारा दी गई फटकार को चुपचाप सह लेता है। मन्दोदरी और कुम्भकर्ण के द्वारा की गई कठोर भर्त्सना को भी उसने स्वीकार कर लिया। पर इस सहिष्णुता में उसका अविवेक ही झलकता है। वह मन्दोदरी और शूर्पणखा में भेद नहीं कर पाता। मन्दोदरी के प्रति केवल वाचिक सहिष्णुता का प्रदर्शन करता है पर क्रियात्मक रूप में वह शूर्पणखा की ही सम्मति स्वीकार करता है। इस तरह उसकी सहिष्णुता सर्वथा मूल्यरहित हो जाती है। कुम्भकर्ण के द्वारा की गई शाब्दिक भर्त्सना के अपमान भरे घूंट को वह चुपचाप पी लेता है। यद्यपि कुम्भकर्ण के द्वारा जो वाक्य कहे गये थे वे विभीषण द्वारा कहे गये शब्दों की तुलना में अत्यन्त कठोर थे पर इसके बदले में वह कुम्भकर्ण से वैसा व्यवहार नहीं करता है जैसा उसने विभीषण से किया था। विभीषण के प्रति किये गये व्यवहार के दुष्परिणाम उसके सामने थे फिर वह कुम्भकर्ण की चारित्रिक दुर्बलता से भी परिचित था। उसे यह ज्ञात था कि कुम्भकर्ण की भोजन और मदिरापान के प्रति कितनी आसक्ति है। इसीलिए कुम्भकर्ण के मौन होते ही वह उसके समक्ष मदिरा और मांस के अम्बार लगा देता है :

राम रूप गुण सुमिरत मगन भयउ छन एक।
रावण माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक॥

अपनी प्रवृत्तियों से बाध्य कुम्भकर्ण ने भले ही रावण की ओर से युद्ध किया हो किन्तु युद्धक्षेत्र में विभीषण से मिलन होने पर जिस प्रकार वह विभीषण का समर्थन करता है वह रावण की सबसे बड़ी पराजय थी :

देखि बिभीषनु आगे आयउ।
परेउ चरन निज नाम सुनायउ॥
अनुज उठाइ हृदयँ तेहि लायो।
रघुपति भक्त जानि मन भायो॥

तात लात रावन मोहि मारा।
कहत परम हित मंत्र बिचारा॥
तेहिं गलानि रघुपति पहिं आयउँ।
देखि दीन प्रभु के मन भायउँ॥
सुनु सुत भयउ कालबस रावन।
सो कि मान अब परम सिखावन॥
धन्य धन्य तैं धन्य विभीषन।
भयउ तात निसिचर कुल भूषन॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।
भजेहु राम सोभा सुख सागर॥
बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ कालबस बीर॥

मन्दोदरी के रूप में उसे जो पत्नी प्राप्त हुई थी, वह न केवल सौन्दर्य की दृष्टि से, अपितु बुद्धिमत्ता में भी अप्रतिम थी। रावण मन्दोदरी के सौन्दर्य, गुण का प्रशंसक था पर मन्दोदरी की समर्पण-भावना का दुरुपयोग करता हुआ वह उसे भी मैथिली की उपलब्धि के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहता है। अशोक-वाटिका में विदेहजा को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए जब वह उनके निकट जाता है तब वह पट्टमहिषी मन्दोदरी के साथ अन्य रानियों को भी लेकर जाता है। रावण के प्रति प्रशंसापरक दृष्टि रखने वाले कुछ व्याख्याता इसमें भी रावण के चरित्र की ऊंचाई का दर्शन करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि यदि रावण के मन में असद्भाव होता तो वह रानियों के इतने बड़े समूह को लेकर मैथिली के निकट न जाता। किन्तु रावण के सारे चरित्र की पृष्ठभूमि में विचार करने वाला कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के उपहासास्पद तर्कों से प्रभावित नहीं हो सकता। वेदवती और अपने भाई की पत्नी को बलात्कारपूर्वक पाने की चेष्टा करने वाले रावण के चरित्र में किसी आदर्श की खोज करना बुद्धि की विडम्बना है। वस्तुतः वह एक कुटिल कामी की भांति मैथिली को पाने की हर प्रकार से चेष्टा करता है। सम्भवतः अपनी क्षुद्र प्रवृत्तियों के कारण उसे ऐसा प्रतीत हुआ होगा कि मैथिली मेरे बहुपत्नीत्व के कारण मुझे वरण करने में रुचि नहीं दिखला रही हैं। वह वैदेही के मन पर यह छाप डालना चाहता था कि उसकी समस्त रानियों में परस्पर कितना सद्भाव है। मन्दोदरी सहित समस्त रानियों के समक्ष ही वह उनके सामने यह प्रस्ताव रखता है कि मेरी समस्त रानियां अनुचरी की भांति उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं :

कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।
मन्दोदरी आदि सब रानी॥
तव अनुचरी करौं पन मोरा।
एक बार बिलोकु मम ओरा॥

इन वाक्यों के द्वारा वह अपनी दो विशेषताओं का प्रदर्शन करना चाहता था। एक ओर तो वह यह प्रदर्शित करता है कि उसकी पत्नियों में सौतियाडाह का सर्वथा अभाव है और वह अपने अनुराग की पूर्णता के द्वारा सभी को सन्तुष्ट करने में समर्थ है। इसीलिए उन्हें उसके बहुपत्नीत्व से शंकित होने की आवश्यकता नहीं है। इसका दूसरा उद्देश्य इन वाक्यों के द्वारा मैथिली को विशिष्ट स्थिति का प्रलोभन देना भी था। वह उन पर यह प्रभाव डालने की चेष्टा करता है कि पट्टमहिषी मन्दोदरी की तुलना में भी उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है। महिमामयी मैथिली पर उसकी इस कुटिल कुचेष्टा का प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक ही था। पर इस प्रसंग में मन्दोदरी के चरित्र की गरिमा दर्शनीय थी। रावण के प्रति समर्पिता होने के कारण भले ही वह इस अवसर पर मौन रह गई हो क्योंकि वह नहीं चाहती थी कि सापत्न्य और स्वार्थ की दृष्टि का आरोप उस पर किया जाय। यदि मैथिली रावण के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती हैं तो वह अपने पद की गरिमा का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत थी, पर जब रावण मैथिली की अस्वीकृति से असन्तुष्ट होकर उन पर कृपाण का प्रहार करने के लिए प्रस्तुत होता है तब वह दृढ़तापूर्वक रावण के इस क्रूर कार्य का विरोध करती है :

सुनत बचन पुनि मारन धावा।
मयतनया कह नीति बुझावा।।

यदि उसके हृदय में औदार्य न होता तो सम्भवतः रावण के इस कार्य से वह प्रसन्न होती। उसे लगता कि उसके पथ का कांटा दूर हो गया। पर रावण को इस क्रूर कर्म से विरत कर देना उसकी उदारता और नीतिमत्ता का परिचायक है। रावण भी उसके प्रस्ताव की स्वीकृति के द्वारा अपनी सहिष्णुता और उदारता का परिचय देता हुआ-सा दिखाई देता है। पर इस सहिष्णुता के पीछे उसकी वासना-जन्य दुराशा ही मुख्य रूप से कार्य कर रही थी। उसके मन में यह दुराशा बनी हुई थी कि सम्भव है—समय के साथ मैथिली के मत में परिवर्तन हो और वे उसे स्वीकार कर लें। इसीलिए वध से विरत होने पर भी समय की एक अवधि वह निश्चित कर देता है। वह यह स्पष्ट कर देता है कि यदि उसके प्रस्ताव को एक मास में स्वीकार न किया गया तो वह निश्चित रूप से मैथिली का वध कर देगा :

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई।
सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई।।
मास दिवस महुँ कहा न माना।
तब मैं मारबि काढ़ि कृपाना।।

मन्दोदरी समर्पिता पत्नी के साथ-साथ सुयोग्य पट्टमहिषी भी थी। लंका की यथार्थ स्थिति का ज्ञान उसे रावण की तुलना में अधिक था। जहां रावण के गुप्त-चर उसे वास्तविक स्थिति की सूचना नहीं दे पाते हैं वहां मन्दोदरी तक सारे तथ्य तत्काल पहुंच जाते हैं, और वह रावण को वास्तविकता की सूचना देकर उसे युद्ध से विरत बनाने की चेष्टा करती है। पर वाग्जाल में निपुण रावण उसकी शाब्दिक

सराहना करता हुआ भी उसके युक्तिसंगत प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है :

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।
जब ते जारि गयउ कपि लंका॥
निज निज गृहँ सब करहिं बिचारा।
नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥
जासु दूत बल बरनि न जाई।
तेहि आएँ पुर कवन भलाई॥
दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी।
मंदोदरी अधिक अकुलानी॥
रहसि जोरि कर पति पग लागी।
बोली बचन नीति रस पागी॥
कंत करष हरि सन परिहरहू।
मोर कहा अति हित हियँ धरहू॥
समुझत जासु दूत कइ करनी।
स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई।
पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥
तव कुल कमल बिपिन दुखदाई।
सीता सीत निसा सम आई॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें।
हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें॥
राम बान अहि गन सरिस निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक॥
श्रवन सुनी सठ ता करि बानी।
बिहँसा जगत बिदित अभिमानी॥
सभय सुभाउ नारि कर साचा।
मंगल महुँ भय मन अति काचा॥
जौं आवइ मर्कट कटकाई।
जिअहिं बिचारे निसिचर खाई॥
कंपहिं लोकप जाकी त्रासा।
तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥

इस प्रकार विभिन्न अवसरों पर मन्दोदरी के द्वारा समझाए जाने पर भी रावण उसकी बातों को हंसी में उड़ा देता है। मन्दोदरी स्पष्ट रूप से रावण को विनाश की दिशा में बढ़ते हुए देख रही थी। वह उसे रोकने की चेष्टा कर रही थी, पर वह निरुपाय थी। उसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि काल की प्रतिकूलता के कारण ही उसके पति को मतिभ्रम हो गया है। रावण को उसके असत् संकल्प

से विरत करने का प्रयास अनेक लोगों के द्वारा किया गया। पर रावण अपनी प्रकृति से वाध्य था। झकने के स्थान पर टूटने का मार्ग ही उसने स्वीकार किया। त्रुटियों को स्वीकार करना उसके जीवन के दर्शन के प्रतिकूल था। इस तरह शक्ति का एक महान् पुंज और अनेकों विशेषताओं के होते हुए भी रावण को विनष्ट होने से नहीं रोका जा सका। रावण की मृत्यु के क्षण में उसका दिव्य तेज प्रभु के मुखमण्डल में समा जाता है। इस स्पष्ट तात्पर्य यही है कि वह एक ऐसा प्रकाश पुंज था जो जीवन भर अंधकार से आवृत रहा। अपने ही अन्तःकरण के प्रकाश का प्रयोग वह नहीं कर पाया। फिर भी मानस के दार्शनिक संकेतों में उसकी विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। त्रिजटा के द्वारा विदेहजा को जव यह समाचार प्राप्त होता है कि प्रभु के द्वारा सिर और भुजाओं के काटे जाने पर भी उसकी मृत्यु नहीं हो रही है तव उनका दुखित और आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही था। त्रिजटा रावण की मृत्यु के रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए यह स्पष्ट कर देती है कि जव तक रावण के हृदय पर प्रहार नहीं किया जाता तब तक उसकी मृत्यु असम्भव है। मैथिली नहीं समझ पातीं कि फिर इसमें समस्या ही क्या है ? प्रभु के अक्षय तूणीर में वाणों की कमी नहीं है फिर वे रावण के हृदय पर प्रहार क्यों नहीं कर पाते हैं ? त्रिजटा इस रहस्य का उद्‌घाटन इन शब्दों में करती है "प्रभु सोचते हैं कि रावण के हृदय में महाशक्ति सीता का निवास है और सीता के हृदय में मैं रहता हूं, मेरे उदर में समस्त ब्रह्माण्डों का आवास है। यदि मैं रावण पर प्रहार करता हूं तो न केवल रावण का, अपितु विश्व का विनाश भी अवश्यम्भावी है :"

तेही निसि सीता पहिं जाई।
त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई॥
सिर भुज बाढ़ि सुनत रिपु केरी।
सीता उर भइ त्रास घनेरी॥
मुख मलीन उपजी मन चिंता।
त्रिजटा सन बोली तब सीता॥
होइहि कहा कहसि किन माता।
केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता॥
रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई।
बिधि बिपरीत चरित सब करई॥
मोर अभाग्य जिआवत ओही।
जेहिं हौं हरि पद कमल बिछोही॥
जेहिं कृत कपट कनकमृग झूठा।
अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा॥
जेहिं बिधि मोहिं दुख दुसह सहाए।
लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥

रघुपति बिरह सविष सर भारी।
तकि तकि मार वार बहु मारी॥
ऐसेहुँ दुख जो राख मम प्राना।
सोइ बिधि ताहि जिआव न आना॥
वहु विधि करत बिलाप जानकी।
करि करि सुरति कृपा निधान की॥
कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी।
उर सर लागत मरइ सुरारी॥
प्रभु ताते उर हतइ न तेही।
एहि के हृदयँ बसति बैदेही॥

एहि के हृदयँ वस जानकी, जानकी उर मम वास है।
मम उदर भुअन अनेक लागत वान सब कर त्रास है॥
सुनि वचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटाँ कहा।
अव मरिहि रिपु एहि विधि सुनहि सुंदिर तजहि संसय महा॥
काटत सिर होइहि विकल छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावनहिं हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान॥

उपर्युक्त पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है वह एक पहेली-सा लगता है। व्यक्ति के हृदय में न जाने कितनी वस्तुओं का चिन्तन होता रहता है। उसका यह चिन्तन मनोविलास मात्र होता है। चिन्तन करने वाले व्यक्ति के हृदय पर प्रहार करने पर चिन्तन की जाने वाली वस्तु का विनाश हो जाय यह सब जादुई करिश्मा या इन्द्रजाल जैसा प्रतीत होता है। पर त्रिजटा की इस पहेली में रावण के व्यक्तित्व का सारा रहस्य छिपा हुआ है।

सर्वप्रथम इसमें रावण की प्रगाढ़ संकल्पशक्ति का परिचय प्राप्त होता है। इस भौतिक प्रतीत होने वाली सृष्टि के मूल में क्या है? भौतिकवादी की दृष्टि में सृष्टि के मूल में पदार्थ हैं जिनके संयोजन और विकास से क्रमशः सृष्टि का निर्माण होता है। आत्मवादी विचारकों की दृष्टि में ईश्वर का संकल्प है जो शून्य से (कुछ नहीं) सब कुछ बना देता है। ईश्वर का अंश होने से जीव में भी इसी प्रकार की क्षमता के बीज विद्यमान हैं। योगी संकल्पशक्ति के द्वारा अनेकों वस्तुओं का निर्माण कर सकता है। पर इस प्रकार की संकल्पशक्ति का उदय पवित्र अन्तः-करण वाले व्यक्ति के जीवन में होने पर ही वह लोककल्याण का हेतु बन सकती है। पर दुर्भाग्यवश रावण में इस महान् संकल्पशक्ति का उदय हो चुका था और वह अपनी इस क्षमता का निरन्तर दुरुपयोग करता रहता है। सीता को वह महाशक्ति के रूप में पहचानने में सफल हो जाता है। उसमें शक्ति के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति है, संकल्प है, पुरुषार्थ है, और तप है; पर वह साधना के पवित्र मार्ग से शक्ति की आराधना नहीं करता। वह शक्ति पर अधिकार पाने का प्रयास करता है और ऐसा लगता है कि कुछ समय के लिये इसमें सफल हो जाता है। वह

शक्ति को स्वीकार करता है पर शक्ति किसी ईश्वर की अनुगामिनी है ऐसा वह नहीं मानता। रावण अपने हृदय में सीता को वसाता है पर सीता के हृदय में किसका निवास है, इस तथ्य पर ध्यान नहीं देता। 'एहि के हृदय बस जानकी' के वाद 'जानकी उर मम बास है' तथ्य को वह अनदेखा कर देता है। इस तरह रावण के व्यक्तित्व में गुण-दोष का अद्भुत मिश्रण है। 'संकल्प शक्ति', 'पुरुषार्थ', 'तपस्या' के दुरुपयोग के कारण इन सवके पूरी तरह विनष्ट किए जाने में विश्व के विनाश का भय छिपा हुआ है। इस सत्य को समझ कर ही श्रीराम उस पर प्रहार करने में अत्यन्त सावधान हैं।

रावण की तुलना एक ऐसे बुरे, पर प्रतिभावान व्यक्ति से की जा सकती है जो अणु-विस्फोट के रहस्य को जानकर अणु-बम के निर्माण में समर्थ हो जाता है और ऐसा लगता है कि वह उसके द्वारा विश्व को विनष्ट करने पर तुला हुआ है। अव ऐसी स्थिति में लोकरक्षण के लिए उसका विनाश अभीष्ट है। पर अविवेक-पूर्वक प्रहार किए जाने पर यह भी भय है कि कहीं उस व्यक्ति के ध्वंस के साथ-साथ अणु-विस्फोट न हो जाय जिसका परिणाम विनाश के रूप में सामने आवे। ऐसी स्थिति में यही प्रयास करना होगा कि किसी प्रकार अणुशक्ति को उसके हाथों से पृथक् किया जा सके। तभी उस पर प्रहार करने से विश्व सुरक्षित रह सकता है। इसीलिए त्रिजटा कहती है कि रावण के हृदय पर प्रहार करने से पहले उसे आपके ध्यान से पृथक् करना होगा। जब वाणों के आघातों से व्याकुल होकर वह आपको भुला वैठेगा तभी प्रभु के प्रहार से उसका विनाश होगा :

> काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तव ध्यान।
> तब रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान॥

वस्तुतः रावण में इतनी अधिक विलक्षण क्षमताएं थीं कि उनके सदुपयोग से वह जिस दिशा से चाहता सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हो सकता था। वह शास्त्रों का महान् पण्डित था, वेदज्ञ था। अतः उसके ज्ञानयोगी वनने में कोई कठिनाई न थी। पर ज्ञान से जिस अमानित्व का उदय होता है उसका उसमें सर्वथा अभाव था। वह तत्त्वज्ञ के स्थान पर ज्ञानाभिमानी बन वैठा। वह पुरुषार्थ का पुंज था इसलिए कर्मयोग का आश्रय लेकर वह परम निःश्रेयस् का अधिकारी वन सकता था पर वह पुरुषार्थ के द्वारा उपलब्ध क्षमताओं को भोग और परोत्पीड़न में ही प्रयुक्त करता रहा। उसमें चिन्तन और ध्यान की अतुलनीय एकाग्रता विद्यमान थी इस लिए वह भक्तियोग के द्वारा उपासना के माध्यम से प्रभु को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता था पर शक्ति का चिन्तन करता हुआ भी वह शक्तिमान का परम विरोधी वनकर उन्हें ही विनष्ट करने के प्रयास में मृत्यु का ग्रास वना।

वह एक ऐसा व्यक्ति था जो अपने गुणों से किसी भी महाकाव्य का धीरोदात्त नायक वन सकता था पर क्षमताओं के दुरुपयोग से खलनायक के रूप में ही जाना और माना गया।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ

मानस में मुनि-परम्परा में जिन महापुरुषों का वर्णन किया गया है उनमें ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का स्थान अप्रतिम है। यद्यपि पुराण और इतिहास-परम्परा में ब्रह्मर्षि के विभिन्न गुणों के परिचायक अनेक प्रसंग प्रस्तुत किए जा सकते हैं पर रामचरितमानस के गुरु वशिष्ठ में ऐसी दो विशेषताएं हैं जिनका परिचय अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। वे एक महान् तपस्वी और सिद्धि-सम्पन्न पुरुष थे, यह सर्वत्र स्वीकार किया गया है। वैदिक यज्ञ-परम्परा के भी वे महान् आचार्य थे, ऐसा अनेक उपाख्यानों से विदित होता है। वे एक महान् तत्त्ववेत्ता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। योगवशिष्ठ में उनके इसी स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। इस तरह वे कर्मयोग और ज्ञानयोग के महान् आचार्य के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। पर रामचरितमानस में मुख्य रूप से वे एक महान् भक्तयोगी के रूप में सामने आते हैं। उनकी दूसरी जिस विलक्षणता पर दृष्टि वरवस अटक जाती है वह है उनकी विनम्रता। गुरु के रूप में यदि वे अपने शिष्यों को धर्म और साधना के तत्त्व का निर्देश और आदेश देते तो यह उनके स्वरूप के अनुरूप ही होता। किन्तु योग्य शिष्य से गुरु को भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए इस प्रकार का पाठ भी उनके जीवन से प्राप्त होता है।

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने इक्ष्वाकु वंश का पौरोहित्य स्वीकार किया था, पर इस स्वीकृति के पीछे उनका जो जीवन-दर्शन था उसे उन्होंने श्री रामभद्र के निकट जिस रूप में प्रस्तुत किया उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मुख्यतः भागवत धर्म की भावना से अनुप्राणित थे। मुनि-परम्परा में तप और त्याग को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त रहा है। जीवन का उद्देश्य भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति मात्र नहीं है। इच्छाओं का वाहुल्य मनुष्य को विषयों का दास वना देता है। विषयी निरन्तर शरीर की सेवा में संलग्न रहता है। शरीर और इन्द्रियों की तृप्ति ही उसे जीवन की चरम उपलब्धि प्रतीत होती है। मुनि-परम्परा ने इस धारणा को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया। वे तपस्या के द्वारा शरीर और इन्द्रियों पर अधिकार पाने का प्रयास करते थे। भौतिक आवश्यकताओं के प्रति उदासीन होने के कारण किसी प्रकार का प्रलोभन उन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता था। नगर के स्थान पर वन में ही रहना उन्हें प्रिय था। राज्य सत्ता का कोई भय अथवा प्रभाव उनके मन पर विद्यमान नहीं था। ऐसी स्थिति में त्याग-तपस्याजन्य स्वाभिमान का उदय होना स्वाभाविक ही था। पौरोहित्य स्वीकार कर लेने वाला यह वर्ग मुनियों की तुलना में हीन दृष्टि से देखा जाय, इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। तपस्वी ब्रह्मर्षि का अन्तःकरण लौकिक आकांक्षाओं से सर्वथा शून्य था। इसलिए जब महाराज इक्ष्वाकु की ओर से उन के समक्ष पौरोहित्य का प्रस्ताव रक्खा गया तब उनका उसे अस्वीकार कर देना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। किन्तु बाद में उन्होंने

सूर्यवंश के पुरोहित का पद स्वीकार कर लिया। इस स्वीकृति का उद्देश्य भी परमार्थ तत्त्व की उपलब्धि ही थी। उनके समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि क्या त्याग और तप ही जीवन का चरम उद्देश्य है? वस्तुतः कभी-कभी त्याग और तप के अतिरेक में इस प्रकार की वृत्ति का निर्माण होता है जिसमें यह सद्गुण साधन के स्थान पर साध्य बन बैठते हैं। ऐसी स्थिति में त्याग और तप भी वास्तविक उद्देश्य से विरत होकर अहं की पूजा के साधन बन जाते हैं। स्वाभिमान और अभिमान में भेद कर पाना सरल कार्य नहीं है। पर इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि स्वाभिमान दीनता और हीनता की वृत्तियों को मिटा देता है किंतु स्वयं दीनता और हीनता से मुक्त होकर जब व्यक्ति दूसरों को क्षुद्र और हीन समझने लगता है तब उसका स्वाभिमान अभिमान के रूप में परिणत हो जाता है। दीनता और हीनता से मुक्त होने पर जब व्यक्ति दूसरों को अपने समक्ष दीन और नत देखकर प्रसन्न होता है उस समय वह अपने अहं की तुष्टि ही कर रहा होता है। पुराणों में ऐसे अनेक मुनियों का वर्णन प्राप्त होता है जिसका त्याग और तप अभिमान की सीमा तक जा पहुंचा था। किन्तु वशिष्ठ का जीवन इस अभिमान से पूरी तरह मुक्त था। वस्तुतः त्याग का अर्थ है किसी वस्तु को छोड़ना। जीवन का लक्ष्य छोड़ना नहीं अपितु पाना है। त्याग का तात्पर्य वस्तु को उपलब्धि के लिए क्षुद्रता का परित्याग कर देना है। इसलिए सच्चा त्यागी स्वयं को निःस्वार्थ कहकर प्रदर्शित करने का प्रयास नहीं करता। इस प्रसंग में एक उपाख्यान का स्मरण आता है जिसमें किसी समृद्धि-सम्पन्न व्यक्ति ते लंगोटीधारी साधु को त्यागी कहकर उसका अभिनन्दन किया। सच्चे साधु ने स्वयं को त्यागी की उपाधि दिये जाने का विरोध किया। क्योंकि उसकी मान्यता थी कि ईश्वर जैसे शाश्वस्त सत्य को पाने के लिए मिथ्या का परित्याग कर देना स्वाभाविक ही है। ऐसे व्यक्ति को चतुर स्वार्थपरायण की उपाधि दी जानी चाहिए। रामचरितमानस की इस पंक्ति में भी इसी मत की पुष्टि की गई है :

स्वारथ साँच जीव कहँ एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू।।

गुरु वशिष्ठ का चरित्र एक सुलझे हुए विचारक के रूप में सामने आता है। प्रारम्भ में वे पुरोहित का पद स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। किन्तु ब्रह्मा के द्वारा जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि ईश्वर इसी वंश में अवतरित होने वाला है तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, क्योंकि उन्हें यह प्रतीत हुआ कि समस्त साधनाओं का उद्देश्य ईश्वर की उपलब्धि ही है। यदि पौरोहित्य के द्वारा उसके सन्निकट पहुंचना सम्भव है तब इससे बढ़कर और कौन-सा धर्म हो सकता है। गुरु वशिष्ठ ने अपनी इस धारणा को प्रभु के समक्ष इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया :

उपरोहित्य कर्म अति मंदा।
बेद पुरान सुमृति कर निंदा।।

जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही।
कहा लाभ आगें सुत तोही ॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा।
होइहि रघुकुल भूषन भूपा ॥
तब मैं हृदय बिचारेउँ जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन ॥

धर्म के सम्बन्ध में की गई उनकी व्याख्या कर्मकाण्ड के स्थान पर भावना और उद्देश्य को ही अधिक महत्त्व देती है। इस तरह वे धर्म की वास्तविकता को परिणाम से आंकने का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि सूर्यवंश के पौरोहित्य को स्वीकार करने के पश्चात् उस कुल में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक समस्या का समाधान उनके द्वारा किया गया फिर भी वे अपने अन्तर्मन में प्रभु के प्राकट्य की प्रतीक्षा करते रहे। प्राकट्य के पश्चात् भी उन्हें दीर्घकाल तक ऐसी भूमिका सम्पन्न करनी पड़ी जो उन्हें अभीष्ट न होते हुए भी लोक-मंगल के लिए आवश्यक थी। वे सुनियोजित पद्धति से लोक-कल्याण और अपने उद्देश्य में सामंजस्य स्थापित करते हुए क्रमशः अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं।

पुत्र के अभाव में पीड़ित महाराज श्री दशरथ जब उन्हें अपनी व्यथा-कथा सुनाते हैं, तब वे पुत्र की उपलब्धि का आश्वासन देते हुए भी उन्हें यज्ञ करने का आदेश देते हैं। यज्ञ के आचार्यत्व के लिए वे श्रृंगी ऋषि को बुलाने का आदेश देते हैं। उनका अन्तःकरण कितना ईर्ष्यारहित था इसका यह उत्कृष्ट प्रमाण है। इस तरह महाराज श्री दशरथ की लौकिक कामना को वे प्रारम्भ में ही पारमार्थिक दिशा दे देते हैं। विधि और भावपूर्वक सम्पन्न होने वाले इस पुत्रेष्टि यज्ञ में अग्नि-देव ने प्रकट होकर चरुपात्र देते हुए ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का स्मरण किया। इसका उद्देश्य महाराज श्री दशरथ को यह बताना था कि इस सिद्धि के पीछे ब्रह्मर्षि श्री वशिष्ठ का संकल्प ही मुख्य हेतु है :

एक बार भूपति मन माहीं।
भै गलानि मोरे सुत नाहीं ॥
गुर गृह गयउ तुरत महिपाला।
चरन लागि करि बिनय बिसाला ॥
निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ।
कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायउ ॥
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।
त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी ॥
सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा।
पुत्रकाम सुभ जग्य करावा ॥
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें।
प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें ॥

जो बसिष्ठ कछु हृदयँ बिचारा।
सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा॥

पुत्रों की उपलब्धि के पश्चात् दशरथ का वशिष्ठ के प्रति कृतज्ञ होना अत्यन्त स्वाभाविक था। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के आश्रम में ही चारों भाई शास्त्रों का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। रामजन्म के पहले और उसके पश्चात् नामकरण के अवसर पर भी गुरु वशिष्ठ ने महाराज श्री दशरथ के अन्तःकरण में यह संस्कार डालने का प्रयास किया कि इन पुत्रों को वे केवल साधारण मनुष्य के रूप में देखने का प्रयास न करें। इस तरह उन्हें वे भविष्य की भूमिका के लिए प्रस्तुत करते हैं। रामजन्म के पहले जहां उन्होंने यह घोषित किया था कि ये पुत्र त्रैलोक्य-विख्यात और भक्तों का भय दूर करने वाले होंगे, वहीं नामकरण के अवसर पर चारों राजकुमारों के नाम की जो व्याख्या की गई उसका मुख्य तात्पर्य यह बताना था कि इन बालकों का अवतरण मात्र किसी परिवार की अभीष्ट-सिद्धि के लिए नहीं हो रहा है। अपितु वे लोक-मंगल के लिए अवतरित हुए हैं। इसलिए इन पुत्रों पर दशरथ केवल अपना अधिकार समझने की भूल न करें :

धरहु धीर होइहिं सुत चारी।
त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी॥
× × ×
जो आनन्द सिंधु सुखरासी।
सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा।
अखिल लोकदायक बिश्रामा॥
बिस्व भरन पोषन कर जोई।
ताकर नाम भरत अस होई॥
जाके सुमिरन ते रिपु नासा।
नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥
लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहिं राखा लछिमन नाम उदार॥

उपर्युक्त पंक्तियों में यदि राम को 'अखिल लोकदायक विश्रामा' कहा गया है तो भी भरत 'विश्व भरण पोषण कर्ता' के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। श्री लक्ष्मण 'जगत आधार' है। शत्रुघ्न का कार्य विश्व-हित के विरोधी शत्रुओं को विनष्ट करना है। इस तरह नामकरणों की की जाने वाली व्याख्या में ही त्रिकालज्ञ वशिष्ठ ने भविष्य के घटनाक्रम की सूचना दे दी थी। महर्षि विश्वामित्र का अयोध्या में आगमन इस दिशा में प्रथम चरण था। वशिष्ठ और विश्वामित्र से सम्बन्धित जो उपाख्यान उपलब्ध होते हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दोनों महापुरुष परस्पर कठोर प्रतिद्वन्द्वी रहे हैं। यह प्रतिद्वन्द्विता केवल मानसिक और शाब्दिक रूप में ही नहीं थी अपितु दोनों का संघर्ष क्रियात्मक पृष्ठभूमि में भी इतना उग्र था

कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह सोचना असंभवप्राय था कि इन दोनों में भी कभी मैत्री होना सम्भव है। किन्तु यह असम्भव सम्भव हो गया। महर्षि विश्वामित्र ने यह भलीभांति समझ लिया कि मारीच और सुवाहु के रूप में जिस आसुरी शक्ति का आतंक व्याप्त हो गया है उसे विनष्ट कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है। समाधि के द्वारा वे इस सत्य का साक्षात्कार कर चुके थे कि रघुवंश में ईश्वर अवतरित हो चुका है; और यह महान् कार्य उसी के द्वारा सम्पन्न होना है। विश्व-मंगल के लिए उन्होंने अयोध्या जाने का निश्चय किया। इस दिशा में उनका स्वाभिमान आड़े नहीं आता है। यद्यपि उन्हें यह भलीभांति ज्ञात था कि रघुवंश के आचार्य उनके पुराने प्रतिद्वन्द्वी वशिष्ठ हैं, फिर भी उन्हें यह पूर्ण विश्वास था कि ब्रह्मर्षि वशिष्ठ विश्व-हित के इस कार्य में वाधक नहीं बनेंगे। वशिष्ठ से उनका विरोध कामधेनु की कामना को लेकर हुआ था। नन्दिनी की अलौकिक क्षमताओं से चमत्कृत:विश्वामित्र ने वशिष्ठ से इस गाय को पाने का प्रयास किया था किन्तु वशिष्ठ ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस तरह उस संघर्ष का सूत्रपात हुआ जो बाद में कटुतर होता गया। आज भी वे किसी कामना को लेकर ही वशिष्ठ के यजमान-गृह में जा रहे थे पर ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का व्यवहार इस अवसर पर सर्वथा भिन्न था। वात्सल्य और ममता से पूरित महाराज दशरथ ने विश्वामित्र की मांग को अस्वीकार करने का प्रयास किया। किन्तु उदारचेतना वशिष्ठ ने दशरथ को वचन-मूर्ति के लिए वाध्य किया। वशिष्ठ द्वारा की जाने वाली चेष्टा के अभाव में विश्वामित्र निश्चित रूप से विफल मनोरथ रहते। किन्तु वशिष्ठ की वचन-चातुरी से दशरथ का मोह विनष्ट हो जाता है और वे अपने दोनों पत्रों को देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं :

सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।
कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥

× × ×

तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा।
नृप संदेह नास कहँ पावा॥
अति आदर दोउ तनय बोलाए।
हृदयँ लाइ बहु भांति सिखाए॥
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥
सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥

इस प्रसंग में वशिष्ठ की व्यापक दृष्टि और उनकी वचन-रचना-चातुरी का परिचय प्राप्त होता है। नन्दिनी के सम्बन्ध में विश्वामित्र की मांग को वे इसलिए

अस्वीकार कर देते हैं कि उनका उद्देश्य व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति मात्र था। किन्तु आज वही विश्वामित्र लोक-मंगल की भावना से याचक बन कर आये थे। लोक-हित की भावना से व्यक्तिगत संस्कारों से ऊपर उठ पाना विरले महापुरुषों के लिए ही सम्भव होता है। वशिष्ठ उन विरल महापुरुषों में भी अन्यतम हैं। तपस्वी विश्वामित्र ने वशिष्ठ के सौ पुत्रों को भस्म कर दिया था। ऐसे व्यक्ति को क्षमा कर देना किसके लिए सम्भव था? अतः वशिष्ठ के चरित्र को मानवीय स्वभाव के अपवाद के रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इतना ही नहीं राजकुमारों के विवाह के पश्चात् जब विश्वामित्र अयोध्या में पुनः पधारते हैं तब ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने अयोध्या की राज्यसभा में उनका जिन शब्दों में अभिनन्दन किया वह उनके विशाल हृदय का परिचायक है :

मुनि मन अगम गाधिसुत करनी।
मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥
बोले बामदेउ सब साँची।
कीरति कलित लोक तिहुँ माची॥
सुनि आनंद भयउ सब काहू॥
राम लखन उर अधिक उछाहू॥

विवाह के कई वर्ष बाद तक अयोध्या में सुख-शांति का साम्राज्य छाया रहा किन्तु उसके पश्चात् अयोध्या में जिस झंझावात का प्रकोप हुआ उसमें एकमात्र गुरु वशिष्ठ ही अविचलित रहे। क्योंकि वे उस वर्तमान अमंगल में मंगलमय भविष्य की झांकी देख रहे थे। विषाद के वातावरण में रामभद्र केवल उनसे ही सबको संभाल रखने का अनुरोध करते हैं। इस प्रसंग में दूरद्रष्टा गुरु और समत्व सम्पन्न महान् शिष्य का उदात्त चरित्र सामने आया। एक ओर वह महान् गुरु था जिसके समक्ष कलंक का भय था। क्योंकि राज्याभिषेक का समारम्भ उनके आदेश के अनुसार किया जा रहा था। अतः ऐसे अवसर पर जब सारी योजना अस्त-व्यस्त हो गई हो तब उनके मुहूर्त और भविष्य ज्ञान पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता था। पर उन्हें व्यक्तिगत यश-अपयश की कोई चिन्ता न थी। एक ओर यदि वे उत्साह से भरे हुए दशरथ के संकल्प का समर्थन करते हुए उनको मंगलिक कृत्य के सम्पादन का आदेश देते हैं तो एकान्त क्षणों में अपने महान् शिष्य के समक्ष यह संकेत देना भी नहीं भूलते हैं कि सम्भव है—नियति के द्वारा इस प्रसंग में कोई बाधा उपस्थित हो। वे उनसे अभिषेक के पूर्वकृत्य के रूप में संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करने का अनुरोध करते हैं। पर उन्हें यह ज्ञात था कि उनका शिष्य आकांक्षाओं से प्रेरित नहीं है। इसलिए वे यह संकेत दे देते हैं :

राम करहु सब संजम आजू।
जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥

रामभद्र भी राज्य का परित्याग कर वन को प्रस्थान करते हुए गुरुदेव के चरणों में उत्साहपूर्वक नमन करते हैं और सेवक, सेविकाओं को उनके चरणों में

अर्पित करते हुए सबकी सम्भाल रखने का अनुरोध करते हैं :

दासी दास बोलाइ बहोरी।
गुरहिं सौंपि बोले कर जोरी॥
सबकै सार संभार गोसाईं।
करबि जनक जननी की नाईं॥

महाराज दशरथ की मृत्यु के पश्चात् वे दूतों को ननिहाल से श्री भरत को लाने का आदेश देते हैं किन्तु इस आज्ञा में भी उनकी राजनैतिक सूझ-बूझ का परिचय प्राप्त होता है। दूतों को यह स्पष्ट बता दिया गया था कि श्री भरत को पिता की मृत्यु का समाचार न सुनाया जाय। इसका वास्तविक उद्देश्य क्या था? वस्तुतः वे इस प्रसंग की पृष्ठभूमि और राजनैतिक जटिलताओं से पूरी तरह परिचित थे। कैकेयी का मातृकुल अयोध्या के राज्य के उत्तराधिकार को लेकर अत्यन्त सजग था। इस विषय में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को छिपाने का कोई प्रयास उन लोगों की ओर से नहीं किया गया था। कैकेयी के पुत्र को ही उत्तराधिकार प्राप्त होना चाहिए यह वचन वे विवाह के समय ही ले चुके थे। किन्तु इसके पश्चात् की घटनाओं ने इस प्रश्न के महत्त्व को समाप्त-सा कर दिया था, क्योंकि कैकेयी स्वेच्छा से इस अधिकार का परित्याग कर देती हैं। और जब बाद में मन्थरा ने पुनः उन्हें इस आकांक्षा की दिशा में प्रेरित किया तब इसके लिए उन्हें वरदान के भिन्न मार्ग का आश्रय लेना पड़ा। अब पुनः श्री भरत को अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त होने जा रहा था। यदि महाराज की मृत्यु का समाचार कैकय-नरेश को दिया जाता तो निश्चित रूप से वहां के अनेक प्रतिनिधि इस अवसर पर भरत के राज्याभिषेक की मनःस्थिति लेकर अयोध्या में आते। अयोध्या का जनसमाज राम के वन-गमन से अत्यन्त विक्षुब्ध था। कैकेयी के कुकृत्य से कुपित अयोध्यावासी कैकय-नरेश के प्रतिनिधियों को कितनी घृणा से देखते इसे समझना कठिन नहीं है। इस सारे घटनाक्रम में वे कैकय-नरेश के षड्यन्त्र की ही कल्पना करते जो स्वाभाविक था। ऐसी स्थिति में राजा के रूप में श्री भरत अयोध्या के नागरिकों से किसी सद्भाव की आशा नहीं कर सकते थे। गुरु वशिष्ठ इस घटनाक्रम से कैकय-नरेश के प्रतिनिधियों को दूर ही रखना चाहते थे। इसीलिए वे दूतों को सारे समाचार गुप्त रखने का ही आदेश देते हैं :

तेल नाँव भरि नृप तनु राखा।
दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा॥
धावहु बेगि भरत पहँ जाहू।
नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू॥
एतनेइ कहेउ भरत सन जाई।
गुरु बोलाइ पठयउ दोउ भाई॥

श्री भरत के आगमन के पश्चात् गुरु वशिष्ठ उनके समक्ष राज्य-पद स्वीकार करने के लिए जिस भाषण-शैली का आश्रय लेते हैं उसमें भी आदेश के स्थान पर

अनुरोध का स्वर ही मुख्य रूप से परिलक्षित होता है। वे गुरु के अधिकार का आश्रय लेते हुए यह नहीं कहते कि भरत तुम्हें यह करना ही होगा। इसके स्थान पर वे धर्म का विस्तृत और सन्तुलित वर्णन करते हैं। प्रारम्भ में उन्होंने वर्ण और आश्रम के स्वरूप का संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत किया। उनके द्वारा किया जाने वाला वर्ण और आश्रम के धर्म का वर्णन भी मुख्य रूप से उद्देश्यपरक है। यहां वे स्मृति शैली के स्थान पर धर्म का केवल सूत्रात्मक रूप ही प्रस्तुत करते हैं। स्मृतियों में ब्राह्मण के जिन छः कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है उसमें केवल वे अध्ययन का नाम लेते हैं और अध्ययन भी उनकी दृष्टि में तभी सार्थक है जब कि वह ब्राह्मण में वैराग्य की सृष्टि करे :

सोचिअ विप्र जो बेद बिहीना।
तजि निज धरम बिषय लय लीना ॥

पूरे वर्णाश्रम धर्म के विश्लेषण में वे इसी शैली का आश्रय लेते हैं। वर्ण और आश्रम धर्म की आवश्यकता का वर्णन करते हुए अन्त में वे उसका समापन भागवत धर्म से करते हैं। इस तरह वे समन्वय का वह सूत्र प्रस्तुत करतु हैं जिसे उन्होंने स्वयं जीवन में स्वीकार किया है। वर्ण और आश्रम-धर्म से विरत व्यक्ति को वे शोक करने योग्य मानते हैं। पर भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करते हुए वे उस व्यक्ति को हर प्रकार से शोक करने योग्य मानते हैं जो कि भगवत्प्रीति-विहीन है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्ण और आश्रम-धर्म के अभाव में जहां व्यक्ति का जीवन एक अंग की न्यूनता के सदृश है वहीं, भक्ति की न्यूनता सर्वांगीण अभाव का परिचायक है :

सोचनीय सबहीं बिधि सोई।
जो न छाँड़ि छल हरिजन होई ॥

हरि-भक्ति के प्रति यह आग्रह उन्हें उन मुनियों से भिन्न बना देता है जो तपस्या और कर्मकाण्डपरक व्यवस्था को ही सर्वोत्कृष्ठ आदर्श के रूप में स्वीकार करते हैं। इस तरह सन्तुलित भाषण के माध्यम से वे भरत से राज्य लेने का अनुरोध करते हैं। श्री भरत ने वड़ी ही विनम्रता और भावुकता-भरी वाणी में ब्रह्मर्षि के उस प्रस्ताव को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। अयोध्या की प्रजा भी श्री भरत के प्रस्ताव में स्वयं की आकांक्षाओं और भावनाओं को साकार पाती है। इस तरह श्री भरत और सारे समाज के एक पक्ष में हो जाने पर भी गुरु वशिष्ठ ने इसे अपनी अवमानना के रूप में नहीं देखा। वे विना किसी ननु-नच के श्री भरत के चित्रकूट चलने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं। इतना ही नहीं, वे क्रमशः श्री भरत की भावनाओं से अधिकाधिक प्रभावित होते जाते हैं। इसका सबसे वड़ा प्रमाण निषाद के प्रति उनके व्यवहार में प्राप्त होता है। चित्रकूट की यात्रा में शृंगवेरपुर के निकट पहुंचने पर निषादराज गुह श्री भरत का स्वागत करने के लिये आते हैं। उन्होंने तत्कालीन व्यवस्था की मर्यादा को स्वीकार करते हुए गुरु वशिष्ठ को दूर से ही प्रणाम किया। गुरु वशिष्ठ उन्हें आशीर्वाद देते हैं।

इसके पश्चात् वे श्री भरत को निषाद का परिचय देते हुए जहां उनका नाम और वर्ण बताना नहीं भूलते वहीं वे सिस्संकोच भाव से यह स्वीकार कर लेते हैं कि निषादराज 'रामप्रिय' हैं। यहां वे सामाजिक व्यवस्था और भावना में समन्वय का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं। निषाद को 'रामप्रिय' कह कर वे स्पष्ट रूप में यह स्वीकार कर लेते हैं कि ईश्वर का स्नेह किसी वर्ण विशेष की बपौती नहीं है। साथ ही समाज की स्मृति व्यवस्था के आचार्य के रूप में वे उस दूरी को बनाये रखना चाहते हैं जो उनकी दृष्टि में धर्मानुशासनानुकूल है। किन्तु श्री भरत शुद्ध भागवत धर्म को महत्त्व देते हुए निषाद को देखकर न केवल रथ का ही परित्याग कर देते हैं अपितु दौड़कर उन्हें हृदय से भी लगा लेते हैं :

देखि दूर तें कहि निज नामू।
कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू॥
जानि रामप्रिय दीन्ह असीसा।
भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥
राम सखा सुनि संदनु त्यागा।
चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई।
कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
करत पंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

यदि गुरु वशिष्ठ आचार्यत्व के अहंकार से मुक्त होते तो इस घटना की उन पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी हो सकती थी। किन्तु उन पर इस घटना का सर्वथा भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ा और उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि सम्भवतः भरत के व्यक्तित्व में धर्म अपने सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठित हो गया है। धर्म जिन संस्कारों की सृष्टि करता है वे एक सीमा में मानव-जीवन में अत्यन्त उपयोगी हैं। संस्कार के अभाव में मनुष्य का जीवन पशु तुल्य ही हो सकता है। इसीलिए हिन्दू धर्म के व्यावहारिक पक्ष में संस्कारों को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। किन्तु इन संस्कारों का द्वितीय पक्ष भी है। इसलिए संस्कारों के निर्माण के पश्चात् जब व्यक्ति का जीवन सुव्यवस्थित हो जाता है तब उसे इन संस्कारों से ऊपर उठने का उपदेश दिया जाता है। वर्ण-धर्म का मुख्य उद्देश्य सामाजिक सुव्यवस्था है। किंतु व्यवस्था का अतिरेक परस्पर जिस दूरी की सृष्टि करता है उसका निवारण भक्ति और ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। एक ओर जहां स्मृतियों में ऊंच-नीच का विभाजन किया गया है वहीं ज्ञान-सिद्धान्त समत्व पर बल देता हुआ इस असंतुलन को मिटाने की चेष्टा करता है। भक्तों की दृष्टि भी इससे मिलती-जुलती है। वह ज्ञान सिद्धांत से भी आगे बढ़कर साधक में विनम्रता की सृष्टि करती है। बहिरंग भेद के स्थान पर जब उसे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ईश्वर का साक्षात्कार होता है तब वह किसी को अपने से हीन समझ भी कैसे सकता है। उसे सर्वत्र अपनी आराध्य का ही दर्शन होता है :

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

किन्तु संस्कारों से ऊपर उठने की यह प्रक्रिया विश्लेषण में जितनी सरल प्रतीत होती है व्यवहार में उतनी ही कठिन है। व्यवस्था की रक्षा के नात पर जब कोई संस्कार अंत:करण में बद्धमूल हो जाता है तब उसे छोड़ पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। व्यक्ति को प्रतिक्षण व्यवहार में जीना पड़ता हैं जहां भेद का समग्र निवारण सम्भव ही नहीं है। इसलिए जब वह भक्ति और ज्ञान की महिमा का प्रतिपादन करता है तब वहां भी प्रगाढ़ अभ्यास के कारण किसी न किसी प्रकार भेद के समर्थन में तर्क जुटा ही लेता है। अनेक उत्कृष्ट विचारक और भक्त माने जाने वाले व्यक्तियों के जीवन में भेद की यह प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। इससे ऊपर उठ पाना विरले व्यक्ति के लिए ही सम्भव होता है। गुरु वशिष्ठ इन विरल व्यक्तियों में ही एक हैं। यद्यपि संस्कारजन्य अभ्यास के कारण वे प्रारम्भ में निषाद से दूरी बनाए रखने की चेष्टा करते हैं किन्तु भरत को रथ से उतरकर निषाद को हृदय से लगाते देखकर वे स्वयं में कमी का अनुभव करते हैं। उन्हें लगा कि उनके जीवन में संस्कारजन्य अभ्यास की ही विजय हो गई। किन्तु पुन: अवसर मिलते ही वे स्वयं को संस्कारों से मुक्त करते हुए भागवत् धर्म का गौरव स्थापित करते हैं। उन्हें यह अवसर चित्रकूट में उपलब्ध हो गया।

चित्रकूट में एक बार निषाद ने पुन: उनके चरणों में दूर से साष्टांग प्रणाम किया। किन्तु गुरु वशिष्ठ आज केवल आशीर्वाद देकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, उन्होंने दौड़कर निषाद को हृदय से लगा लिया, आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी। चित्रकूट-प्रसंग का यह अनोखा संकेत है। मानस में सर्वोत्कृष्ट क्षणों में पुष्प-वृष्टि के अनेक प्रसंग आते हैं। इस क्रम-परंपरा में यह युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि यदि भगवान् राम और श्री भरत-मिलन के अवसर पर देवताओं के द्वारा फूल बरसाये जाते, पर ऐसा नहीं हुआ। न तो श्री राम और भरत के मिलन में पुष्प-वृष्टि होती है और न गुरुवशिष्ठ और रामभद्र के मिलन में ही इसकी आवश्यकता का अनुभव किया गया। देवताओं की दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट क्षण वह था जब गुरुदेव ने दौड़कर निषाद को हृदय से लगा लिया। यह मिलन हर दृष्टि से अनोखा था। यद्यपि बहिरंग दृष्टि से गुरु वशिष्ठ ने नीचे पड़े हुए निषाद को उठा लिया किंतु वास्तविकता यह थी कि वे स्वयं संस्कारों से ऊपर उठकर भागवत धर्म के उज्ज्वलतम प्रतीक बन बैठे :

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।
कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुठत सनेह समेटा॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला।
नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला॥

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं।
बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥
जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

इस घटना का सर्वाधिक आश्चर्यजनक प्रभाव अयोध्यावासियों पर पड़ा। उन्होंने तत्काल गुरु वशिष्ठ का अनुगमन करते हुए निषाद को हृदय से लगाना प्रारम्भ कर दिया। साधारण-सी प्रतीत होने वाली यह घटना अपने अन्तरंग में कितनी महत्त्वपूर्ण है यह विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है। कुछ गिने-चुने व्यक्तियों द्वारा संस्कारों से ऊपर उठकर भागवत धर्म की स्वीकृति उतनी कठिन नहीं है पर जनसमूह का परिवर्तित हो जाना महानतम आश्चर्य का विषय है। क्योंकि जनसमूह तो संस्कार और अभ्यासों से ही परिचालित होता है। संस्कार से मुक्त किसी महापुरुष को देखकर वह चकित और श्रद्धालु तो होता है पर यह सोच कर आत्मसंतोष प्राप्त कर लेता है कि यह नियम न होकर अपवाद मात्र है और हम लोगों को तो नियम और व्यवस्था के अनुकूल ही चलना चाहिए। शृंगवेरपुर में श्री भरत के द्वारा निषाद के प्रति किये जाने वाले व्यवहार को उन्होंने इसी संदर्भ में देखा होगा। क्योंकि उनके समक्ष सर्वथा भिन्न प्रकार के दो दृष्टांत थे। गुरु वशिष्ठ ने जहां निषाद को दूर से आशीर्वाद दिया था, वहां श्री भरत ने दौड़कर उन्हें हृदय से लगा लिया था। स्वभावतः अयोध्या के नागरिकों ने गुरु वशिष्ठ के कार्य को ही अनुशासन के अनुकूल माना होगा। श्री भरत को उन्होंने अपवाद के रूप में देखा हो यही स्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु चित्रकूट में गुरु वशिष्ठ के व्यवहार ने उनकी धारणा को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। अब उनके लिए यह अपवाद न रहकर नियम का दृष्टांत बन गया। इस तरह अयोध्या के पुरवासियों की धारणा में जो महान् परिवर्तन हुआ उसका सारा श्रेय गुरु वशिष्ठ को ही दिया जा सकता है :

आरत लोग रामु सबु जाना।
करुनाकर सुजान भगवाना॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी।
तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू।
कीन्ह दूरि दुख दारुन दाहू॥
यह बड़ि बात राम कै नाहीं।
जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥
मिलि केवटहिं उमगि अनुरागा।
पुरजन सकल सराहहिं भागा॥

इस तरह शिष्य का अनुगमन करते हुए गुरु ने समाज को प्रभावित करने में अधिक सफलता प्राप्त की। चित्रकूट की सभाओं में गुरु वशिष्ठ अधिकाधिक भावना-

प्रवण होते गये। भरत के अनुराग के रंग को उन्होंने गहराई से स्वीकार कर लिया। विशेष रूप से श्री भरत की समर्पण निष्ठा से वे अत्यधिक प्रभावित हुए। क्योंकि रामभद्र के द्वारा 'भरत कहहिं सोइ किए भलाई' की घोषणा के पश्चात् भी श्री भरत ने प्रभु से लौटने का अनुरोध नहीं किया। वे श्री भरत से इतने अधिक प्रभावित हुए क जब राघवेन्द्र ने निर्णय का सारा भार जनक और उन पर डाल दिया तब उन्होंने भी श्री भरत को ही निर्णायक का पद देकर भरत के प्रति अद्भुत विश्वास का परिचय दिया :

सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी।
बोले सत्य सरल मृदु बानी॥
विद्यमान आपुनि मिथिलेसू।
मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई।
राउरि सपथ सही सिर सोई॥
राम सपथ सुनि मुनि जनक सकुचे सभा समेत।
सकल बिलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत॥

इतना, ही नहीं, उन्होंने चित्रकूट में स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि प्रेम के अभाव में ज्ञानयोग और धर्म सभी व्यर्थ हैं। श्री भरत ने उन्हें कितना अधिक प्रभावित कर लिया था इसका परिचय चित्रकूट से लौटने के पश्चात् प्राप्त होता है। श्री भरत नन्दिग्राम में रहकर अयोध्या के राज्य-कार्य का संचालन करना चाहते थे किन्तु इस विषय में वे गुरुदेव से आदेश लेने के लिए जाते हैं। क्योंकि वे यह जानना चाहते थे कि उनका कार्य कहीं धर्म के प्रतिकूल तो नहीं है। गुरुदेव ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि मेरी दृष्टि में तुम्हारा व्यक्तित्व और आचरण ही धर्म की सच्ची व्याख्या है। एक महान् गुरु की ओर यह शिष्य को दिया जाने वाला सर्वोत्कृष्ट प्रमाण-पत्र था :

सानुज गे गुर गेहं बहोरी।
करि दंडवत कहत कर जोरी॥
आयसु होइ त रहौं सनेमा।
बोले मुनि मन पुलकि सपेमा॥
समुझव कहब करब तुम्ह जोई।
धरम सारु जग होइहि सोई॥

चित्रकूट में श्री भरत ने राघवेन्द्र से राज्य के संचालन के लिए जब निर्देश देने की प्रार्थना की तब प्रभु ने गुरु वशिष्ठ के प्रति अपनी प्रगाढ़ आस्था का परिचय देते हुए यह कहा था कि गुरुदेव के रहते हुए हमें-तुम्हें किसी प्रकार की चिंता की आवश्यकता नहीं है। गुरु-चरण-रज की कृपा से ही सारी समस्याओं का समाधान होगा। श्री भरत ने प्रभु के इस आदेश का पूरी तरह पालन किया। अयोध्या के राज्य का संचालन गुरुदेव के आदेश के अनुरूप ही किया गया। वस्तुतः गुरु

वशिष्ठ के चरित्र में समन्वय का वही सूत्र विद्यमान है जो उनकी वाणी के लिए कहा गया है। गुरु वशिष्ठ की भाषण कला के लिए 'समय समाज धरम अविरोधा' का प्रयोग किया गया है। समय, समाज और धर्म का यही संतुलन उनके व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करता है। लंका-विजय के पश्चात् अयोध्या लौटकर प्रभु ने गुरु वशिष्ठ के प्रति जिस भावना का परिचय दिया वह गुरुदेव के प्रति उनकी सर्व-श्रेष्ठ श्रद्धांजलि थी। पुष्पक विमान से उतरते ही राघवेन्द्र गुरुदेव के समक्ष पृथ्वी पर अपना धनुष-वाण समर्पित कर देते हैं। यह वही धनुष था जिसके द्वारा उन्होंने लंका के महान् युद्ध में अप्रतिम सफलता प्राप्त की थी। लंकेश्वर रावण जिस धनुष और वाण के द्वारा मृत्यु का ग्रास बना था उस दिव्य धनुष को गुरु वशिष्ठ के चरणों में अर्पित करते हुए यह संकेत देते हैं कि जो कुछ कहा है वह सब उनके संकल्प की पूर्तिमात्र है। गुरुदेव के संकल्प और आदेश के अनुकूल ही लोक-मंगल के लिए शस्त्र उठाना पड़ा था। यद्यपि इस धनुष-वाण की सफलता में लोगों को मेरी भुजा की शक्ति प्रतीत हुई होगी, पर सत्य यह है कि इस भुजा और धनुष को जिस शक्ति-केंद्र से सामर्थ्य की उपलब्धि हो रही थी वस्तुतः वे आपके श्री चरण ही हैं। अतः मैं उसे चरण-रज में रखकर उनकी कृतज्ञता का ज्ञापन करता हूं। इतना ही नहीं वे वन्दरों से गुरुदेव का परिचय देते हुए यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि लंका-युद्ध में जो सफलताएं प्राप्त हुई हैं वे गुरुदेव की कृपा का ही परिणाम है :

वामदेव बसिष्ठ मुनिनायक।
देखे प्रभु महि धरि धनु सायक॥
धाइ धरे गुर चरन सरोरुह।
अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥
भेंटि कुसल बूझी मुनिराया।
हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया॥

× × ×

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए।
मुनि पद लागहु सकल सिखाए॥
गुरु बसिष्ठ कुल पूज्य हमारे।
इन्हकी कृपा दनुज रन मारे॥

अभूतपूर्व सम्मान के इस अप्रतिम चित्र के चित्रण के साथ ही यदि गोस्वामी जी ने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के चरित्र का समापन कर दिया होता तो काव्य-कौशल की दृष्टि से यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता पर गोस्वामी जी को यह अभीष्ट न था। वे उनके चरित्र का समापन उस चित्र से करते हैं जिसमें वे एक परम भावुक भक्त के रूप में सामने आते हैं। राज्याभिषेक के पश्चात् एक दिन आता है कि जब गुरुदेव अपनी आन्तरिक अभिलाषा की अभिव्यक्ति के लिए रामभद्र से एकान्त क्षणों में मिलते हैं। प्रभु ने सर्वदा की भांति मर्यादा और परंपरा का निर्वाह करते हुए गुरुदेव का पूजन किया। अगणित बार गुरु वशिष्ठ इस समादर को स्वीकार

कर चुके थे किन्तु आज वे भिन्न मन:स्थिति में थे। अब तक का उनका सारा आचरण रंगमंच के उस अभिनेता की भांति था जो नाटक में स्वीकार किए गए पाठ का निर्वाह बड़ी परिपूर्णता से करता है पर उसका एक भिन्न रूप तब होता है जब यवनिका गिरने के पश्चात् वह नाट्यशाला के निर्देशक के समक्ष होता है और अपनी अभिनय-प्रतिभा का पुरस्कार पाता है। प्रभु आज भी अपनी लीला-मुद्रा में प्रतिदिन का पाठ दुहरा रहे थे किन्तु गुरुदेव यह संकेत करते हुए-से प्रतीत होते हैं कि बस, बहुत हो चुका यह अभिनय, दर्शक जा चुके हैं, यवनिका गिर चुकी है तब इस मंच के संबंध के निर्वाह का अभिनय अपेक्षित नहीं है। यदि मेरी अभि-नय-कला से आपको संतोष हुआ हो तो मुझे अभीष्ट वरदान की उपलब्धि होनी चाहिए। गुरु वशिष्ठ ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे रामभद्र को एक राजकुमार और शिष्य के रूप में नहीं देखते। वस्तुतः उन्होंने जिस उपलब्धि के लिए यह पद स्वीकार किया था उसकी पूर्ति का क्षण आ पहुंचा है, और वे इन शब्दों में अपनी आंतरिक भावना को अभिव्यक्त कर देते हैं :

एक बार बसिष्ठ मुनि आए।
जहाँ राम सुखधाम सुहाए॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा।
पद पखारि पादोदक लीन्हा॥
राम सुनहु मुनि कह कर जोरी।
कृपासिंधु बिनती कछु मोरी॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा।
होत मोह मम हृदयँ अपारा॥
महिमा अमित बेद नहिं जाना।
मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना॥
उपरोहित्य कर्म अति मंदा।
बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही।
कहा लाभ आगें सुत तोही॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा।
होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥
तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन॥
जप तप नियम जोग निज धर्मा।
श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन।
जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥

आगम निगम पुरान अनेका।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर।
सब साधन कर यह फल सुंदर॥
छूटइ मल कि मलहि के धोएँ।
घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभि अंतर मल कहुँब न जाई॥
सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित।
सोइ गुन गृह बिग्यान अखंडित॥
दच्छ सकल लच्छन जुत सोई।
जाके पद सरोज रति होई॥
नाथ एक बर माँगऊँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पदकमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

॥ श्री राम: शरणं मम ॥

महर्षि विश्वामित्र

मन्दिर में प्रतिष्ठापित देवता की दिव्य मूर्ति के समक्ष नमन करते हुए शायद ही किसी व्यक्ति का ध्यान इस ओर जाता हो कि वह अपने मूल रूप में अनगढ़ प्रस्तर-खण्ड मात्र था, किसी चतुर शिल्पी ने अपनी साधना और कलात्मकता के द्वारा शिला-खण्ड में उस दिव्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है जिसे देखते हुए दर्शक की आंखें नहीं अघाती। शिल्पी की उस साधना के साथ मन्दिर की प्रतिष्ठापित करने वाली यजमान की श्रद्धा, निष्ठावान वैदिक ब्राह्मणों के द्वारा की जानेवाली प्राण-प्रतिष्ठा आदि जैसी अनेकों वस्तुओं के सम्मिलित प्रयास से ही मूर्ति में उस देवत्व का अभिर्भाव होता है जिसके दर्शन मात्र से ही अगणित व्यक्तियों का हृदय पवित्र हो जाता है, सद्भाव का संचार होता है और प्राप्त होता है अपनी मानसिक और भौतिक समस्याओं का समाधान। मानस में महर्षि विश्वामित्र की जिस महिमामयी दिव्य मूर्ति की प्रतिष्ठा की गयी है उसके पीछे भी कुछ इसी प्रकार का इतिहास है। महर्षि का चरित्र क्रमिक उत्थान का एक महान इतिहास है। पुराण और इतिहास के ग्रंथों में उनके चरित्र की जो झांकियां प्रस्तुत की गयी हैं उनके द्वारा इसी तथ्य की सिद्धि होती है।

क्षत्रिय जाति में उनका जन्म गाधि राजा के पुत्र के रूप में होता है और वे राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करने के पश्चात् योग्यतापूर्वक राज्य का संचालन करते हैं। उनके चरित्र में राजोचित अनेक गुण विद्यमान थे। परम्परा के अनुकूल साधुओं के प्रति समादर की भावना भी उनमें थी। इसी क्रम में वे ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का दर्शन करने के लिए उनके आश्रम में जाते हैं। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जैसे नीति-कुशल महापुरुष के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे राष्ट्ररक्षक राजा को सम्मानित करने का प्रयास करते। यहां तक सब कुछ ठीक चल रहा था। सत्ताधीश राजा और त्यागी मुनि जीवन के दो भिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बाह्य दृष्टि से जीवन-दर्शन में भिन्नता दिखायी देने पर भी दोनों एक दूसरे के पूरक बनकर ही समाज को पूर्णता प्रदान कर सकते हैं। शरीर और प्राण के समान दोनों एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। राजा के द्वारा समाज को सुव्यवस्था प्राप्त होती है और वह प्रजा की बहिरंग आवश्यकताओं की पूर्ति, विभाजन और संरक्षण का कार्य करता है। पर व्यक्ति केवल शरीर ही तो नहीं है उसमें एक आध्यात्मिक क्षुधा है, जिसकी पूर्ति तपस्वी और त्याग-परायण महापुरुषों द्वारा ही होती है, यह वे लोग हैं जो अपनी बाह्य आवश्यकताओं से उदासीन होकर आध्यात्मिक सत्य का शोध और श्रेय की दिशा में समाज को उन्मुख करते हैं। ऐसे लोगों के प्रति समादर और उनके बहिरंग संरक्षण का भार राजा पर होता है। ऐसी स्थिति में त्याग और संग्रह परस्पर एक-दूसरे के पूरक और संरक्षक के रूप में कार्य करते हैं। पर दुर्भाग्य-

वश इस प्रसंग में ऐसा नहीं हुआ। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के द्वारा जो स्वागत किया गया वह राजोचित था। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ यदि चाहते तो एक त्यागी मुनि के रूप में कन्द-मूल-फल अथवा शाब्दिक अभिनन्दन के माध्यम से भी अपना समादर प्रकट कर सकते थे। पर उन्हें लगा कि अतिथि को उसकी रुचि के अनुकूल वस्तुओं के द्वारा समादृत और संतुष्ट किया जाना चाहिए, विशेष रूप से यदि आतिथेय के पास ऐसी क्षमता विद्यमान हो। महर्षि वशिष्ठ के पास ऐसी क्षमता थी। कामधेनु की पुत्री नन्दिनी उनके संकल्पों की पूर्ति में समर्थ थी। महर्षि वशिष्ठ ने अपनों तपस्या और साधना के द्वारा कामधेनु के उस प्रतिरूप को पा लिया था जिसमें उनकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य थी। पर वे उसका प्रयोग अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा की पूर्ति के लिए नहीं करते हैं। किन्तु वे जीवन के इस सत्य को भी स्वीकार करते हैं कि त्याग और तपस्या का जीवन बलपूर्वक सब पर आरोपित नहीं किया जाना चाहिए। उनके इस सद्भाव का गाधिनन्दन विश्वामित्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। नन्दिनी के उस चमत्कार को जानकर वे उसे पाने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। स्वभावतः व्यक्ति अपने अनुचित कार्यों के समर्थन में भी तर्क ढूंढ़ ही लेता है। राजा विश्वामित्र ने भी स्वयं को इसी प्रकार का भुलावा दिया। उन्हें लगा कि इस गाय की क्षमता का पूरा उपयोग इस आश्रम में सम्भव नहीं है, इसे तो राजगृह में ही होना चाहिए। उन्होंने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के समक्ष अपनी मांग रख दी और उधर से नकारात्मक उत्तर प्राप्त हुआ। यदि इस अस्वीकृति के बाद विश्वामित्र लौट जाते तो संघर्ष का उपशमन हो जाता। यहीं पर विश्वामित्र के चरित्र का एक ऐसा पक्ष सामने आता है जो प्रारम्भ में उनके द्वारा ऐसे अनेक कार्य कराता है जो किसी भी दृष्टि से औचित्यपूर्ण नहीं थे। पर उनकी यही प्रवृत्ति क्रमश. उन्हें आगे की ओर बढ़ाती है। उनकी यह प्रवृत्ति थी—संकल्प-पूर्ति की अदम्य आकांक्षा। साधारणतया व्यक्ति न जाने कितनी आकांक्षाएं करता है पर पूर्ति का मार्ग न देखकर चुप होकर बैठ जाता है। कुछ ऐसे भी होते हैं जो प्रारम्भ में बड़े उत्साह से आगे बढ़ते हैं पर बाद में अवरोध और कठिनाइयों से हार मान लेते हैं। किन्तु विश्वामित्र उन लोगों में से थे जो जीवन में प्रतिरोध आने पर और भी अधिक उत्साह से आगे बढ़ते हैं। नन्दिनी को पाने के लिए प्रारम्भ में वे भौतिक शक्तियों का आश्रय लेते हैं पर वशिष्ठ की आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष उन्हें पराभूत होना पड़ता है। वे हारकर भी हार को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ को उनके ही क्षेत्रों में पराजित करने का प्रयास किया। उन्होंने विशाल राज्य के प्रलोभन को ठुकरा दिया और तपस्या के पथ पर आरूढ़ हो गये। वे किसी भी दृष्टि से वशिष्ठ के समक्ष हीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। वर्ण की दृष्टि से उनका जन्म क्षत्रिय जाति में हुआ था, इस दृष्टि से वे ब्राह्मण वशिष्ठ की तुलना में न्यून थे। अतः उन्होंने जन्मना वर्ण व्यवस्था के स्थान पर कर्म के माध्यम से ब्राह्मण बनने का संकल्प ले लिया और अन्त में अपनी महती तपस्या के द्वारा इस असम्भव माने जाने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाया पर इतने मात्र से ही वे

संतुष्ट होकर बैठ नहीं गये। उनकी तपस्या का अबाध क्रम चलता रहा, बार-बार इस पथ में अवरोध और पराजय के क्षण आते रहे पर विश्वामित्र रुककर पुनः आगे बढ़ते हुए ही दिखाई पड़े। त्रिशंकु के सन्दर्भ में उन्होंने अपनी नयी सृष्टि की रचना की सामर्थ्य को प्रकट कर दिया। अपनी अलौकिक साधना के द्वारा मंत्रद्रष्टा ऋषि बने, और इस तरह प्रारम्भ में अनगढ़ शिला के रूप दिखायी देने वाला उनका चरित्र क्रमशः निखरता ही गया। पर उनके चरित्र की समग्रता और चरमोत्कर्ष के क्षण भगवान राम के अवतार के बाद ही आये।

मानस में उनका परिचय सर्वप्रथम एक ऐसे महापुरुष के रूप में आता है जो निरन्तर अपनी तपस्या और साधना में संलग्न रहता है, जिनके विशाल आश्रम में तपस्या, योग और यज्ञ का क्रम चलता ही रहता है। पर उनके इस साधना क्रम में असुरों के द्वारा विघ्न पड़ने लगा। जहां तक साधना के वैयक्तिक स्वरूप का प्रश्न था वहां कोई विशेष समस्या न थी। योग, जप और ध्यान जैसी वैयक्तिक साधनाएं अवाध गति से चलती जा रही थीं, पर सामूहिक रूप से किये जाने वाले यज्ञ राक्षसों के द्वारा विनष्ट कर दिये जाते थे। विश्वामित्र के स्थान पर कोई अन्य मुनि होता तो वह सम्भवतः अपनी साधना पद्धति में संशोधन कर लेता, चुप मार कर बैठ जाता पर विश्वामित्र तो प्रकृति से ही दूसरी धातु के बने हुए थे। वे यज्ञ-पूर्ति का दृढ़ निश्चय कर चुके थे और तब उन्होंने वह मार्ग ढूंढ़ लिया जो न केवल उनके लिए अपितु विश्व-मंगल के लिए अपेक्षित था। और इस तरह उनका विश्वामित्र नाम पूरी तरह सार्थक हो गया। मानस में उनका शव्द-चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।
बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।
अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥
देखत जग्य निसाचर धावहिं।
करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥
गाधितनय मन चिन्ता ब्यापी।
हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥
तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा।
प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥

समाधि के माध्यम से वे इस सत्य का साक्षात्कार कर लेते हैं कि इन असुरों का विनाश ईश्वर के जिस स्वरूप के माध्यम से होगा वह सूर्यवंश में अवतरित हो चुका है। यहीं से महर्षि के मन में भक्ति की रसवन्ती धारा प्रवाहित हो जाती है। ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति का यह सामंजस्य उनके जीवन में परिपूर्णता की सृष्टि करता है। भक्ति के इस प्रवाह ने उनके अन्तःकरण में ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के प्रति छिपे हुए द्वेष के संस्कार को पूरी तरह विनष्ट कर दिया। आज वे पुनः याचक

वनकर वशिष्ठ के शिष्य को मांगने जा रहे थे। पर आज उनके मन में रंचमात्र भी यह आशंका नहीं थी कि वशिष्ठ की ओर से नकारात्मक उत्तर प्राप्त होगा। इस तरह कामधेनु की याचना से जिस विग्रह का प्रारम्भ हुआ था उसका उपशमन ईश्वर की याचना से हुआ। भगवान राम की तुलना कामद रूप में कोटि-कोटि कामधेनुओं से की गयी है :

> कामधेनु सत कोटि समाना।
> सकल कामदायक भगवाना॥

यद्यपि उन्होंने क्षत्रिय से ब्राह्मण वनने के लिए अथक प्रयास किये थे पर आज क्षत्रिय वंश में उत्पन्न ईश्वर को पा लेने में ही वे सच्चे गौरव का अनुभव कर रहे थे। अयोध्या में उनका भव्य स्वागत हुआ। महाराजश्री दशरथ ने अतुलनीय अतिथि के रूप में उनका सत्कार किया। अपने सौभाग्य की सराहना करते हुए वे महर्षि से शुभागमन के कारण के विषय में जिज्ञासा प्रकट करते हैं। उन्होंने वड़े उत्साह से यह आश्वासन दिया कि उनकी आकांक्षा तत्काल पूर्ण की जाएगी। उन्हें उस समय क्या पता था कि यह महात्यागी याचक कितनी वड़ी वस्तु की याचना करने के लिए आया हुआ है? ऐसा महापुरुष जिसने संग्रह और त्याग दोनों ही प्रकार के जीवनों को भली भांति जिया हो वह किसी भौतिक वस्तु की कामना लेकर आ भी कैसे सकता था? महर्षि विश्वामित्र यह भली भांति जानते थे कि उनकी अभीप्ट वस्तु को दे पाना महाराज के लिए सरल नहीं होगा। महाराज श्री दशरथ के वात्सल्य से परिचित होने में उन्हें विलम्ब नहीं लगा। उन्हें यह भी भली भांति ज्ञात था कि दशरथ राघवेन्द्र के ईश्वत्व से परिचित नहीं हैं। किन्तु उनके सामने समस्या यह थी कि क्या वे पहले दशरथ को राम के ईश्वरत्व का परिचय देकर तव उनके सामने अपना प्रस्ताव रखें, अथवा इसके विना ही अपनी मांग को महाराज के समस्त प्रस्तुत कर दें। उन्होंने दूसरे पक्ष का ही चुनाव किया। यह उनके अन्तःकरण में उदित गुरु वशिष्ठ के प्रति समादर और सद्भाव का परिचायक था। उन्हें लगा कि यदि राम के ऐश्वर्य ज्ञान की अपेक्षा है तो उस ज्ञानदान के उपयुक्त अधिकारी ब्रह्मर्षि वशिष्ठ हैं। अपने पूर्वजन्म में वशिष्ठ की तुलना में अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अगणित प्रयास किये थे, पर आज उस आकांक्षा का पूरी तरह उपशमन हो चुका था। वे गुरु वशिष्ठ का गौरव सुरक्षित रखने के लिए व्यग्र थे। इसलिए उन्होंने वड़े ही संक्षिप्त शब्दों में अपनी मांग महाराज के सामने रख दी। उसमें प्रेरणा थी और चेतावनी का स्वर भी। याचक के दैन्य के स्थान पर उसमें सुदृढ़ संकल्प और स्वाभिमान था :

> एहूँ मिस देखौं पद जाई।
> करि बिनती आनौं दोउ भाई॥
> ग्यान बिराग सकल गुन अयना।
> सो प्रभु मैं देखब भरि नयना॥

बहुबिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरऊ जल गए भूप दरबार॥
मुनि आगमन सुना जब राजा।
मिलन गयउ लै बिप्र समाजा॥
करि दंडवत मुनिहि सनमानी।
निज आसन्ह बैठारेन्हि आनी॥
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा।
मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा।
मुनिवर हृदयँ हरष अति पावा॥
पुनि चरननि मेले सुत चारी।
राम देखि मुनि देह बिसारी॥
भए मगन देखत मुख सोभा।
जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥
तब मन हरष बचन कह राऊ।
मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा।
कहहु सो करत न लावउँ बारा॥
असुर समूह सतावहिं मोही।
मैं जाचन आयउँ नृप तोही॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा॥
देहु भूप मन हरषित तजहु सोह अग्यान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान॥

जैसी कि कल्पना की जा सकती थी महाराज दशरथ का वात्सल्य उस प्रस्ताव की स्वीकृति में आड़े आता है। वे बड़े ही स्पष्ट शब्दों में महर्षि के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देते हैं। विश्वामित्र के चरित्र के जो चित्र पुराणों में उपलब्ध हैं उनमें उनके सहिष्णु रूप का परिचय नहीं प्राप्त होता। बार-बार ऐसी घटनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जहां वे अपने संकल्प और विचार के विरुद्ध कोई बात सुनते ही क्रुद्ध हो उठते हैं, शाप दे देते हैं। पर आज उनमें एक अनोखा बदलाव आ गया है। क्रुद्ध होना तो दूर महाराज श्री दशरथ की वाणी और वात्सल्य में वे रस लेते हैं। यह परिवर्तन ही उनके अन्तःकरण में भक्ति से उत्पन्न होने वाली द्रवता का परिचय देता है। जिन्होंने कभी अपने आदेश की अस्वीकृति में वशिष्ठ के पुत्रों को विनष्ट कर दिया था, और जो ऐसे ही एक अवसर पर अपने पुत्रों को भी शाप देने में विलम्ब नहीं करते हैं। उनका यह बदलाव, उनमें शील की यह सृष्टि 'केवल भक्ति की ही देन है' यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है। आज

स्वर्ण में सुगन्ध का उदय हुआ :

सुनि राजा अति अप्रिय बानी।
हृदय कंप मुखदुती कुम्हलानी॥
चौथेंपन पायउँ सुत चारी।
विप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा।
सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।
कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा॥
सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी।
हृदयँ हरष माना मुनि ग्यानी॥

इस अवसर पर जैसा उन्होंने सोचा था वैसा ही हुआ। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने अपनी दिव्य वाणी के द्वारा दशरथ के हृदय में उदित वात्सल्य-जनित अज्ञान को दूर कर दिया। उन्होंने दशरथ को यह प्रेरणा दी कि वे इस दान में धन्यता का अनुभव करें तथा पुत्रों को महर्षि विश्वामित्र को सौंप देने में किसी प्रकार की आनाकानी न करें। वस्तुतः ब्रह्मर्षि वशिष्ठ सच्चे पारखी थे, और उन्हें यह भली भांति ज्ञात था कि राघवेन्द्र के द्वारा जो महान् कार्य सम्पन्न होने हैं उनमें परदे के पीछे उनकी भूमिका समाप्त हो चुकी है। अब विश्व के रंगमंच पर रामभद्र के दिव्य अवतरण का कार्य विश्वामित्र के द्वारा ही सम्पन्न होना चाहिए। विश्वामित्र के चरित्र में क्षात्र और ब्रह्म तेज का जो अद्‌भुत सामंजस्य था आज उसके सदुपयोग का सुअवसर आ गया है। उन्होंने राघव को शास्त्र और शस्त्र दोनों में ही निपुण बनाने का प्रयत्न किया था। पर उन्हें लगा कि इसका उपसंहार विश्वामित्र के द्वारा ही हो सकता है।

महर्षि विश्वामित्र की आकांक्षा पूर्ण हुई और वे राम-लक्ष्मण को लेकर प्रसन्नतापूर्वक अपने आश्रय की ओर चले। जिस समस्या के समाधान के लिए वे इन दोनों वीरों को ले जा रहे थे उसके कारणों में से प्रमुख कारण सामने आ गया। मारीच और सुबाहु जैसे दुर्धर्ष राक्षसों को जन्म देने वाली ताड़का सामने आ गयी। हिंस्र प्रकृति की यह राक्षसी स्वयं तो मुनियों को विनष्ट करने पर तुली ही रहती थी, अपने पुत्रों को भी यज्ञ के विनाश और मुनियों को संत्रस्त करने के लिए प्रेरित करती रहती थी। विश्वामित्र को इन तेजस्वी राजकुमारों के साथ वन-पथ में आते हुए देखकर उसका क्रोध उमड़ पड़ता है। अपने तथा पुत्रों के सम्मिलित प्रयास के पश्चात् भी महर्षि के मनोबल को तोडने में वह समर्थ नहीं हुई थी। अतः आज जब

उसने उन्हें दिव्य धनुर्धरों के साथ आते हुए देखा तव उसका उत्तेजित हो उठना स्वाभाविक ही था। आक्रमण-मुद्रा में वह तेजी से विश्वामित्र की ओर दौड़ती है। अविचलित विश्वामित्र राघवेन्द्र को तत्काल उसपर वाण चलाने का आदेश देते हैं। महर्षि विश्वामित्र के समक्ष हिंसा, अहिंसा, नारी, पुरुष आदि के अनेक प्रश्न विद्यमान थे। वे स्वयं भी शस्त्र-ज्ञान और अलौकिक क्षमताओं से युक्त थे। अपने जीवन के पूर्वार्ध में वशिष्ठ के समक्ष शस्त्रों की व्यर्थता देखकर वे उनसे उदासीन हो गये थे। क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने के प्रयास में वे हिंसा धर्म का परित्यागकर अहिंसा व्रत में आरूढ़ होते हैं। तपस्या के द्वारा वे आलौकित क्षमताएं प्राप्त करते हैं। राक्षसों के विरुद्ध वे इनका प्रयोग कर सकते थे, किन्तु उन्होंने व्रत की दृष्टि से इसे उपयुक्त नहीं समझा। पर जब राक्षसों के द्वारा कठोर अत्याचार हो रहा हो तव उनके समक्ष यह प्रश्न था कि स्वयं उनका कर्त्तव्य क्या है? ऐसी स्थिति में अहिंसा व्रत में आसीन रहकर सामाजिक समस्याओं से उदासीन हो जाने से हिंसा को ही वल प्राप्त होता था। अतः जव अहिंसा की उदासीनता हिंसा को वल दे रही हो उस समय वास्तविक धर्म क्या है? स्वयं हिंसा में आरूढ़ होकर हिंसा का प्रतिरोध करने पर तो अहिंसा की अक्षमता का ही प्रचार होता। ऐसी स्थिति में हिंसा-अहिंसा को लेकर एक जटिल प्रश्न उनके समक्ष विद्यमान था। इन दोनों में संतुलन का उचित मार्ग महर्षि ने खोज लिया। उन्होंने अपने अनुभवों से यह भली भांति समझ लिया था कि अहिंसा केवल वैयक्तिक धर्म हो सकता है, किन्तु अहिंसा की वैयक्तिक पूर्णता भी इतनी सरल नहीं है। फिर विविध स्वभाव वाले व्यक्तियों से निर्मित समाज के लिए तो यह कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है। इसलिए वैयक्तिक रूप से स्वयं अहिंसा व्रत में आरूढ़ होते हुए भी लोक-रक्षण के लिए हिंसा धर्म को स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। पर हिंसा का यह प्रयोग उसी व्यक्ति के द्वारा किया जाना चाहिए जो स्वयं हिंसा-प्रिय न हो। इस दृष्टि से रामभद्र से वढ़कर उपयुक्त कोई अन्य व्यक्ति उनकी दृष्टि में नहीं आता। इसीलिए ताड़का पर प्रहार करने के लिए राघव को आदेश देने में वे विलम्ब नहीं करते हैं। उनका यह निर्णय सर्वथा उपयुक्त सिद्ध हुआ। राघवेन्द्र भी उनका आदेश पालन करने में विलम्ब नहीं करते और एक ही वाण से ताड़का का वध कर देते हैं। महर्षि विश्वामित्र के उपयुक्त शिष्य के रूप में रामचन्द्र भी सच्ची धर्मज्ञता का परिचय देते हैं। साधारणतया स्त्री अवध्या मानी जाती है। क्षत्रिय नारी पर प्रहार नहीं करता है। अतः यह द्विविधा राघव को कठिनाई में डाल सकती थी। पर ऐसा नहीं हुआ क्योंकि वे भी धर्म के मर्म से भली भांति परिचित थे। नारी को अवध्या मानने के पीछे कुछ विशिष्ट भाव हैं। यह छूट उसे अवला और कोमल मानकर ही दी गयी है। पर जब नारी स्वयं अपने नारीत्व में स्थित न हो तब भी क्या वह इस छूट की अधिकारिणी हो सकती है? विश्वामित्र और राम दोनों ही इसका नकारात्मक उत्तर देते हैं। सवला और हिंसा से भरी हुई ताड़का अपनी क्रूरता के कारण इस छूट का अधिकार खो बैठती है।

राघवेन्द्र के द्वारा बिना किसी हिचकिचाहट के इस आदेश के स्वीकार कर लिए जाने से महर्षि विश्वामित्र का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। पर उनकी दिव्य दृष्टि ने राम को केवल एक आज्ञाकारी शिष्य के रूप में ही नहीं देखा। वे उस दिव्य दृश्य को भी देख सके जो ताड़का के वध के बाद सम्पन्न हुआ था। रामभद्र के द्वारा केवल ताड़का का वध ही नहीं हुआ था। उसकी चरम परिणति ताड़का की मुक्ति में हुई थीं :

एकहि बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

यह श्री राम के ईश्वरत्व का परिचय था। जिसमें कठोरता के अन्तराल में कृपा का साक्षात्कार होता है। यद्यपि वे लोक-मंडल के लिए ताड़का पर प्रहार करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते हैं, पर विश्व-हित का संकल्प पूर्ण करते हुए ताड़का को भुला नहीं बैठते हैं। ताड़का पर प्रहार करने में भी उनके अन्तःकरण की कोमलता और सद्भावना का परिचय प्राप्त होता है। वे इस प्रहार के द्वारा वस्तुतः उसे न केवल भूतकालीन पापों से ही मुक्त कर देते हैं अपितु उसके द्वारा आगे होने वाले अगणित हिंस्र कार्यों से भी उसे बचा लेते हैं। महर्षि के पवित्र अन्तःकरण में ईश्वर के प्रति समर्पण का पवित्र संकल्प जागृत होता है और वे उसे शास्त्र और शस्त्र-ज्ञान के समर्पण के माध्यम से साकार करते हैं। साधारणतया जब व्यक्ति किसी को कुछ देता है तब उसके मन में आत्मगौरव की अनुभूति होती है। गुरु के मन में शिष्य को विद्या देते समय इस प्रकार की अनुभूति होना स्वाभाविक है। एक नदी प्यासे को पानी पिलाकर प्रसन्नता का अनुभव करती होगी, कविता की भाषा में ऐसा कहा जा सकता है। पर थोड़े जल के दान से संतुष्ट होने वाली वह नदी जब अपने समग्र जल प्रवाह को समुद्र के प्रति अर्पण करती है तब उसे कैसा प्रतीत होता होगा? क्या उसे दान के आत्मगौरव का अनुभव होना सम्भव है? इसका उत्तर सर्वथा नकारात्मक ही होगा। इसे यों भी कह सकते हैं कि सबको तृप्ति देने वाली नदी समुद्र को पाकर स्वयं तृप्त हो जाती है। श्री राम को शस्त्र और शास्त्र-ज्ञान अर्पित करते हुए महर्षि की मनःस्थिति भी कुछ इसी प्रकार की रही होगी। यह शस्त्र और शास्त्र-ज्ञान देकर शिष्य को पूर्णता प्रदान करने का प्रश्न नहीं था। यह तो स्वयं महर्षि की परिपूर्णता और तृप्ति का दिव्य अवसर था। हजारों वर्षों से अगणित शिष्यों को ज्ञान दान देते हुए महर्षि आज इस अद्भुत शिष्य को सर्वस्वार्पण करते हुए कृत्यकृत्यता का अनुभव करते हैं। निम्न-लिखित पंक्तियों में गोस्वामी जी ने इस दिव्य अनुभव का वर्णन किया है :

चले जात मुनि दीन्हि देखाई।
सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

तब रिषि निज नार्थाहि जियँ चीन्हीं।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्हीं॥
जाते लाग न छुधा पिपासा।
अतुलित बल तनु तेज प्रकासा॥
आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आनि।
कंदमूल फल भोजन दीन्ह भगति हित जानि॥

दूसरे दिन यज्ञभूमि पर ही राघवेन्द्र और लक्ष्मण के द्वारा उस राक्षसी सेना का विनाश कर दिया जाता है जो मुनि-मंडली को निरंतर त्रास देती रहती थी। और इस तरह महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण हुआ। यदि महर्षि का उद्देश्य इतना ही होता तो वे इन दोनों राजकुमारों को अयोध्या पहुंचा आते पर उनके यज्ञ का विस्तार वहुत आगे तक था। वे सच्चे अर्थों में विश्व के मित्र थे और उनकी दूर-दृष्टि उस दिन पर थी जव केवल उनके आश्रम में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में यज्ञ धर्म को पूर्णता प्राप्त होगी। इसीलिए वे राम और लक्ष्मण को जनकपुर की ओर चलने की प्रेरणा देते हैं। महाराज श्री जनक ने स्वयंवर सभा आयोजित की थी, जिसके माध्यम से वे अपनी कन्या के लिए उपयुक्त वर की खोज कर रहे थे। किन्तु महर्षि इसे स्वयंवर-सभा के रूप में नहीं देखते हैं, उनकी दृष्टि में यह यज्ञ था। इससे विश्वामित्र की यज्ञ के प्रति व्यापक दृष्टि का पता चलता है। उनकी दृष्टि में यज्ञ केवल कर्मकाण्ड की प्रक्रियामात्र नहीं था। वस्तुतः वे विश्व के समस्त क्रियाकलापों में यज्ञ-भावना का विस्तार देखना चाहते थे। इस प्रसंग में भी विश्वा-मित्र के पुरातन रूप का स्मरण हो आता है। पहले भी वे यज्ञ के महान् विशेषज्ञ रूप में विख्यात थे। उस समय भी अनेक राजा उनसे यज्ञ के आचार्यत्व का अनुरोध करते थे और वे उसे स्वीकार कर पूर्णता तक पहुंचाते थे। पर उस समय अनेक ऐसे अवसर आये जव उन्होंने वशिष्ठ की स्पर्धा में यज्ञों का आचार्यत्व स्वीकार किया। विशेष रूप से जिस यज्ञ का आचार्यत्व वशिष्ठ अस्वीकार करते थे उसे स्वीकार कर लेने में उन्हें प्रसन्नता का अनुभव होता था। इस तरह उन यज्ञों में व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं का प्रश्न जुड़ जाता था। वे यज्ञ, यज्ञ होते हुए भी यज्ञ-भावना की पूर्णता को प्रकट नहीं करते थे। पर आज महर्षि के जीवन में जो परिवर्तन हुआ उसमें व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा का कोई प्रश्न शेष नहीं रह गया। वे स्वयंवर को भी दिव्य यज्ञ का रूप प्रदान करते हुए रामभद्र से जनकपुर चलने का अनुरोध करते हैं। यदि उनकी दृष्टि में वह केवल स्वयंवर-सभा होती तो वे कदापि अना-मंत्रित राम और लक्ष्मण से वहां चलने का अनुरोध न करते।

वे यह भली भांति जानते थे कि जनकपुर में सम्पन्न होने वाला विवाह साधा-रण विवाहों जैसा नहीं है। यद्यपि वैदिक विधि से सम्पन्न होने वाले विवाह भी यज्ञ-भावना के अन्तर्गत ही आते हैं किन्तु उनका उद्देश्य मुख्यतः काम को नियंत्रित रूप देकर समाज को सुव्यवस्था प्रदान करना रहता है। मानव-मन में वासना के प्रति जो अमित आकर्षण है वह नियंत्रण के अभाव में विकृति और संघर्ष को जन्म

देता है। वह वेगवती बाढ़ वाली नदी के समान सामाजिक मर्यादा के कूल-कगारों को विनष्ट करने पर तुल जाती है। 'धर्म' घाट के रूप में उस प्रवाह को रोकने का प्रयास करता है। साथ ही विवाह के माध्यम से वासना की पूर्ति का अवसर देने का भी प्रयास करता है। पर जनकपुर में सम्पन्न होने वाला विवाह इससे बहुत ऊपर है। महर्षि विश्वामित्र ने इसे धनुषयज्ञ का नाम देकर इसकी गम्भीर अर्थवत्ता की ओर संकेत किया :

प्रात कहा मुनि सन रघुराई।
निर्भय जग्य करहु तुम जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी।
आपु रहे मख की रखवारी॥
सुनि मारीच निसाचर कोही।
लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥
विनु फर वान राम तेहि मारा।
सत जोजन गा सागर पारा॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा।
अनुज निसाचर कटकु सँघारा॥
मारि असुर द्विज निर्भय कारी।
अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया।
रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना।
कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥
तब मुनि सादर कहा बुझाई।
चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥
धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा।
हरषि चले मुनिवर के साथा॥

जनशून्य आश्रम में पड़ी हुई अभिशप्ता पाषाणी अहिल्या के विषय में प्रश्न किये जाने पर महर्षि ने उसका परिचय जिन शब्दों में दिया उनसे उनकी व्यापक और उदार दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। वहिरंग दृष्टि से अहिल्या पतिव्रत से च्युत हो चुकी थी और इस अपराध के कारण ही उसे परित्यक्ता वन कर शिला के रूप में निर्जन वन में पड़े रहने का शाप मिला था। पर महर्षि विश्वामित्र दण्ड के स्थान पर उसे करुणा का पात्र समझते हैं। अपनी कठिन तपस्या के काल में उन्होंने स्खलन के क्षणों का भी अनुभव किया था। वे वासना के आकर्षण से भी भली भांति परिचित थे। विश्व में अनगिनत ऐसे व्यक्ति होते हैं जो स्वयं में त्रुटियों के पुंज होते हुए भी दूसरों के चरित्र की समीक्षा सूक्ष्मतम माप-दण्डों से करते हैं। मर्यादा की दुहाई देते हुए न्याय और दण्ड का समर्थन करते हैं किंतु वैसी ही परि-

स्थितियों में स्वयं के लिए दया की याचना करते हैं। महर्षि विश्वामित्र का चरित्र इनसे सर्वथा भिन्न है। ताड़का के प्रसंग में जिस तरह उन्होंने दण्ड का आदेश दिया था उससे ऐसा लगता है कि वे मर्यादा, न्याय और दण्ड के पक्षधर हैं पर अहिल्या के प्रसंग में उनका सर्वथा भिन्न रूप सामने आता है। यहां वे करुणा का समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। व्यवहार की इस भिन्नता का रहस्य क्या है ? इस पर दो विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। अपराध और पापों को वे दो अलग-अलग रूपों में विभाजित करते हैं। कुछ पाप और अपराध ऐसे होते हैं— जिनमें अपराध करने वाला व्यक्ति अपनी ही हानि करता है पर कुछ लोगों का अपराध समाज के लिए अभिशाप वन जाता है। यह अंतर ताड़का और अहिल्या के चरित्र में विद्यमान है। अहिल्या अपनी त्रुटि के लिए स्वयं कष्ट पाती है, पर ताड़का दूसरों को कष्ट पहुंचाती है। इसलिए उनकी दृष्टि में यदि अहिल्या करुणा की पात्र है तो ताड़का दण्ड की। यहां उनके चरित्र में राजा की नीतिमत्ता और संत की कोमलता का समन्वय दिखाई देता है। वैसे महर्षि की आध्यात्मिक दृष्टि पर विचार करने से इसे भिन्न रूप में भी देखा जा सकता है। विश्वामित्र राम के ईश्वरत्व से भली भांति परिचित हैं। इसलिए दण्ड और करुणा दोनों के माध्यम से ताड़का और अहिल्या दोनों को ही वे हरिपद की उपलब्धि करा देते हैं :

ताड़का { एकहि बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

अहिल्या { गौतम नारि श्राप बस उपलदेह धरि धीर।
चरनकमल रज चाहति कृपा करहु रघुवीर॥

इस तरह महर्षि की प्रेरणा से इस यात्रा का श्रीगणेश ही उद्धार से होता है। अहिल्या और गौतम पुनः एक दूसरे को प्राप्त कर लेते हैं। ताड़का-संहार और अहिल्या-उद्धार दोनों ही प्रसंगों में रामभद्र बिना किसी झिझक के गुरुदेव के आदेश का पालन करते हैं। इससे विश्वामित्र के विवेक के प्रति राम के हृदय में प्रगाढ़ विश्वास का परिचय प्राप्त होता है। वध और दया के पीछे बहुधा द्वेष और राग की प्रवृत्तियां ही प्रेरक के रूप में कार्य करती हैं किंतु महर्षि का अन्तःकरण राग और द्वेष से शून्य हो चुका है। वे उस वैद्य के समान हैं जो कड़वी अथवा मीठी औषधि देते समय पक्षपात से प्रेरित नहीं होता है। रोग और रोगी की भिन्नता को दृष्टिगत रखकर वह समान रूप से हितबुद्धि का प्रयोग करता है।

विश्वामित्र मुनिमण्डली और दोनों राजकुमारों के साथ जनकपुर पहुंच जाते हैं। यहां पर वे अयोध्या से भिन्न प्रकार की व्यवहार-पद्धति का आश्रय लेते हैं। अयोध्या में जहां वे सीधे दशरथ के राजद्वार पर पहुंच गये वहां जनकपुर पहुंच कर भी वे नगर के बाहर अमराई में ही डेरा डाल देते हैं। उद्देश्य की भिन्नता के कारण ही महर्षि ने पृथक् व्यवहार किया। अयोध्या में वे मुनि और अतिथि के रूप में सीधे राजदरबार में पहुंच जाते हैं। यहां भी मुनि मण्डली के साथ आये होते तो

उसी प्रकार का व्यवहार करते, पर यहां वे अयोध्या की तरह याचक वनकर नहीं अपितु दाता वनकर आए थे। महाराज जनक एक ऐसे महापुरुष थे जिनके पास वहुधा याचक आया ही करते थे। वे भौतिक और पारमार्थिक दोनों ही वस्तुओं के वितरण में समर्थ थे। उनके ऐश्वर्य का स्मरण मैथिली ने इन शव्दों में किया था :

पिता जनक देउँ पटतर केही।
करतल जोग भोग जग जेही॥

× × ×

पितु वैभव विलास मैं डीठा।
नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा॥

किन्तु महर्षि विश्वामित्र राम के रूप में साक्षात् सगुण व्रह्मतत्त्व को लेकर आये हुए थे। तत्त्वज्ञ जनक ने जिस व्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन सर्वथा अदृश्य और अगोचर के रूप में किया था उसे ही आज जनक को दृष्टिगोचर कराने में विश्वामित्र समर्थ थे। इसलिए उन्होंने यह निर्णय किया कि आज स्वयं जनक को चलकर यहां तक आना चाहिए, और दिव्य व्रह्म का साक्षात्कार कर कृतकृत्यता का अनुभव करना चाहिए। इन दोनों महापुरुषों का मिलन हर दृष्टि से अनोखा था। इस प्रसंग में महर्षि की प्रस्तुतीकरण की कला का भी अच्छा परिचय प्राप्त होता है। अच्छे से अच्छा नाटक भी प्रस्तुत करने की कला के अभाव में उपयुक्त प्रभाव नहीं डाल पाता है। एक चतुर सूत्रधार अभिनेता को ऐसे रूप में प्रस्तुत करता है कि जिसे अचानक देखकर दर्शक चमत्कृत हो जाता है। विश्वामित्र ने अपनी नाटकीय कला के ज्ञान का वड़ा ही उत्कृष्ट परिचय दिया। एक ओर वे राघवेन्द्र को पुष्पवाटिका देख आने का आदेश देते हैं, इसलिए जव महाराज जनक महर्षि विश्वामित्र का स्वागत करने के लिए आये उस समय राम और लक्ष्मण वहां नहीं थे। महर्षि और महाराज के मिलन के पश्चात् जव सारा समाज शान्त होकर बैठ गया उसी समय दोनों भाई वाटिका देख कर लौट आए। रामभद्र और लक्ष्मण के आते ही वहां एक अद्भुत दृश्य उपस्थित हो गया। न जाने किस अज्ञात प्रभाव से सम्मोहित सारा समाज उनके स्वागत में उठ खड़ा हुआ। सभी की दृष्टि इन अज्ञात कुलशील राजकुमारों की ओर उठ गयी, और वे सब के सब अपलक इस अप्रितम सौन्दर्य का रसपान करने लगे। यह सारा दृश्य अलौकिक और अभूतपूर्व था। पर जो कुछ हुआ वह महर्षि विश्वामित्र की कल्पना के अनुरूप ही था। वस्तुत: इसी दृश्य का आनन्द लेने के लिए ही उन्होंने इन दोनों राजकुमारों को कुछ समय के लिए वहां से दूर भेज दिया था। यदि वे वहां पहले से विद्यमान होते तो उन्हें उठकर महाराज श्री जनक का स्वागत करना पड़ता। इस सब में स्वयं श्री राम को आपत्ति न होती, वे प्रसन्नतापूर्वक राजर्षि का स्वागत करते किन्तु महर्षि को यह अभीष्ट न था। वे औपचारिकता की पद्धति से श्री राम और लक्ष्मण का परिचय नहीं देना चाहते थे। औपचारिक परिचय के पश्चात् श्री राम का जो सत्कार होता वह चक्रवर्ती सम्राट् के पुत्र के रूप में ही किया जाता। इस तरह जहां एक ओर इस प्रसंग में नाटकीय

प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, वहीं इसके पीछे महर्षि के दार्शनिक उद्देश्य की भी सिद्धि होती है। यह निर्गुण निराकार ब्रह्मनिष्ठ जनक के समक्ष सगुण साकार-ईश्वर की महिमा का बोधक था। वे राजर्षि जनक को यह दिखला देना चाहते थे कि जहां निर्गुण-निराकार ब्रह्म अन्तर्यामी होते हुए भी अपनी उपस्थिति का भान नहीं करा पाता, वहां सगुण साकार ईश्वर का आकर्षण अनजाने व्यक्तियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। जहां निराकार ब्रह्म की अनुभूति मैं इन्द्रियों का कोई उपयोग नहीं है, इन्द्रिय-निग्रह और अन्तर्मुखता के द्वारा ही उसका अनुभव किया जा सकता है, वहां वहिर्मुख व्यक्ति भी अपनी दृष्टि के द्वारा सगुण ईश्वर की रसानुभूति करता हुआ हुआ धन्य हो जाता है। विश्वामित्र के विचारों की विजय हुई और राजर्षि जनक के स्पष्ट शब्दों में अपने विचार-परिवर्तन को स्वीकार कर लिया। भावना से भरे हुए स्वर में उन्होंने एक जिज्ञासु के रूप में महर्षि से प्रश्न किया कि यह दोनों राजकुमार कौन हैं? क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि कोई पार्थिव पदार्थ उन्हें इस तरह अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता था। उनका विरागी मन रागान्वित हो उठा था। इस जिज्ञासा के साथ वे अपनी यह धारणा भी प्रकट कर देते हैं कि साक्षात् ब्रह्म ही आज दो रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है। निम्नलिखित पंक्तियों में यही दृश्य मूर्त हो रहा है:

तेहि अवसर आए दोउ भाई।
गए रहे देखन फुलवाई॥
स्याम गौर मृदु बयस किसोरा।
लोचन सुखद बिस्व चितचोरा॥
उठे सकल जब रघुपति आए।
बिस्वामित्र निकट बैठाए॥
भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता।
बारि बिलोचन पुलकित गाता॥
मूरति मधुर मनोहर देखी।
भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

प्रेम मगन मनु जानि नृप करि बिबेकु धरि धीर।
बोले मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिराग रूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।
कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।।

जनक की इस भाव-विह्वलता और उसकी स्वीकृति से महर्षि विश्वामित्र को अपार प्रसन्नता की अनुभूति हुई। इस प्रसंग में महर्षि विश्वामित्र के एक नये रूप का भी साक्षात्कार होता है। एक तपस्वी मंत्र-द्रष्टा महामुनि के रूप में तो उनकी ख्याति थी ही पर भक्तिरस के प्रचारक के रूप में उनका यह रूप सर्वथा अनोखा था। ऐसा लगता है कि जैसे उन्हें ज्ञान-सूर्य की गरिमा के साथ भक्ति की शीतलता के समन्वय के द्वारा जिस रस की अनुभूति हुई है वे दूसरों को भी उसका अनुभव कराना चाहते हैं। उन्हें स्पष्ट रूप से ऐसा प्रतीत होने लगा था कि मानवीय जीवन में उठने वाली समस्याओं का सच्चा समाधान भक्ति के द्वारा ही संभव है। योग और विज्ञान कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही सन्तुष्ट कर सकते हैं। राजर्षि जनक जैसे विचारक की यह आत्म-स्वीकृति उन्हें अत्यन्त सन्तोष प्रदान करती है। और उस समय वे धीर, गंभीर तपस्वी के स्थान पर विनोदभरे भावुक वक्ता के रूप में सामने आते हैं। वे प्रारंभ में राजर्षि जनक की उस पैनी दृष्टि की सराहना करते हैं जिसने क्षण भर में ही सत्य का साक्षात्कार कर लिया था। उन्मुक्त हास्य उनके मुख-मंडल पर फूट पड़ा और उन्होंने इन शब्दों में जनक की सराहना की : राजर्षि, आपकी वाणी मिथ्या कैसे हो सकती है वस्तुतः यह संसार के समस्त प्राणियों के प्रिय है :

कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका।
बचन तुम्हार कि होइ अलीका।।
ए प्रियसबहिं जहाँ लगि प्रानी।
मन मुसकाहिं रामु सुनु बानी।।

महर्षि और राजर्षि के इस वार्तालाप में कौशलेन्द्र को आनन्द की कम अनुभूति नहीं होती है। उनका आनन्द मुस्कराहट के रूप में उनके होंठों पर झलक आता है। पर उस मुस्कराहट में महर्षि से छिपा हुआ अनुरोध भी था। राघवेन्द्र को लगा कि यदि वे इस प्रकार विचार के केन्द्र वन बैठें तो लीला का सारा रस ही समाप्त हो जाएगा। वे एक राजकुमार और शिष्य के रूप में गुरुदेव की सेवा का आनन्द लेना चाहते थे। महाराज जनक की वात्सल्य भरी दृष्टि भी उन्हें अभीष्ट थी, इसलिए वे यह नहीं चाहते थे कि अब उनकी महिमा का और अधिक विस्तार किया जाय। मुस्कराहट में छिपे हुए इस संकेत को महर्षि तत्काल समझ लेते हैं और वे अपने अगले वाक्यों में राजर्षि को ऐश्वर्य के शिखर से उतारकर माधुर्य की उपत्यका में पहुंचा देते हैं। और यह ठीक भी था, पर्वत के शिखर पर पहुंचने का अनुभव कितना भी रोमांचकारी क्यों न हो अन्त में उतर कर आना उपत्यका में ही पड़ता है। महर्षि ने व्यावहारिक परिचय के माध्यम से इसी भूमिका को पूरा किया :

रघुकुल मनि दसरथ के जाए।
मम हित लागि नरेस पठाए।।

राम लखन दोउ बंधुबर रूप सील बल धाम।
मख राखेउ सब साखि जगु जिते असुर संग्राम॥

जनकपुर में महर्षि विश्वामित्र का एक और मधुर चित्र तब सामने आता है जब रामभद्र उनसे नगर देखने का आदेश मांगते हैं। लक्ष्मण के अन्तःकरण में विदेह-नगर को देखने की उत्कट आकांक्षा थी। लक्ष्मण उसे स्वतः न कहकर राम की ओर देखकर मुस्कराकर अपनी आकांक्षा प्रकट कर देते हैं। आदेश मांगते हुए रामभद्र को भी एक प्रकार के संकोच की अनुभूति होती है। मुनि मण्डली को छोड़कर नगर घूमने जाने की इच्छा में उन्हें कुछ अनौचित्य का-सा बोध होता है कि कहीं यह न मान लिया जाय कि राजकुमार के रूप में मुनि मण्डली के बीच में रहते हुए वे उनसे ऊबकर ही कुछ समय के लिए छुट्टी पाना चाहते हैं। उनका ऐसा सोचना उनके शील और अनुशासनप्रियता की भावना के अनुकूल ही था। इसलिए उन्होंने आदेश मांगते हुए जिस शब्दावली का प्रयोग किया उसमें उनकी वचन-रचना-चातुरी का परिचय मिलता है :

लखन हृदयँ लालसा बिसेषी।
जाइ जनकपुर आइअ देखी॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।
प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥
राम अनुज मनकी गति जानी।
भगत बछलता हियँ हुलसानी॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई।
बोले गुरु अनुसासन पाई॥
नाथ लखनु पुर देखन चहहीं।
प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं।
नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

"लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं यह कहकर वे यह प्रकट करते हैं कि लक्ष्मण बालक हैं इसलिए नगरदर्शन की उनकी आकांक्षा अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती है। पर बालक को अपरिचित नगर में अकेले भेजना उपयुक्त न होगा" इसलिए वे साथ जाने का आदेश मांगते हैं। साथ ही वे—'तुरत लै आवौं' कहकर महर्षि को आश्वस्त करना चाहते हैं—कि इस कार्य में समय की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया जायेगा। महर्षि ने प्रसन्नतापूर्वक आदेश देते हुए जिन वाक्यों का प्रयोग किया उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तपस्या की आंच ने उनके जीवन में जो शुष्कता उत्पन्न कर दी थी, अब उसमें पुनः वात्सल्य रस का संचार हो चुका था। अनुशासनप्रिय होते हुए भी वे जीवन के प्रीति पक्ष का महत्त्व अस्वीकार नहीं करते। बहुधा अनुशासनप्रिय, वृद्धजन, बालक और किशोर को भी उसी सीमा में बांध रखना चाहते हैं। कभी कृपापूर्वक छूट देते हुए भी वे यह कहना नहीं

भूलते हैं कि 'विलम्ब न करना'। पर महर्षि नगर देखने के लिए जाते हुए राज-कुमारों को उन्मुक्त हास्य के साथ पूरी छूट देते हैं :

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती।
कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता।
प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥
जाइ देखि आवहु नगरु सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ॥

इसके पश्चात् महर्षि का एक उदार चित्र पुष्पवाटिका-प्रसंग के अंत में चित्रित किया गया है। गुरुदेव के पूजन के लिए रामभद्र पुष्प लेने जाते हैं। वहां मैथिली के अनुपम सौन्दर्य और शील ने उनके मन में जिस अनुराग का संचार किया उससे स्वभावतः लौटने में विलम्ब हुआ। पर इस विलंब के विषय में विश्वामित्र ने कोई जिज्ञासा प्रकट नहीं की। राघव ने अपनी ओर से पुष्प वाटिका में घटित सारी घटना का वर्णन करते हुए अपनी मनःस्थिति को महर्षि के समक्ष खोलकर रख दिया। यह श्री रामचन्द्र के शील-सौजन्य के ही अनुरूप था पर महर्षि के समक्ष सबका वर्णन करते हुए संकोच का अभाव गुरुदेव के उदार स्वभाव के प्रति उनके प्रगाढ़ विश्वास का परिचायक है। लगता है वे गुरुदेव को केवल गुरुत्व की सीमा में आवद्ध कर केवल आदर का ही पात्र नहीं मानते। आदर में एक दूरी तो बनाए ही रक्खी जाती है। विश्वामित्र आदर के साथ-साथ प्रीति के भी पात्र हैं। अपने सुहृद के समक्ष हृदय की बात खोलकर रख देने पर जैसा संतोष व्यक्ति के मन में होता है वैसी ही अनुभूति यहां राघव के हृदय में भी हुई। इस प्रसंग को एक भिन्न दृष्टि से भी देखा जा सकता है।

पुष्पवाटिका में राम ने स्वयं में जिस परिवर्तन का अनुभव किया वह अब तक की उनकी मनःस्थिति से इतना भिन्न था कि उसे स्वीकार करने में उन्हें संकोच का अनुभव हुआ ! वे रघुवंश की उस पुनीत परंपरा पर विश्वास करते थे जिसमें तीन वस्तुएं नहीं दी जाती थीं। (१) शत्रु को पीठ (२) परस्त्री को दृष्टि और (३) याचक को अस्वीकृति देना रघुवंशियों के स्वभाव के विपरीत था। उन्हें लगा कि क्या मैथिली के सौन्दर्य का इस प्रकार दर्शन उस परंपरा के प्रतिकूल नहीं है ? अपने कार्य के औचित्य और अनौचित्य का निर्णय स्वयं करना न्याय की मर्यादा के विपरीत है। ऐसा मानकर वे लक्ष्मण के समक्ष अपनी मनःस्थिति को खोलकर रख देते हैं। उनकी धारणा थी कि लक्ष्मण जैसा स्पष्टभाषी इस विषय में अपना निर्णय सुनाने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करेगा। किंतु इन सारी बातों को सुनकर भी लक्ष्मण पुरी तरह मौन ही रहे :

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि॥

तात जनकतनया यह सोई।
धनुष जग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखीं लैं आईं।
करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।
ते नरबर थोरे जग माहीं॥

लक्ष्मण न्याय के सिंहासन पर बैठकर प्रभु के विषय में औचित्य और अनौचित्य का निर्णय देने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में पुष्पवाटिका से लौटने के पश्चात् वे स्वयं को गुरुदेव के न्यायालय में प्रस्तुत कर देते हैं। महर्षि ने प्रारम्भ में सारी घटराओं को सुनकर भी कुछ नहीं कहा पर अगले ही क्षण उनके व्यवहार ने उनके निर्णय को स्पष्ट कर दिया। सारी घटनाओं को सुनने के पश्चात् उन्होंने रामभद्र के द्वारा लाये हुए पुष्पों से पूजन का कार्य संपन्न किया। पूजन की परंपरा में जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है उनके साथ अनेक विधि-विधान तो जुड़े हुए हैं ही, इनमें वस्तु की पवित्रता-अपवित्रता का विधान तो किया ही गया है पर इसके साथ भाव की पवित्रता का महत्त्व सर्वाधिक है। किस देवता के जयन में किन-किन पुष्पों का चयन किया जाता है इसका वर्णन शास्त्रीय ग्रंथों में किया गया है और साथ ही यह भी बताया गया है कि पुष्पों का चयन कैसे करना चाहिए। चयनकर्ता की मन:स्थिति यदि पवित्र न हो तो उपयुक्त पुष्प भी पूजा के योग्य नहीं रह जाता है। यदि महर्षि विश्वामित्र ने रामभद्र की मन:स्थिति को मर्यादा के विपरीत माना होता तो वे उनके द्वारा लाये गए पुष्पों से पूजन का कार्य सम्पन्न ही न करते। उन पुष्पों की पूजन में स्वीकृति ही उनका निर्णय था। इस प्रसंग में पुष्पों के लिए सुमन शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। शब्दकोष की दृष्टि से सुमन, पुष्प का पर्यायवाची है, पर महर्षि को ऐसा प्रतीत होता है कि सरल मन के संस्पर्श से सच्चे अर्थों में यह सुमन बन गया है। पूजन के पश्चात् आशीर्वाद देकर वे अपनी प्रसन्नता को शब्द के माध्यम से भी अभिव्यक्त कर देते हैं :

राम कहा सव कौसिक पाहीं।
सरल सुभाव छुवत छल नाहीं॥
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्हीं।
पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्हीं॥
सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे।
राम लखन सुनि भए सुखारे॥

फिर महर्षि की दार्शनिक दृष्टि इसे केवल दो स्त्री-पुरुषों के सौन्दर्य और अनुराग की दृष्टि से ही नहीं देखती। उनके लिए न तो राम साधारण राजकुमार हैं और न सीता ही साधारण नारी। प्रारम्भ से ही वे उन्हें व्रह्म के रूप में पहिचानते रहे हैं। सीता उनकी दृष्टि में साक्षात् महाशक्ति हैं। दार्शनिक अर्थों में व्रह्म शाश्वत और सर्वव्यापी होते हुए भी द्रष्टा और निष्क्रिय है, जो विश्व को प्रकाशित करता हुआ भी उसके घटनाक्रम में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है। इसीलिए आचार्य शंकर उसे 'अग जग मय सव रहित विरागी' कहते हैं। यदि उस निष्क्रिय व्रह्म को विश्व के हित में सक्रिय वनाना है तो उसके विरागी स्वभाव में परिवर्तन कर उसमें अनुराग की सृष्टि करनी होगी। 'प्रेम ते प्रभु प्रगटई जिमी आगी' कहकर इसी सत्य का प्रतिपादन किया गया है। साधक और भक्त अपनी प्रीति के द्वारा इसी प्रक्रिया को पूरा करने का प्रयास करते हैं। परव्रह्म को पूरी तरह उद्वेलित करने की शक्ति तो महामाया के सौन्दर्य में ही है। इसलिए साधक व्रह्म के साथ शक्ति के अवतरण की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। महाशक्ति अवतरित होकर अपने सौन्दर्य और आकर्षण के द्वारा व्रह्म में जिस विक्षोभ की सृष्टि करती है वही उसे सक्रिय होने के लिए वाध्य करता है। राम के साथ सीता का अवतरण भी इसलिए आवश्यक है। रामभद्र महर्षि के समक्ष जव अपने चित की विक्षुब्धता का वर्णन करते हैं तव उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त भक्तों की आकांक्षा साकार होने की भूमिका अव प्रारम्भ हो गई है। इसलिए श्री राम के अनुराग में भविष्य के विश्व-कल्याण का दृश्य देखकर विश्वामित्र आनन्दित हो उठते हैं। वे 'सुफल मनोरथ होहुं तुम्हारे' कहकर घटनाक्रम के इसी विकास की ओर संकेत करते हैं। प्रकृति में पुष्पित होने के पश्चात् ही फल की सृष्टि होती है। श्री राम के हाथों में पुष्प को देखकर महर्षि फलित होने का आशीर्वाद देते हैं। वे चाहते हैं कि अव शीघ्रता से विवाह के माध्यम से यह फल भी परिपक्व हो जाय जिससे सारे भक्त इसका रसास्वादन कर सकें।

प्रातःकाल धनुषयज्ञ में पधारने का आमन्त्रण मिलते ही वे प्रसन्न मन से श्री राम-लक्ष्मण को लेकर वहां पहुंच जाते हैं। उस सभा में विश्व के अगणित राजा एकत्र थे पर उस समय विश्वामित्र के साथ राघवेन्द्र के अगमन से जो अद्भुत दृश्य उपस्थित हुआ वह हर दृष्टि से अभूतपूर्व था। इसके पहले आये हुए समस्त राजा राजोचित वैभव और परिकर से घिरे हुए आकर आसनों पर आसीन हुए थे, उनके साथ वन्दीजन थे जो उनका परिचय देते हुए यशगान कर रहे थे। पर यहां ऐसा

कुछ नहीं था, चक्रवर्ती सम्राट् दशरथ के पुत्र मुनिमंडली से आवृत होकर एक नये जीवन-दर्शन का दृष्य प्रस्तुत करते हैं। अन्य राजाओं के लिए वह स्वयंवर सभा थी जहां वे सौन्दर्य, श्री और कीर्ति के प्रलोभन से एकत्र हुए थे। इसलिए वे वैभव और सामर्थ्य के प्रदर्शन के माध्यम से अपनी योग्यता सिद्ध करना चाहते थे। श्री राम के लिए यह एक यज्ञ था जिसके यजमान जनक और आचार्य विश्वामित्र थे। महर्षि के साथ श्री राम और लक्ष्मण के मंच पर आसीन हो जाने के बाद जनक के आदेश से मैथिली स्वयंवर सभा में आती हैं। महाराज की प्रतिज्ञा का उद्घोष किया जाता है और उसके पश्चात् आपाधापी और दौड़-धूप का एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो जाता है। फिर प्रयत्न, असफलता तथा निराशा का वातातरण छा जाता है। महाराज जनक की निराशा उनके सार्वजनिक भाषण में अभिव्यक्त होती है; जिसमें वे राजाओं की असमर्थता पर आक्षेप करते हुए अपने दु:ख और क्षोभ को प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि "यदि मैं जानता कि पृथ्वी वीरों से शून्य हो चुकी है तो मैं इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर उपहास का पात्र न बनता।" उनको इस कल्पना से अपार कष्ट होता है कि उनकी गुण, सौन्दर्यमयी कन्या अविवाहित रह जाएगी। जनक की इस वाणी से चारों ओर निराशा और निस्तब्धता का वातावरण छा जाता है। अचानक उस स्तब्धता के वातावरण को भंग करते हुए एक वीर-वाणी गूंज उठती है, यह स्वर रामानुज लक्ष्मण का था। वे अपने ओजस्वी भाषण से भरी सभा को झकझोर देते हैं। राजर्षि जनक के लिए यह नया अनुभव था जब एक युवक ने उनके भाषण के औचित्य पर आक्षेप किया था। इसलिए उसे सुनकर उनका संकुचित हो जाना स्वाभाविक ही था। पर लक्ष्मण के भाषण में जिन्हें सर्वाधिक आनन्द अनुभूति हुई थी उनमें विश्वामित्र अग्रगण्य थे। गोस्वामी जी ने ऐसे लोगों की गणना करते हुए सर्वप्रथम उन्हीं का नाम उल्लेख किया :

लखन सकोप बचन जब बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले॥
सकल लोक सब भूप डेराने।
सिय हिय हरष जनक सकुचाने॥
गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं।
मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं॥

अन्याय और अनौचित्य के प्रति लक्ष्मण की यह असहिष्णुता महर्षि को अत्यंत प्रिय लगती है। सद्गुण और शौर्य के घनीभूत पुंज राम के स्वभाव से महर्षि भली भांति परिचित थे। यह सहिष्णुता जहां उनके शील के अनुरूप थी वहीं यह धैर्य लोककल्याण में बाधक भी बन सकता था। ऐसी स्थिति में संतुलन के लिये राम के साथ लक्ष्मण जैसे भाई की आवश्यकता थी। वस्तुत: राम और लक्ष्मण एक दूसरे के पूरक हैं। जहां लक्ष्मण की तेजस्विता राम के शील द्वारा नियंत्रित रहती है वहां लक्ष्मण की असहिष्णुता राम को शीघ्रातिशीघ्र अन्याय के उन्मूलन की प्रेरणा देती है। महर्षि की पारखी दृष्टि से यह छिपा हुआ नहीं था इसीलिए तो

वे 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' कहकर दोनों को साथ लाए थे। महर्षि की यह धारणा इस अवसर पर साकार रूप में सामने आ गई। जहां जनक के उत्तेजक भाषण पर राम का मौन उनके शील के अनुरूप था, वहां लक्ष्मण का आवेश समस्या के समाधान की दिशा में प्रेरणा प्रदान करने वाला था। महर्षि ने राघवेन्द्र से धनुष तोड़ने का अनुरोध किया और उस आदेश का पालन किया गया :

बिस्वामित्र समय सुभ जानी।
बोले अति सनेहमय बानी॥
उठहु राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा॥
सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरष विषाद न कछु उर आवा॥

यहां पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या महर्षि प्रारंभ में ही राम को धनुष तोड़ने का आदेश देकर इस समस्या का समाधान सरलता से संपन्न नहीं कर सकते थे? इस विलंब की आवश्यकता ही क्या थी? किन्तु गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि का यह कार्य अनेक दृष्टियों से सुनियोजित और बुद्धिमतापूर्ण था। व्यावहारिक दृष्टि से वे श्री राम के शौर्य और सद्‌गुणों को इस रूप से प्रचारित करना चाहते थे जिससे प्रत्येक व्यक्ति उस गौरव का अनुभव कर सके। महर्षि ने अपने कौशल के द्वारा श्री राम के गौरव को सर्वोत्कृष्ट पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। विश्व के इतिहास में विज्ञापन कला का इससे उत्कृष्ट दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता है, जहां केवल कुछ क्षणों में ही किसी को विश्वविजेता के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया हो। यदि समस्त राजाओं के पराभव से पहले ही राम के द्वारा धनुर्भंग कर दिया जाता तो उपस्थित राजाओं के मन में यह विश्वास बना ही रह जाता कि यदि उन्हें अवसर मिला होता तो वे भी धनुष तोड़कर सीता को प्राप्त कर सकते थे। पर जब विश्व का प्रत्येक योद्धा अपने प्रयास में असफल हो चुका हो उस समय राम के शौर्य का परिचय उन्हें विश्व-विजेता के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ को आशीर्वाद देते हुए कहा था कि तुम्हें 'त्रिभुवन विदित' पुत्र प्राप्त होगा :

धरहु धीर होइहिं सुत चारी।
त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी॥

ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के इस आशीर्वाद और संकल्प को साकार करने का कार्य महामुनि विश्वामित्र के द्वारा संपन्न हुआ। इससे न केवल राम के असीम बाहुबल का परिचय प्राप्त हुआ अपितु जनमानस में उनके अतुलनीय शील और गांभीर्य की प्रतिष्ठा हुई। जनक की प्रतिज्ञा सुनकर भी शांत भाव से बैठे रहने का अर्थ असमर्थता नहीं थी कि इसका बोध लोगों को धनुर्भंग के पश्चात् ही हुआ। तब लोगों ने यह भली भांति अनुभव किया कि राम कितने निष्काम और प्रलोभनमुक्त हैं? जनक के भाषण पर राम का मौन उनके शील-गुण की अभिव्यक्ति का परिचायक

वना। साथ ही वे कितने अनुशासनप्रिय गुरु-भक्त शिष्य हैं इसकी छाप भी लोगों के मन पर पड़ी। क्योंकि लोगों ने देखा कि लक्ष्मण के ओजस्वी और उत्तेजक भाषण के पश्चात् भी राम तब तक नहीं उठे, जब तक स्वयं गुरुदेव ने ऐसा करने का आदेश उन्हें नहीं दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभ में धनुर्भंग का आदेश दे देने पर जहां राम के शौर्य गुण का सीमित परिचय प्राप्त होता वहां इस विलंव से राघव के अनेक दिव्य सद्गुण लोगों के समक्ष अभिव्यक्त हो गए।

इस विलंव के द्वारा गुरुदेव ने काल के गौरव की भी प्रतिष्ठा की। किसी व्यक्ति के द्वारा संपन्न होने वाले कार्य के पीछे वहुधा लोगों को उस व्यक्ति के गौरव का ही बोध होता है। स्वयं व्यक्ति भी वहुधा अपनी सफलता को अपने बुद्धि-चातुर्य और योग्यता का परिणाम मान बैठता है। इससे उसमें मिथ्या अभिमान का उदय होता है। ऐसे व्यक्ति की असफलता से स्वयं उसको चोट पहुंचती ही है जन-मानस में भी निराशा का संचार होता है। व्यक्ति वस्तुतः देश और काल का एक अंग मात्र है। किसी की सफलता के पीछे सबसे अधिक हाथ उस अदृश्य काल का है जो सूत्रधार के रूप में व्यक्ति को उत्थान और पतन की दिशा में ले जाता है। तत्त्वज्ञ, काल के इस सत्य को जानकर मिथ्या अभिमान से मुक्त हो जाता है। यद्यपि वीज जव पृथ्वी में अंकुरित होता है तव इसमें प्रत्यक्ष रूप से केवल कृषक का पुरुषार्थ तथा पृथ्वी और वीज की क्षमता का परिचय प्राप्त होता है; पर प्रत्येक चतुर किसान को यह ज्ञात है कि इन सवके पीछे ऋतु के रूप में कालचक्र का वहुत वड़ा हाथ है। इसलिए वह पुरुषार्थ के लिए भी समय की प्रतिक्षा करता है। विश्वा-मित्र भी विलंव के द्वारा कालतत्त्व के गौरव को स्वीकार करते हैं। यद्यपि विश्व के इतिहास में उनसे वढ़कर पुरुषार्थवादी व्यक्ति का परिचय प्राप्त नहीं होता, और तात्त्विक दृष्टि से श्री राम साक्षात् ईश्वर ही हैं, इस दृष्टि से वे काल के भी नियामक हैं। पर नर-शरीर स्वीकार कर उन्होंने जिस मानवीय मर्यादा को अंगीकार किया है, उसमें यह आवश्यक था कि वे भी अपने चरित्र के द्वारा काल-गौरव की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते। महर्षि विश्वामित्र इस अवसर पर अपनी काल-ज्ञता का परिचय देते हैं। धनुर्भंग के लिए केवल वाहुवल की आवश्यकता न थी। यदि ऐसा होता तो कैलाश पर्वत को उठाने में समर्थ रावण धनुष को उठा पाने में असमर्थता का अनुभव न करता। काल-ज्ञान-विहीन राजा केवल अपने पुरुषार्थ से धनुर्भंग के लिए आगे वढ़े और उन्हें बुरी तरह पराजित होना पड़ा। त्रिकालज्ञ विश्वामित्र उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे जो विधि-विधान में धनुष के टूटने के लिए निश्चित था। उचित अवसर आने पर ही उन्होंने रामभद्र को धनुष तोड़ने का आदेश दिया। प्रस्तुत पंक्ति में इसी तथ्य का वर्णन किया गया है :

बिस्वामित्र समय सुभ जानी।
बोले अति सनेह मय बानी॥

धनुर्भंग में विलंव की व्याख्या भिन्न संदर्भ में दूसरे रूप में भी की जा सकती है। महाराज जनक के बन्दीजनों ने उनकी प्रतिज्ञा का वर्णन करते हुए उसकी पूर्ति

के लिए राजाओं को जिन शब्दों में प्रेरित किया उसमें मुख्य रूप से प्रलोभन की भावना विद्यमान थीं। उनके वाक्यों में चुनौती और प्रलोभन के दो ही स्वर गूंज रहे थे। उन्होंने धनुष का इतिहास बताते हुए उन महान योद्धाओं के नाम का भी स्मरण किया जो इस धनुष के समक्ष श्रीहत हो चुके थे। इसके पश्चात् उन्होंने उन उपलब्धियों का वर्णन किया कि जो धनुर्भंग के बाद होने वाली थीं। विदेहजा का अतुलनीय सौन्दर्य, विजयश्री और कीर्ति की यह त्रयी एक ही कार्य के माध्यम से प्राप्त की जा सकती थी। महाराज श्री जनक की यह धारणा थी कि इतने बड़े प्रलोभन को ठुकरा पाना किसी व्यक्ति के लिए संभव न था। वस्तुतः वन्दीजनों की वाणी के पीछे महाराज श्री जनक की धारणा ही प्रेरक के रूप में कार्य कर रही थी। अपनी इस धारणा को महाराज श्री जनक ने छिपाया भी नहीं। धनुष न टूटने पर उनका जो आक्रोश प्रकट हुआ उसमें भी यही स्वर गूंज रहा था।

वन्दीजन—बोले बंदी बचन बर सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल॥
नृप भुजबल बिधु सिव धनु राहू।
गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥
रावनु बानु महाभट भारे।
देखि सरासन गवँहि सिधारे॥
सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा।
राज समाज आजु जोइ तोरा॥
त्रिभुवन जय समेत बैदेही।
बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही॥

जनक—कुअँरि मनोहर विजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहारि बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥
कहहु काहि यहु लाभु न भावा।
काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥

अपनी इस धारणा के द्वारा महाराज जनक अनजाने में ही कितना बड़ा अन्याय कर रहे थे इस पर उनकी दृष्टि नहीं गई। स्वयं विरागी होते हुए भी सृष्टि के अन्य समस्त व्यक्तियों को लोभी मान लेना सात्त्विक अभिमान का ही परिचायक था। श्री राम और लक्ष्मण की उपस्थिति में तो इस प्रकार का कथन और भी असंगत था। श्री रामभद्र के द्वारा धनुष तोड़ने के लिए न उठना इस प्रलोभन की अस्वीकृति का ही परिचायक था। लक्ष्मण के आवेशपूर्ण भाषण में इस अनौचित्य की ओर इंगित किया गया। वस्तुतः इस विलम्ब के द्वारा शिव धनुष से पहले महाराज श्री जनक का सात्त्विक अभिमान खण्डित कर दिया गया। धनुषयज्ञ की परिपूर्णता के लिए यह अत्यधिक आवश्यक भी था। यज्ञकुण्ड में आहुति देते हुए जिन मंत्रों का उच्चारण करते हुए आहुति दी जाती है उनमें अन्त में 'इदं न मम' का प्रयोग किया जाता है। जिसका तात्पर्य है 'यह मेरा नहीं है'। इस वाक्य के

द्वारा यजमान मानो वस्तुओं के साथ अपनी अहंता और ममता को भी भस्म कर देता है। वस्तुत: यही यज्ञ की समग्रता है। किन्तु लगता है कि महाराज श्री जनक धनुषयज्ञ के संदर्भ में इस अहं से मुक्त नहीं हो पाए थे। उनके कन्यादान का संकल्प देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे ममता के त्याग के लिए तो प्रस्तुत हैं पर उसके साथ दातापन का गर्व जुड़ा हुआ है। धनुष न टूटने पर वे इस सम्भावना से व्याकुल हो जाते हैं कि उनकी कन्या कुंवारी रह जाएगी, इससे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया कि धनुष तोड़ने वाला इस कार्य से महाराज श्री जनक को भारमुक्त कर देगा, अत: जनक को ही उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। पर महाराज जनक को अपनी त्रुटि का पूरी तरह भान तब हुआ जब उन्होंने ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का आदेश सुनकर राघवेन्द्र को धनुष तोड़ने के लिए जाते हुए देखा। महर्षि ने भी उनसे धनुष तोड़ने का अनुरोध किया पर उसमें प्रलोभन के स्थान पर जनक के परिताप को दूर करने का ही अनुरोध था :

उठहु राम भंजहु भव चापा।
मेटहु तात जनक परितापा॥

इस तरह उन्होंने सच्चे आचार्य की भांति उस यजमान की त्रुटि का भी परिमार्जन किया कि जो स्वयं निष्काम कर्मयोग का महान् आचार्य होते हुए भी इस पावन यज्ञ के सुअवसर पर पथ से विचलित होता हुआ-सा प्रतीत होता था। इन दृष्टियों से विचार करने पर महर्षि विश्वामित्र द्वारा आदेश में विलम्ब का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। राजर्षि जनक यज्ञ की समग्रता के लिए महर्षि के प्रति कृतज्ञताज्ञापन करते हैं। भविष्य के कर्त्तव्य के लिए उनसे आदेश मांगते हैं। महर्षि ने स्पष्ट कर दिया कि धनुष टूटते ही विवाह तो सम्पन्न हो गया, फिर भी आप कुल के वृद्ध और गुरुजनों से सम्मति लेकर औपचारिकता को पूर्ण करें :

कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना।
रहा बिबाहु चाप आधीना॥
टूटत ही धनु भयउ बिबाहू।
सुर नर नाग बिदित सब काहू॥
तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहारु।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुरु बेद बिदित आचारु॥

इस आदेश से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों के मंत्रदृष्टा ऋषि होते हुए भी वे लोक-परम्पराओं की उपेक्षा नहीं करते हैं। उनकी बुद्धिरूपा नदी लोक और वेद के दोनों किनारों का संस्पर्श करती हुई बहती है। 'लोक वेदमत मंजुल कूला' को सार्थकता प्रदान करती है। उनका हृदय उस कठोर अध्यापक की भांति नहीं हैं जो निरंतर आदेश और दण्ड के द्वारा बालकों को नियंत्रित रखने में ही अनुशासन का गौरव देखता है। वे एक सहृदय अध्यापक के साथ-साथ वात्सल्यमय पिता की भांति भी हैं जो बालक के उन्मुक्त हास्य और क्रीड़ा में भी उतना ही आनन्द लेता है जितना बालक के अक्षरज्ञान में। वे चाहते थे कि जिस आनन्द की अनुभूति इस

समय जनकपुरवासियों के हृदय में हो रही है, अयोध्या के नागरिक भी उसका रसास्वादन कर सकें। वे औपचारिकता के वहाने अयोध्या और जनकपुर के मिलन की जो भूमिका प्रस्तुत करते हैं वह अनेक अर्थों से परिपूर्ण है। इस मिलन में त्रिवेणी-संगम की भांति एक नये तीर्थराज की सृष्टि होती है जिसमें दशरथ और जनक का मिलन गंगा और यमुना की भांति प्रत्यक्ष हैं पर प्रत्येक को यह अनुभव हो रहा था कि विश्वामित्र की कृपा रूपी सरस्वती के द्वारा ही इस तीर्थराज को परिपूर्णता प्राप्त हो रही है। महाराज दशरथ की कृतज्ञता की तो कोई सीमा ही नहीं है, वे अपनी कृतज्ञता को वार-वार प्रणाम के माध्यम से प्रकट करते हुए भाव-भरे शब्दों में यह कह उठते हैं कि "महर्षि यह सारा सुख आपके ही कृपा-कटाक्ष का परिणाम है।"

वार वार कौसिक चरन सीस नाइ कह राउ।
यह सब सुख मुनिराज तव कृपा कटाच्छ पसाउ॥

विवाह के पश्चात् वे अनुरोध पूर्वक महर्षि से अयोध्या चलने का आग्रह करते हैं। विश्वामित्र उनके स्नेहभरे आग्रह को स्वीकार कर लेते हैं। पहली वार विश्वा-मित्र अयोध्या में आकर राजसभा से ही अपने संकल्प की पूर्ति कर आश्रम की ओर लौट गए थे। उस समय उनका प्रवास भी अत्यन्त संक्षिप्त काल के लिए था। किंतु इस वार महाराज के अनुरोध पर उन्हें अन्तरंग महल में निवास करना पड़ता है। सचमुच पहली वार महाराज दशरथ को जिन विश्वामित्र का दर्शन हुआ था वे केवल उनके वहिरंग रूप से ही परिचित थे। वे एक महान् तपस्वी, मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में विख्यात थे। पर उनके साथ उनकी कठोरता की भी अनेक गाथाएं प्रचलित थीं। अयोध्या के राजवंश के लिए इस प्रकार की घटनाएं केवल श्रवण का ही विषय नहीं थी। अयोध्या के राजकुल और आचार्यकुल दोनों को ही उनका प्रत्यक्ष अनुभव था। जिन्होंने गुरु वशिष्ठ के सौ पुत्रों को विनष्ट कर दिया था और महाराज हरिश्चन्द्र से दान दी गई राशि को पाने के लिए काशी में उन्हें पुत्र और पत्नी सहित विक जाने दिया था उनकी निष्ठुरता को कैसे भुलाया जा सकता था ? पर इस वार विश्वामित्र के एक नये रूप का ही साक्षात्कार हुआ। ऐसा लगा कि वे द्राक्षा (अंगूर) के रूप में वाहर-भीतर दोनों ओर से मधुर भले ही न हों पर उनका व्यक्तित्व उस नारिकेल की भांति था जो ऊपर से अत्यन्त कठोर प्रतीत होता है पर वाह्य आवरण को दूर करते ही अपनी उज्ज्वलता और रस के द्वारा परितृप्ति प्रदान करता है। उनके व्यक्तित्व के इस बहिरंग आवरण को भगवान् राम के चरित्र ने पूरी तरह समाप्त कर दिया। इसलिए वे जहां प्रथम वार कठो-रता से आवृत नारिकेल की भांति केवल पूजा के अंग के रूप में वन्दनीय प्रतीत होते थे, वहां इस बार नारिकेल के अन्तरंग रूप में रस और तृप्तिदाता दिखाई दे रहे थे। जिनका रसास्वादन प्रत्येक व्यक्ति कर सकता था :

बहुबिधि कीन्हि गाधि सुत पूजा।
नाथ मोहि सम धन्य न दूजा॥

कीन्ह प्रशंसा भूपति भूरी।
रानिन्ह सहित लीन्ह पग धूरी ॥
भीतर भवन दीन्ह बर बासू।
मन जोगवत रह नृप रनिवासू ॥

उस समय महर्षि अयोध्या में भगवान राम की तुलना में भी अधिक चर्चा के विषय थे। क्योंकि अयोध्या के नागरिक श्री राम के सौंदर्य, शील, गुण से प्रभावित होते हुए भी उनके अतुलनीय शौर्य से सर्वथा अपरिचित थे। इस बीच उनके पुरुषार्थ को प्रकट करने वाली जिन घटनाओं का वर्णन उन्होंने सुना था उसे उनकी महिमा के रूप मैं देख पाने में वे असमर्थ थे। हां, महर्षि विश्वामित्र की अलौकिक क्षमताओं से वे भली भांति परिचित थे। इसलिए उन्होंने वड़ी सरलता से यह मान लिया कि राघव के द्वारा जो महान् कार्य सम्पन्न हुए हैं, उनके पीछे महर्षि विश्वामित्र की तपस्या ही कार्य कर रही थी। न केवल अयोध्या के नागरिकों में अपितु अयोध्या के अन्तःभवनों में भी यही धारणा प्रचलित थी। माताएं अपने इस विश्वास को भावभरे शब्दों में श्रीराम के सामने दुहरा भी देती हैं :

देखि स्याम मृदु मंजुल गाता।
कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥
मारग जात भयावनि भारी।
केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥
घोर निसाचर विकट भट समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु ॥
मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी।
ईस अनेक करवरें टारी ॥
मख रखवारी करि दुहुँ भाई।
गुरु प्रसाद सब बिद्या पाई ॥
मुनितिय तरत लगत पगधूरी।
कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥
कमठ पीठि पबि कूट कठोरा।
नृप समाज महुँ सिव धनु तोरा ॥
बिस्व बिजय जसु जानकि पाई।
आए भवन ब्याहि सब भाई ॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे।
केवल कौसिक कृपाँ सुधारे ॥

दूसरे दिन अयोध्या की राज्यभाषा में उस समय अनुपम दृश्य उपस्थित हो गया जब ब्रह्मर्षि वशिष्ठ व्यासासन पर बैठकर कथा सुनाने लगे। इस महान् आसन पर आसीन होकर वशिष्ठ अगणित इतिहास-पुरुषों की गाथा सुना चुके थे। किंतु उनकी कथा के नायक आज एक ऐसे व्यक्ति थे जो स्वयं उस सभा में उपस्थित

थे। ब्रह्मर्षि ने बड़े उत्साह से विश्वामित्र की अलौकिक गाथाओं का वर्णन किया। यह वही ब्रह्मर्षि वशिष्ठ थे जिनका विश्वामित्र के विरुद्ध संघर्ष इतिहास प्रसिद्ध है। सारे विश्व के द्वारा ब्रह्मर्षि के रूप में विश्वामित्र की स्वीकृति के पश्चात् भी वशिष्ठ उन्हें राजर्षि के नाम से ही पुकारते रहे। वशिष्ठ के मुख से 'ब्रह्मर्षि' शब्द सुनना उस समय विश्वामित्र की सबसे बड़ी साध थी। बड़ी दीर्घ प्रतीक्षा के बाद वशिष्ठ ने उन्हें ब्रह्मर्षि कह कर पुकारा। वे ही वशिष्ठ वक्ता के आसन पर बैठकर विश्वामित्र के गुणों का गायन करें इससे बढ़कर अद्भुत दृश्य क्या होता ? निश्चित रूप से वशिष्ठ ने उन संस्मरणों को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया होगा जिससे कि विश्वामित्र के गौरव की वृद्धि हो ! केवल उपाख्यान के रूप में यदि विश्वामित्र की गाथाओं का वर्णन किया होता तो उसमें गौरवपूर्ण गाथाओं के साथ ऐसे भी अनेक प्रसंग आते जो महामुनि विश्वामित्र के गौरव की वृद्धि न करते। किन्तु वशिष्ठ की दिव्य विश्लेषणात्मक वाणी के द्वारा उनका चरित्र जिस रूप में प्रस्तुत किया गया उसे सुनकर सारी सभा भावाभिभूति हो उठी। इन गाथाओं को सुनकर सर्वाधिक आनन्द की अनुभूति श्री राम और लक्ष्मण को हुई :

मुनि मन अगम गाधि सुत करनी।
मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥
बोले बाम देउ सब साँची।
कीरति कलित लोक तिहुँ माची॥
सुनि आनंदु भयउ सब काहू।
राम लखन उर अधिक उछाहू॥

राम और लक्ष्मण जैसे शिष्यों की उपलब्धि ब्रह्मर्षि के जीवन की सबसे बड़ी सफलता थी। उनके इन सुयोग्य शिष्यों ने महर्षि के सारे संकल्प साकार कर दिए। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का जीवन पुरुषार्थवाद का प्रतीक था। तपस्या के तो वे घनीभूत रूप ही थे। पर उनकी क्षमताओं का उपयोग ऐसी दिशाओं में हुआ था जिनमें समग्रता न थी। श्री राम के माध्यम से इन क्षमताओं का उपयोग लोकमंगल के लिए किया गया। विश्वामित्र ने जीवन के प्रारम्भिक भाग में जिस कामधेनु को पाने का प्रयास किया वह केवल भौतिक आकांक्षाओं को ही पूर्ण करने में समर्थ थी, किन्तु राम के रूप में उन्हें जिस अलौकिक कामधेनु की उपलब्धि हुई उसमें सभी स्वार्थ और परामर्थ की पूर्ति की क्षमता विद्यमान थी। ब्राह्मणत्व की उपलब्धि के लिए भी उन्होंने कठिन श्रम और साधना की थी। इसके पीछे भी वशिष्ठ को पराजित करने की भावना विद्यमान थी। भले ही उन्होंने ब्रह्मर्षि शब्द सुनने का सौभाग्य पहले प्राप्त कर लिया हो पर इसके सुख की सच्ची उपलब्धि श्री राम के विवाह के पश्चात् ही हुई। उन्होंने त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग में पहुंचाने के लिए अपनी तपस्या की शक्ति का उपयोग किया, और देवताओं के द्वारा त्रिशंकु के स्वर्ग से ढकेले जाने पर वे उसके लिए नये स्वर्ग का निर्माण करने को प्रस्तुत हो गए थे। बड़ी ही कठिनाई से वे इस संकल्प से विरत किए जा सके। त्रिशंकु की

इस आकांक्षा के पीछे विशिष्टता का अहंकार ही कार्य कर रहा था। वह सशरीर स्वर्ग पहुंचकर मृत्युलोक और स्वर्ग दोनों ही स्थानों में अपनी अद्वितीयता सिद्ध करना चाहता था। विश्वामित्र ने भी उसके अनुरोध को शुद्ध परोपकार की भावना से ही स्वीकार नहीं किया था। वे भी वशिष्ठ की तुलना में स्वर्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते थे। किसी एक व्यक्ति के लिए स्वर्ग के निर्माण का यह प्रयत्न यदि सफल हो भी जाता तो केवल इससे अहंकार की ही विजय होती। पर जव उनके द्वारा सुशिक्षित शिष्य श्री राम ने राम-राज्य की स्थापना की तव मानो स्वर्ग ही मृत्युलोक में अवतरित होकर आ गया। पर यह स्वर्ग-राज्य किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं था। यह तो विश्व के समस्त प्राणियों के सुख के लिए था। विश्वामित्र के नाम की सच्ची सार्थकता भी इसी सन्दर्भ में सिद्ध हुई। इससे पहले भी वे अयोध्या में दान लेने के लिए आ चुके थे और दाननिष्ठ हरिश्चन्द्र ने अपना समस्त वैभव उन्हें अर्पित कर दिया था। फिर भी अवशिष्ट दक्षिणा की मांग करते हुए विश्वामित्र ने उन्हें वाराणसी में विकने के लिए वाध्य किया था। इससे हरिश्चन्द्र की प्रतिष्ठा में भले ही वृद्धि हुई हो पर स्वयं महर्षि की निष्ठुरता ही लोकचक्षुओं के समक्ष आई। पर जव वे दूसरी वार रघुवंश के यशस्वी राजा दशरथ के पास याचक वनकर आए तव उन्होंने महाराज द्वारा प्रस्तावित वैभव स्वीकार करने का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। वे श्री राम और लक्ष्मण को यज्ञपूर्ति के लिए ले गए। पर इस समय वे एक सहृदय महापुरुश के रूप में सामने आए जिन्होंने न केवल राम का गुरुत्व अपितु उनका पितृत्व भी स्वीकार कर लिया। वे एक वात्सल्य भरे पिता की तरह इन दोनों राजकुमारों की सुख-सुविधा के लिए व्यग्र दिखाई देते हैं। इस प्रसंग में दाता और प्रतिगृहीता दोनों के ही गौरव की वृद्धि हुई।

इस तरह महर्षि विश्वामित्र जहां गाधितनय के रूप में अनगढ़ शिलाखण्ड के समान प्रतीत होते हैं, वहीं तपस्या और साधना की छेनी के द्वारा उनमें एक दिव्य देवता की आकृति का उदय हुआ। क्रमशः उनके चरित्र का सौंदर्य निखरता गया। पर भक्तों के लिए समग्र पूजा के पात्र तभी वने जव कि उनके जीवन में भक्ति की प्राणप्रतिष्ठा हुई। मानस में उनकी यही आकर्षक और दिव्य प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई है। स्वयं भगवान उनकी चरणसेवा करते हुए आराधना का दिव्य रूप प्रकट करते हैं :

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई।
लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्हके चरन सरोरुह लागी।
करहिं बिबिध जप जोग बिरागी॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।
गुरु पद पदुम पलोटत प्रीते॥

[हमारे वन्दनीय विश्वामित्र यही हैं।]

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

अहिल्या

महर्षि गौतम की पत्नी अहिल्या के उद्धार की कथा यद्यपि मानस में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत की गई है पर अपनी अर्थवत्ता और भावमयता की दृष्टि से उसका असाधारण महत्त्व है। स्वयं गोस्वामी जी को अहिल्या का प्रसंग अत्यन्त प्रिय हैं, यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है। पतिता पाषाणी अहिल्या का प्रसंग उन्हें प्रिय लगे, यह उनकी मनःस्थिति को देखते हुए सर्वथा स्वाभाविक ही है। यह प्रसंग उनके मन में आशा का संचार करता है। उन्हें लगता है कि यदि लोक-दृष्टि से पतिता और पाषाणी अहिल्या समस्त साधनों से शून्य होते हुए भी भगवत कृपा की अधिकारिणी बन सकती है तो मुझ जैसा व्यक्ति भी उनकी करुणा से धन्य हो सकता है। वे स्वयं अपनी बुद्धि को ही पाषाणी अहिल्या के रूप में देखते हुए प्रभु से उनके उद्धार का अनुरोध करते हैं :

सहस सिला तें अति जड़मति भई है।
कासों कहों कौन गति पाहनहिं दई है ॥

सामाजिक दृष्टि से भी अहिल्या का प्रसंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की महत्त्वपूर्ण समस्याओं और उसके समाधान का स्वरूप भी देखा जा सकता है। पौराणिक ग्रन्थों में पतिव्रत धर्म की महिमा के अनेक उपाख्यान उपलब्ध हैं। मानस में भी परम पतिव्रता अनुसूया और भगवती सीता के सम्वाद का वर्णन किया गया है। जिसमें वे मैथिली को पतिव्रत धर्म का उपदेश देती हुई दिखायी देती हैं। उनकी दृष्टि में स्त्री के लिए पतिप्रेम को छोड़कर अन्य कोई धर्म अभीष्ट नहीं है। वे पति को 'अमित दानी' कहकर उसके गौरव की वृद्धि करती हैं। पतिव्रत धर्म से च्युत होने वाली नारी सौ करोड़ जन्मों तक दुःख पाती है। ऐसी उनकी घोषणा है :

मातु पिता भ्राता हितकारी।
मित प्रद सुनु सब राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बैदेही।
अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥

× × ×

पतिबंचक परपति रति करई।
रौरव नरक कल्प सत परई ॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥

× × ×

सहज अपावन नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥

धर्म की इस कठोर कसौटी पर अहिल्या खरी नहीं उतरती है। पति की दृष्टि में वह पतिता है। लोकदृष्टि में वह उपेक्षिता है। पर प्रश्न तो यह है कि यह कठोर दृष्टि ही क्या जीवन का समग्र सत्य है? और परिस्थिति तथा मनःस्थिति विशेष में नारी का पतन हो जाने पर क्या उसके कल्याण के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं? क्या नर और नारी के लिए चरित्र के पृथक् मापदण्ड हैं? इन सारे प्रश्नों का समाधान इस प्रसंग में ढूंढ़ा जा सकता है।

यह प्रसंग जिस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है उसको दृष्टिगत रखकर विचार करने पर इसकी और भी अधिक व्यापकता का बोध होता है। भगवान् राम का चरित्र धर्म का सर्वश्रेष्ठ मापदण्ड है। अहिल्या को वे किस दृष्टि से देखते हैं इसका असाधारण महत्त्व है। फिर यह वह यात्रा है जिसका चरमोत्कर्ष सीता और राम के विवाह के रूप में होता है। एक ओर मैथिली हैं जो पतिव्रताओं में शिरोमणि है और दूसरी ओर अहिल्या जो अपने धर्म से च्युत हो चुकी है। इस प्रसंग के दो ओर छोर हैं और इनके मध्य में हैं श्री राम के चरण। यह वे चरण हैं कि जिनके स्पर्श से पतिता अहिल्या का उद्धार होता है। यही पदपद्म विदेहजा के द्वारा भी वन्दित हैं। मैथिली इन चरणों को दुलराया करती हैं। 'जानकीकरसनोज लालितौ' कहकर गोस्वामी जी इन चरणों की वन्दना करते हैं। इन दृष्टियों से भी विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रसंग में धर्म, ज्ञान और भक्ति के अनुपम तत्त्व विद्यमान हैं। मानस में यह प्रसंग इस रूप में प्रस्तुत किया गया है।

महर्षि विश्वामित्र के आश्रम से जनकपुर की ओर चलते हुए मार्ग में श्री राम ने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक जनशून्य आश्रम जहां मनुष्यों की तो कथा ही क्या, पशु-पक्षियों तक का भी पूरी तरह अभाव था। हां, आश्रम के मध्य में एक शिला अवश्य थी जिसकी आकृति नारी जैसी थी। आश्चर्यचकित रामभद्र ने इस आश्रम के विषय में जिज्ञासा प्रकट की और महर्षि ने गौतम-पत्नी, अहिल्या के इतिहास का वर्णन करते हुए उसके शापित होकर शिला बन जाने का रहस्य प्रकट कर दिया। अहिल्या सृष्टि की अनुपमेय सुन्दरी थी, जिसे ब्रह्मा ने महर्षि गौतम को अर्पित कर दिया। अहिल्या गौतम की पाणिगृहीता भार्या वनकर सुखपूर्वक वन में निवास करने लगी। विवाह से पहले ही देवराज इन्द्र अहिल्या के सौन्दर्य पर मुग्ध हो चुके थे और उनके मन में यह धारणा बन गई थी कि यह दिव्य सौन्दर्य मुझे ही अर्पित किया जाएगा। पर महर्षि गौतम से अहिल्या का विवाह हो जाने पर वह क्षुब्ध हो गए। यहां इन्द्र के मनोविज्ञान को समझ लेना उपयोगी होगा। इन्द्र का जीवन-दर्शन क्या है? शास्त्रीय दृष्टि से स्वर्ग की उपलब्धि महान् पुण्य का परिणाम है। देवराज इन्द्र के पद की उपलब्धि तो पुण्य का चमोत्कर्ष ही है। स्वर्ग वह स्थान है जहां व्यक्ति के शरीर में जरा और मृत्यु का भय नहीं होता, जहां भोगों का बाहुल्य है और जहां रहकर मनमाने विषयों का उपभोग किया जा सकता है। इस तरह इन्द्र का दर्शन पुण्य का पक्षधर होते हुए भी भोगों का पक्षधर है। उसकी दृष्टि में यथेच्छ भोग की उपलब्धि ही जीवन का सुख और लक्ष्य है। उसे लगता है कि

सृष्टि में सौन्दर्य का सृजन उपभोग के लिए ही किया गया है। इसलिए स्वर्ग में सौन्दर्यमयी अप्सराओं का वाहुल्य है। पर इन समस्त अप्सराओं का सौन्दर्य अहिल्या की तुलना में तुच्छ है। पुण्याभिमानी इन्द्र यह मान बैठा था कि मैं सबसे वड़ा पुण्यात्मा हूं। इसलिए इस अनिंद्य सौन्दर्य का निर्माण मेरे लिए ही हुआ होगा। पर विवेक के देवता तथा सृष्टि के निर्माता ब्रह्मा इन्द्र के इस जीवन-दर्शन को अस्वीकार कर देते हैं। महर्षि गौतम महान् पुण्यात्मा हैं पर वे भोगों को जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे तपस्या के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि में संलग्न थे। तपस्वी गौतम के साथ अहिल्या के विवाह का उद्देश्य विवेक के सामाजिक दर्शन को अभिव्यक्ति देना था। भोग जीवन का समग्र लक्ष्य भले ही न हो पर वह जीवन की एक आवश्यकता तो है ही। अतः तपस्या में निरत रहते हुए भी जीवन के एक अंग के रूप में उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। महर्षि गौतम इससे सहमत थे इसीलिए उन्होंने अहिल्या का पाणिग्रहण स्वीकार कर लिया। इन्द्र अपनी लालसा की पूर्ति के लिए व्यग्र था और उसने इसके लिए मार्ग निकाल ही लिया। गौतम का वेष वनाकर वह कुछ क्षणों के लिए अहिल्या को पाने में समर्थ हो जाता हैं। किन्तु महर्षि से यह रहस्य छिपा नहीं रह पाता और वे इन्द्र तथा अहिल्या दोनों को शाप दे देते हैं। जहां तक इन्द्र को शाप देने का प्रश्न है उसमें किसी प्रकार के अनौचित्य की अनुभूति नहीं होती। किन्तु जव उन्होंने अहिल्या को शिला होने का शाप दे दिया तव ऐसा लगता है कि जैसे यह एक निरपराध को दिया जाने वाला दण्ड था। पर इस सन्दर्भ में महर्षि गौतम की अपनी दृष्टि थी। वे अपनी संगिनी को धर्म की कठोर कसौटी पर कस कर देखते हैं। यद्यपि वहिरंग दृष्टि से अहिल्या ठगी गयी थी पर वे इस ठगे जाने में अहिल्या की कमी देखते हैं। अहिल्या इन्द्र को गौतम के वेष में देखकर ठगी क्यों जाती है? उनकी दृष्टि में यदि उसका अन्तःकरण पूर्ण रूप से शुद्ध होता तो उसे इस प्रकार की भ्रान्ति हो ही नहीं सकती थी। कहीं न कहीं उसके अन्तःकरण में भी इन्द्र के प्रति आकर्षण के वीज विद्यमान रहे होंगे और वही अवसर पाकर इस रूप में चरितार्थ रहे होंगे।

महर्षि की उपर्युक्त मान्यता को असंगत भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की कठोर कसौटी साधक को निरन्तर सजग रहने की प्रेरणा प्रदान करती है। यद्यपि व्यावहारिक विश्व में ठगा जाने वाला सहानुभूति का पात्र माना जाता है किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ठगा जाने वाला भी किसी न किसी अंश में उसका भागीदार होता है। यदि नोट को दूना बनाकर देने का आश्वासन पाकर कोई व्यक्ति किसी ठग के हाथों अपनी जमा-पूंजी गवां बैठता है, तो भले ही वह सहानुभूति का पात्र माना जाय पर इस ठगे जाने में ठग की चातुरी के साथ उसकी अपनी लोभवासना भी हेतु होती है। विना किसी पुरुषार्थ के क्षण भर में नोटों को दूना करा लेने की आकांक्षा लोभ और अकर्मण्यता के मिश्रण का ही परिणाम है। अतः यह कहा जा सकता है कि सर्वथा वासनाशून्य व्यक्ति को ठग पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। मानस के प्रतापभानु और मैथिली के चरित्र

से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। यदि प्रतापभानु में अजर-अमर बनकर भोगों को भोगने की अदम्य अकांक्षा विद्यमान न होती तो वह कपटमुनि के द्वारा ठगा नहीं जा सकता था। विदेहजा ने भी अपनी लीला के माध्यम से इसी तथ्य का बोध कराया। यदि उन्होंने स्वर्णमृग के प्रलोभन और लक्ष्मण के प्रति संशय को मन में स्थान न दिया होता तो उन्हें लंका में वन्दिनी बनकर कष्ट न उठाने पड़ते। इतिहास और पुराणों में ही नहीं समाज में भी प्रतिदिन ऐसी घटनाएं घटती रहती हैं। समाचार-पत्रों के माध्यम से इस प्रकार की घटनाओं का यथेष्ट प्रचार होता है। पर यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता कि इतने पर भी ठगों और ठगे जाने वालों का यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि जब तक व्यक्ति और समाज अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं से मुक्त नहीं होता तब तक इस प्रकार की घटनाओं से छुट्टी नहीं मिल सकती है। साधारणतया इस प्रकार की घटनाओं को रोकने के लिए समाज दण्ड-व्यवस्था का ही आश्रय लेता है। पर यह दण्ड ठग को ही दिया जाता है और किसी दृष्टि से यह ठीक भी है क्योंकि बेचारा ठगा जाने वाला तो स्वयं ही अपनी दुर्बलता का दण्ड पा चुका होता है। महर्षि भी यदि चाहते तो इसी प्रक्रिया का आश्रय लेकर इन्द्र को दण्ड देकर चुप हो सकते थे पर उन्होंने इस विषय में कठोर प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए अहिल्या को भी दण्डित करना आवश्यक समझा। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि महर्षि गौतम सहृदय नहीं थे। हां, यह अवश्य कह सकते हैं कि स्वयं के प्रति कठोर होने के कारण ही वे अहिल्या से भी उसी प्रकार की दृढ़ता की आशा रखते थे। उनकी मान्यता यह रही होगी कि इस विषय में कोमलता का प्रदर्शन अनाचार को प्रोत्साहन देना है। यदि अहिल्या ने उनकी अर्द्धांगिनी बनकर त्याग और तप के जीवन को स्वीकार किया था तो उसे अपने पथ में अविचलित रहना चाहिए था। दूसरी ओर अहिल्या भी वस्तुतः सहानुभूति की पात्र है। अनिंद्य सौन्दर्य और सुकुमारता होते हुए भी उसने ब्रह्मा के आदेश का पालन करते हुए महर्षि गौतम की भार्या बनना स्वीकार किया था और न जाने कितने लम्बे काल तक उसने निष्ठापूर्वक महर्षि की सेवा की थी। ब्रह्मानिर्मित सारी सृष्टि ही गुण दोष के मिश्रण से बनी हुई है। वह स्वयं भी ब्रह्मा की ही कृति थी अतः उससे सर्वथा दोषशून्य होने की आशा कैसे की जा सकती थी? और इतनी कठिन तपस्या और साधना के पश्चात् भी यदि वह समग्र अर्थों में वासनाशून्य नहीं बन सकी थी तो इसमें उसका क्या दोष था? और क्या इस त्रुटि के लिए उसे इतना कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए था? इसलिए प्रारम्भ में महर्षि के निर्मम शाप से उसका दुखित हो जाना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इस घटनाक्रम में गौतम जितने निर्मम प्रतीत होते हैं वस्तुतः वे वैसे थे नहीं। उन्होंने शाप देने के पश्चात् इससे मुक्त होने का उपाय भी बताया। शापमुक्ति के लिए वे केवल अहिल्या को ही अवधि और उपाय नहीं बताते हैं। उन्होंने इन्द्र के शापमुक्तिकाल को भी निर्धारित कर दिया था। इन्द्र के अपराध के प्रति यह सदय दृष्टि उनके व्यापक दृष्टिकोण को प्रकट करती है।

जहां मर्यादा के प्रति वे अत्यन्त कठोर हैं वहीं वे विचार-निष्ठा के कारण उदार भी हैं। उन्हें यह ज्ञात है कि पुण्यकर्मा इन्द्र यदि मर्यादा का अतिक्रमण करता हुआ अधर्म मार्ग का आश्रय लेता है तो इसके पीछे अदम्य भोग-लालसा ही विद्यमान थी। पर उन्हें यह भी ज्ञात था कि इन्द्र में असुरों जैसी वह ढिठाई नहीं है जिससे प्रेरित होकर निर्लज्जतापूर्वक अपने अनुचित कार्यों का समर्थन किया जाता है। इन्द्र को अपने अपराध का भान था और वह लज्जा तथा ग्लानि में गड़ा जा रहा था। अतः महर्षि का उसके प्रति भी सदय हो जाना सन्त स्वभाव के अनुकूल था। महर्षि गौतम ने इन दोनों की शाप-मुक्ति के कार्य को भगवान् राम से जोड़ दिया। उन्होंने अहिल्या को यह बताया कि "जब जनकपुर की दिशा में प्रस्थान करते हुए राम की चरणधूलि का स्पर्श तुम्हें प्राप्त होगा तब तुम इस अभिशाप से मुक्त हो जाओगी।" इन्द्र को आदेश मिला कि वह उन मंगलमय क्षणों की प्रतीक्षा करे जब दूल्हे के रूप में उसे राघवेन्द्र का दर्शन प्राप्त होगा। उसी क्षण वह अपने अभिशाप से मुक्त हो जाएगा।

इस तरह महर्षि ने पुण्य और तपस्या दोनों की अपूर्णता देखकर जीवन की समग्रता के लिए भक्ति की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया। इन्द्र ने यज्ञ और पुण्य के माध्यम से इन्द्रपद पाकर भोगों से परितृप्त होने का प्रयास किया था। पर भोगों की अपूर्णता और उससे उत्पन्न होने वाली विकृति का प्रत्यक्ष दर्शन उसके जीवन में हुआ। अगणित अप्सराओं का सौन्दर्य भी उसे तृप्ति नहीं दे सका और वासना की पूर्ति के लिए वह स्वर्ग से मर्त्यलोक में उतरकर छल-कपट का आश्रय लेने के लिए बाध्य हो जाता है। परिणामस्वरूप उसके शरीर में हजार छिद्र हो जाते हैं। वस्तुतः भोग-परायण व्यक्ति का जीवन उस घट के समान है जिसमें जल भरा होने पर भी छिद्रों के माध्यम से क्रमशः रीता हो रहा है। केवल एक छिद्र भी जल को समाप्त करने के लिए यथेष्ट है पर जहां अनेक छिद्र हों, वहां तो जल का तुरन्त समाप्त हो जाना अवश्यम्भावी है। वासना का एक छिद्र भी पुण्यों को समाप्त कर देता है। जहां हजारों वासनाएं हों वहां तो पुण्य अवशिष्ट रह जाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इन्द्र को दिए गए शाप में यही सत्य निहित है।

दूसरी ओर महर्षि ने तपस्या के माध्यम से जीवन की वासनाओं को नियन्त्रित करने का मार्ग स्वीकार किया था। अहिल्या उनके ही पथ की अनुगामिनी थी। पर वह वासना को पूरी तरह नियंत्रित करने में सफल नहीं हो पाती। किसी न किसी प्रकार की आत्म-प्रवंचना को स्वीकार कर वह भोगों की दिशा में फिसल ही जाती है। उसकी बुद्धि में चैतन्य तत्त्व के प्रकाश के स्थान पर भोगासक्ति की जड़ता का उदय हो जाता है। भोग और तप की इस अपूर्णता को भगवद्भक्ति के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

प्रस्तर शिला के रूप में पड़ी हुई अहिल्या बहिरंग दृष्टि से जड़ प्रतीत होती हुई भी अन्तर्हृदय में चेतन थी। वह सुस्थिर शिला के रूप में प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। उसके जीवन में क्षणिक विचलन के पश्चात् अडिग आस्था

का उदय होता है और अन्त में वह पवित्र क्षण भी आ ही गया। महर्षि विश्वामित्र के साथ रामभद्र का शुभागमन हुआ। गुरुदेव के अनुरोध पर प्रभु ने शापिता अहिल्या को अपनी चरण धूलि के स्पर्श द्वारा चैतन्य बना दिया। अभिशाप से मुक्त अहिल्या चेतन होते हुए ही भावभरे गद्‌गद स्वर में श्री राम की स्तुति करने लग जाती है:

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही।।
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही।।
धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा रघुपति कृपाँ भगति पाई।
अति निर्मल बानीं अस्तुति ठानी ग्यान गम्य जय रघुराई।।
मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावन रिपु जन सुखदाई।
राजीव बिलोचन भव भयमोचन पाहि पाहि सरनहिं आई।।
मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना।।
विनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागउँ बर आना।
पद पदम परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।।
जेहिं पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी।।
एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पतिलोक अनंद भरी।।

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाँड़ि कपट जंजाल।।

उपर्युक्त छंद में अहिल्या का परिचय 'प्रगट भई तप पुंज' कहकर दिया गया है। बहिरंग दृष्टि से वह अभिशप्त होकर दुख भोग रही थी। न केवल पति के द्वारा अपितु पशु-पक्षियों के द्वारा भी परित्यक्ता होकर जनशून्य आश्रम में पड़ी हुई थी। किन्तु यह अभिशाप उसके लिए तपस्या के रूप में परिणत हो गया। कुछ लोग जो स्वभाव से ही मलिन और खोटे होते हैं, जिनका अन्तःकरण कलुषित होता है वे वाह्य आवरण के द्वारा अनुकूल परिस्थितियों में नकली स्वर्ण की भांति चमकते हुए से प्रतीत होते हैं। प्रतिकूलता और दुख की आंच का सामना होते ही वे काले पड़ जाते हैं। किन्तु कुछ व्यक्तियों का चरित्र शुद्ध स्वर्ण के समान होता है। जिनकी छांव कभी-कभी वाह्य मलिनताओं के सम्पर्क से धूमिल हो जाती है किन्तु प्रतिकूलता और दुख की आंच पड़ने पर उनकी खोई हुई चमक लौट आती है। अहिल्या का व्यक्तित्व शुद्ध स्वर्ण की भांति था जिस पर वासना की मलिनता कुछ क्षणों के लिए छा गई थी। पर अपनी क्षणिक त्रुटि के लिए वह न जाने कितने वर्षों तक पश्चात्ताप की अग्नि में तपकर निखर उठी थी, अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि तपस्या के साथ उनके व्यक्तित्व में भक्ति का संयोग 'मणिकांचन' अथवा

'स्वर्ण-सुगंध' योग का चरितार्थ करने लगा था। सम्भव है कि दीर्घकाल तक महर्षि गौतम की सेवा करते हुए अहिल्या के अन्तःकरण में त्याग और अपने तप का सात्त्विक अहंकार उदित हुआ हो। इन्द्र के द्वारा घटित घटना से उसका यह अहंकार विनष्ट हो गया और इसीलिए अहंकार शून्य होकर रामभद्र के चरणों में नत हो पाई। उसकी दोनों आंखों से होने वाला अविरल अश्रुप्रवाह वस्तुतः प्रेम और भक्ति की दो धाराओं की अभिव्यक्ति का परिचायक है। आध्यात्मिक अर्थों में दो नेत्र ज्ञान, वैराग्य के प्रतीक हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे ज्ञान के नेत्रों में भक्ति का जल स्रोत फूट पड़ा हो। दूसरी ओर वैराग्य की दृष्टि से प्रीति की रसवन्ती धारा फूट पड़ी हो। इस प्रेम सक्ति के द्वारा ही अन्तःकरण की समस्त मलिनताएं धुल जाती हैं। रामचरितमानस में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इन पंक्तियों में किया गया है :

जप तप नियम जोग निज धर्मा।
श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन।
जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका।
पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पदपंकज प्रीति निरंतर।
सब साधन कर यह फल सुंदर॥
छूटइ मल कि मलहि के धोएँ।
घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥

आगे चलकर अहिल्या के द्वारा भगवान् राम की की जाने वाली स्तुति में उसकी दिव्य दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। वह भगवान् राम को 'रावन रिपु' कहकर सम्बोधित करती हैं। बहिरंग साहित्यिक दृष्टि से यह सम्बोधन असंगत प्रतीत होता है क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् राम और रावण की शत्रुता का श्रीगणेश अभी तक नहीं हुआ है पर आन्तरिक दृष्टि से विचार करने पर इस भिन्न सम्बोधन का भिन्न ही रहस्य सामने आता है। दृष्टि-विभ्रम के कारण ही अहिल्या गौतम वेषधारी इन्द्र को पहिचानने में असमर्थ रही थी। पर यह उसके अन्धत्व का परिचाय नहीं है। अहिल्या उन क्षणों में ऐसे व्यक्ति की भांति बन गई थी जिसकी आंखें आंधी की धूल के कारण देखने में असमर्थ हो गई थीं। पर वासना की धूल ने जिस दृष्टि को इतना मलिन बना दिया था कि आज प्रेमसक्ति के जल के द्वारा वह धूल पूरी तरह धुल चुकी है और वर्तमान की तो बात ही क्या वह भविष्य को भी वर्तमान के ही रूप में देख रही है। भविष्य में घटित होने वाला रावण-रिपुत्व आज ही उसकी दृष्टि के समक्ष साकार हो उठा है। अथवा वह यह कहना

चाहती है कि उसकी अपावनता को विनष्ट करने में ही उनके 'रावन-रिपु' नाम की सार्थकता है। ईश्वर किसी व्यक्ति-विशेष से शत्रुता करे यह बड़ा अटपटा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह रावणत्व का विनाश करने के लिए ही अवतरित होता है। रावण जब विदेहजा का हरण करता है तब इसके द्वारा उसके अन्तःकरण की वासना और कलुष का ही परिचय प्राप्त होता है। वह नकली वेष बनाकर जानकी का अपहरण कर लेता है। अहिल्या को प्रतीत होता है कि जब इन्द्र नकली वेष बनाकर उसे छलता है तब उसके अन्तःकरण में रावणत्व ही तो सक्रिय था। प्रभु ने उसे अपने चरण-स्पर्श के द्वारा रावणत्व के अभिशाप से मुक्त कर दिया।

स्तुति में प्रकट किए गए विचारों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहिल्या को एक नई दृष्टि प्राप्त हो चुकी है, इसीलिए वह गौतम के द्वारा दिए गए शाप को अभिशाप न समझकर वरदान के रूप में लेती है। व्यावहारिक दृष्टि से उसे उलाहना देने का पूरा अधिकार था कि महर्षि ने उसके प्रति निष्ठुरता का व्यवहार किया है। वर्षों की गई सेवा को भुलाकर अनजाने में हुए क्षणिक अपराध के लिए इतना कठोर दण्ड देना कैसे न्यायसंगत हो सकता है? अतः श्री राम के चरणों स्पर्श से चेतन होने के पश्चात् वह श्री राम के प्रति कृतज्ञ होते हुए भी तुलनात्मक रूप में मुनि की निष्ठुरता का स्मरण कर सकती थी। पर इसके प्रतिकूल प्रभु की स्तुति करते हुए महर्षि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस शाप के अभाव में जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकती थी। आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति ही है, समस्त धर्मों के पालन का उद्देश्य भी यही है। एक पतिव्रता भी पति की आराधना के माध्यम से इसी लक्ष्य तक पहुंचती है। साधारणतया प्रत्येक पति अपनी पत्नी के प्रति अधिकार वृत्ति का प्रयोग करता हुआ उसे अपनी अनुगामिनी के रूप में ही देखना चाहता है। शायद ही कोई अपनी पत्नी को भक्ति की दिशा में अभिमुख करने का प्रयास करता हो। पर उसके पतिदेव ने महान् उदारता का परिचय देते हुए उसे ईश्वर के चरम सान्निध्य तक पहुंचा दिया। इसलिए वह 'मुनि शाप जो दीन्हा अतिभल कीन्हा' कहकर उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन करती है। अहिल्या का अन्तःकरण आज समस्त हीनता और ग्लानि से मुक्ति पा चुका था। वह प्रभु से भगवद्शक्ति की ही याचना करती है। वह यह नहीं चाहती है कि जीवन में फिर कभी पुरानी भूल दुहराई जाय।

अहिल्या-प्रसंग का उपसंहार गोस्वामी जी 'गै पति लोक अनंद भरी' कहकर करते है। इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि पतिव्रत धर्म के आदर्श को स्वीकार करते हुए भी इसमें जीवन के यथार्थ पक्ष की उपेक्षा नहीं की गई है। मनुष्य निरन्तर आदर्श की दिशा में प्रयत्नशील होता हुआ भी मनःस्थिति और परिस्थिति के कारण कई बार मार्गच्युत हो जाता है। पर इसमें उसके कल्याण का मार्ग सर्वदा के लिए अवरुद्ध नहीं हो जाता है। समाज की अपनी दृष्टि और बाध्यताएं हैं। वह अपनी सुरक्षा के लिए विधि-विधानों को अत्यन्त महत्त्व देता है। इसे सर्वथा

अनुचित नहीं कहा जा सकता। किन्तु सन्त और ईश्वर भी उसी दृष्टि को स्वीकार करें यह आवश्यक नहीं है। मनुष्य के दो चरणों के बीच की दूरी सुनिश्चित है, वह चाहकर भी उन्हें असीम दूरी तक नहीं फैला सकता है। पर ईश्वर के साथ यह समस्या नहीं है। वह कभी वामन दिखाई देता है तो अगले ही क्षण विराट् बनकर सारे ब्रह्मांड को ढाई चरणों में नाप लेता है। इसलिए वह अपनी करुणा के द्वारा धर्म और स्खलन की इस दूरी को मिटाने में समर्थ है। महर्षि गौतम के शाप और वरदान दोनों में इसी सत्य को स्वीकार किया गया है। न्याय और करुणा के समन्वय के द्वारा ही मानवीय समस्या का समाधान किया जा सकता है। अहिल्या के चरित्र में घटित भूतकालीन घटनाओं को मानस में थोड़ा भी विस्तार नहीं दिया गया। उसे तो केवल 'पूछा मुनिहिं सिला प्रभु देखी, सकल कथा मुनि कही बिसेषी' की एक ही पंक्ति में समाप्त कर दिया गया। पर चेतन होने के पश्चात् अहिल्या द्वारा की गई स्तुति को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। भूत में उलझे रहना मानस को अभीष्ट नहीं है। क्षण भर का स्खलन ही जीवन का अमिट सत्य नहीं बन जाता है। सत्य तो यह है कि मूलतः जीव ईश्वर का अंश है इसलिए चेतना ही उसका सहज सिद्ध स्वभाव है। जड़ता तो मध्य की भ्रान्ति है। अहिल्या प्रारम्भ में भी चेतन थी अन्त में भी वह पुनः चैतन्य हो गई, मध्य की जड़ता महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्रीराम ने अपने दर्शन की महिमा बताते हुए जीव को कुछ देने का दावा नहीं किया। वे तो यही कहते हैं कि मेरे दर्शन से जीव को अपने सहज स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज सरूपा॥

चैतन्यता के पश्चात् अहिल्या ने भले ही कृतज्ञता का ज्ञापन किया हो पर भगवान् राम ने इस घटना में अपना कोई उपकार नहीं माना। वे तो अहिल्या के चरण-धूलि के स्पर्श कराने की बाध्यता से संकुचित थे। अहिल्या-प्रसंग 'अरथ अमित अरु आखर थोरे" का एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है।

श्री परशुराम जी

मानस में विस्तार की दृष्टि से विचार करने पर परशुराम का चरित्र बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता है, किन्तु अंतरंग दृष्टि से देखने पर तथ्य इसके सर्वथा विपरीत दिखाई देता है। प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से विचार करने पर असंदिग्ध शब्दों में यह कहा जा सकता हैं कि नाटकीयता का जैसा चरमोत्कर्ष परशुराम और श्रीराम के सम्वाद में दिखाई देता है वह सर्वथा अनुपम और अद्वितीय है। धनुर्भंग-प्रसंग में राजाओं की असफलता के पश्चात् राघवेन्द्र के द्वारा धनुष तोड़े जाने के प्रसंग को पढ़कर यह प्रतीत होता है, इस प्रसंग का चरमोत्कर्ष वही है जहां कुछ ही क्षणों में श्री रामभद्र विश्वविजेता और अतुलनीय कीर्ति के अधिकारी वन जाते हैं। मिथिलेशनन्दिनी के द्वारा जयमाल अर्पित कर दिए जाने के पश्चात् यह प्रसंग सहज रूप में ही समाप्त हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। मैथिली को प्राप्त करने की अभिलाषा लेकर आने वाला राजाओं का समूह राम की विजय को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं प्रतीत होता। ऐसा लगा कि जैसे युद्ध अपरिहार्य है। महत्त्वाकांक्षी राजा चुनौती देने की मन:स्थिति में थे। किन्तु इन नाटकीय क्षणों में रंगमंच पर एक ऐसे नायक का आगमन होता है जिसकी अद्वितीयता उस समय सर्वमान्य थी। यह थे भगवान् परशुराम। और तव राम और परशुराम के रूप में दो नायक आमने-सामने दिखाई देते हैं। साधारणतया नायक और प्रतिनायक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में एक दूसरे के समक्ष होते हैं, पर यहां स्थिति सर्वथा भिन्न थी। यह दो समान नायकों की प्रतिद्वन्द्विता थी। उनमें कुछ अनोखे साम्य भी थे, न केवल दोनों के नाम में ही समानता थी अपितु पौराणिक दृष्टि से दोनों को ही अवतार के रूप में स्वीकार किया गया था। ईश्वर के अवतरित होने के जो कारण स्वीकार किए गए हैं उनमें मुख्य हेतु अभिमानी दुष्ट असुरों को विनष्ट करना है। पर अवतार स्वयं अवतार के ही विरुद्ध संघर्षरत हो ऐसा नहीं देखा जाता। किन्तु इस प्रसंग के प्रारम्भ में कुछ ऐसी ही प्रतीति होती है। इस पृष्ठभूमि में विचार करने पर यह प्रसंग अत्यन्त विचारोत्तेक प्रतीत होता है।

मानस के प्रारम्भ में राम-कथा को 'वुध विश्राम सकल जन रंजनि' कहा गया है। यद्यपि यह दोनों बातें समग्र राम कथा के लिए कही गई हैं परन्तु कभी-कभी प्रसंग की दृष्टि से भी इनका विभाजन किया जाता है। अर्थात् कुछ प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें 'वुध विश्राम' कहा जा सकता है तो कुछ एसे हैं जो मुख्यत: 'जन-रंजनि' की श्रेणी में आते हैं। इस दृष्टि से राम-परशुराम का यह सम्वाद 'जन-रंजनि' की ही श्रेणी में माना जाता है। साधारणतया पाठक या श्रोता और वक्ता भी इसका नामकरण और राम-परशुराम के सम्वाद के रूप में न कर लक्ष्मण-

परशुराम सम्वाद के रूप में करते हैं, यह सम्वाद अत्यन्त लोकप्रिय है। इस प्रसंग की लोकप्रियता की पराकाष्ठा प्रतिवर्ष खेली जाने वाली रामलीलाओं के प्रसंग में देखी जा सकती है। शायद ही रामलीला के किसी प्रशंग में दर्शक इतना अधिक आनन्द लेते हों जितना कि इस प्रसंग में। उनकी दृष्टि में यह व्यंग-परिहास और उत्तर-प्रत्युत्तर का प्रसंग है, जहां दो प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे को पराजित करने का प्रयास करते हैं। दर्शकों को यह इतना अधिक प्रिय है कि वे उसकी उतनी ही मात्रा से सन्तुष्ट नहीं होते जितनी मानस में प्रस्तुत की गई है। इसलिए उनकी आकांक्षा को दृष्टिगत रखकर इसका मनमाना विस्तार भी कर दिया जाता है और बहुधा यह सम्वाद रात-रात भर चलता रहता है। इससें इस प्रसंग की जनरंजकता ही सिद्ध होती है। पर सत्य तो यह है कि इसे केवल जनरंजन के रूप में देखना इसकी वास्तविक गरिमा को समाप्त कर देना है। भले ही यह कथा जनसमाज को 'जनरंजनि' के रूप में सन्तुष्ट कर पाती हो पर गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें 'बुध विश्राम' के भी सारे तत्त्व विराजमान हैं। 'बुध विश्राम सकल जनरंजनि' की सार्थकता जितनी इस प्रसंग में है उसकी तुलना किसी अन्य प्रसंग से नहीं की जा सकती है। इस प्रसंग के सच्चे मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि पुराणों में परशुराम के चरित्र की जो पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है उसे दृष्टिगत रखते हुए यहां उनकी भूमिका पर विचार किया जाय।

पुराणों में उनका परिचय महर्षि जमदग्नि के पुत्र के रूप में दिया गया है। उनके चरित्र के साथ कुछ विलक्षण घटनाएं जुड़ी हुई हैं। वे इक्कीस वार पृथ्वी को क्षत्रियशून्य बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं। किन्तु क्षत्रिय जाति के प्रति उनके आक्रोश की कथा जिस रूप में प्रस्तुत की गई है उस कथा से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता हैं कि वे जन्मजात क्षत्रिय-विरोधी नहीं थे। पर परिस्थितियों से जिस क्षत्रिय-विरोध का क्रम प्रारम्भ हुआ, वाद में वह उनकी प्रकृति का अंग बन गया। घटना का वर्णन इस रूप में किया गया है। प्रशान्त स्वभाव के महर्षि जमदग्नि तपोवन में रहते हुए अपने आश्रम धर्म में आरूढ़ थे। उसी समय माहिष्मती में महान् पुरुषार्थ सम्पन्न सहस्त्रार्जुन राज्य कर रहा था, वह अनेक अलौकिक क्षमताओं के युक्त था। एक दिन मृगया करते हुए वह महर्षि जमदग्नि के आश्रम में प्रविष्ट होता है। महर्षि के द्वारा सहस्रार्जुन का स्वागत किया गया, पर वह इससे रंचमात्र सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसकी दृष्टि महर्षि की कामधेनु पर जाती है, और महर्षि की स्वीकृति की प्रतीक्षा किए बिना वह वलपूर्वक कामधेनु का अपहरण कर लेता है। उस समय परशुराम आश्रम में नहीं थे। लौट कर आने के बाद जब उन्होंने पिता से सारा समाचार सुना, तब वे क्रोध में भर उठे और उन्होंने अपने परशु के प्रहार से उसकी भुजाओं को विनष्ट करते हुए उसे मृत्यु का ग्रास बना दिया और कामधेनु को पुनः लौटा ले आए। परशुराम के द्वारा सहस्रार्जुन की मृत्यु का समाचार सुनकर जमदग्नि प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने इस कठोर दण्ड के लिए परशुराम की आलोचना की। उन्होंने पुत्र को जिन शब्दों में फटकारा उनका

वर्णन श्रीमद्भागवत में इन पंक्तियों के माध्यम से किया गया है :

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत् ।
अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा ।।
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः ।
यया लोकगुरुर्देव पारमेष्ठ्यमगात पदम् ।।
क्षमया रोचते लक्ष्मी ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा ।
क्षमिणामाशु भगवाँस्तुष्यते हरिरीश्वरः ।।
राज्ञोमूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद् गुरुः ।
तीर्थं संसेवयार्चाहो जह्यंगाच्युत चेतनः ।।

जमदग्नि मुनि ने कहा—हाय-हाय परशुराम ! तुमने वड़ा पाप किया । राम राम ! तुम वड़े वीर हो परन्तु सर्वदेवमय नरदेव का तुमने व्यर्थ ही वध किया । बेटा । हम लोग ब्राह्मण हैं, क्षमा के प्रभाव से ही हम संसार में पूजनीय हुए हैं । और तो क्या सवके दादा ब्रह्माजी भी क्षमा के वल से ही ब्रह्मपद को प्राप्त हुए हैं । ब्राह्मणों की शोभा क्षमा के द्वारा ही सूर्य की प्रभा के समान चमक उठती है । सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीहरि भी क्षमावनों पर ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं । बेटा, सार्वभौम राजा का वध ब्राह्मण की हत्या से भी वढ़कर है । जाओ भगवान् का स्मरण करते हुए तीर्थों का सेवन करके अपने पापों को धो डालो ।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि जमदग्नि अत्यन्त व्यापक और उदार दृष्टिवाले थे । यद्यपि कार्तवीर्य सहस्रार्जुन ने बहुत वड़ा अन्याय और उनका अनादर किया था पर अपने क्षमाशील स्वभाव के कारण उन्होंने राजा के इस महान् अपराध को भुला दिया । वे सहस्रार्जुन के गुणों के प्रशंसक थे । उन्होंने यह मान लिया था कि उस समय कुछ क्षणों के लिए राजमदजन्य नशे से वह उन्मत्त हो गया था । और जैसे अच्छा-भला व्यक्ति सुरा पीकर कभी-कभी अनुचित आचरण कर वैठता है, पर नशा उतरने पर अपने क्रिया-कलाप के सन्दर्भ में ग्लानि और लज्जा का अनुभव करता है । इसी प्रकार सहस्रार्जुन को भी अपनी त्रुटि के लिए अवश्य पश्चात्ताप होगा । वे क्षमा के द्वारा ही मानव-मन के परिवर्तन में विश्वास करते थे । किन्तु तेजस्वी परशुराम ने अपराध के लिए दण्ड-व्यवस्था के महत्त्व को ही स्वीकार किया था । इस तरह यह प्रसंग क्षमा और दण्ड के शाश्वत प्रश्न से जुड़ा हुआ है । पिता से भिन्न मत रखते हुए भी परशुराम ने पिता के आदेश का पालन करने के लिए सहस्रार्जुन के वध का प्रायश्चित्त कर लिया और वे तीर्थयात्रा के लिए चले गए । इस तरह उनकी दृष्टि में यह प्रश्न समाप्त हो चुका था । पर यह प्रश्न पुनः उठ खड़ा हुआ क्योंकि सहस्रार्जुन के पुत्र सहिष्णु नहीं थे । यदि उनमें विचार-प्रवणता होती तो वे यह सोचकर शान्त हो जाते कि पिताजी ने अपने ही अपराधों का दण्ड पा लिया है । पर वे बदले की आग से जलने लगे और उन्होंने प्रतिशोध का पथ स्वीकार किया । परशुराम की अनुपस्थिति में उन्होंने यज्ञस्थल से जमदग्नि को खींचकर उनका वध कर दिया ।

वेचारी ऋषिपत्नी रेणुका विलाप करती रह गयी। यहीं से उस प्रतिशोध-परम्परा का क्रम प्रारम्भ हुआ जिसका समापन समग्र क्षत्रियों के इक्कीस वार संहार से हुआ। भगवान् परशुराम लौट कर आये और मां से पिता के वध का समाचार सुनकर उनके दु:ख और क्रोध की सीमा नहीं रही। पहले भी परशुराम क्षमा के पक्षधर नहीं थे। उनकी न्याय और दण्ड पर अटूट आस्था थी ! अपने पिता पर अतुलनीय श्रद्धा के कारण ही वे सहस्रार्जुन के वध को अपना त्रुटिपूर्ण कार्य मान बैठें थे। पिता के आदेश से उन्होंने इसके लिए प्रायश्चित भी किया था। पर आज क्षमा के सिद्धान्त के प्रति उनकी आस्था पूरी तरह समाप्त हो गई। यदि सहस्रा-र्जुन के पुत्रों ने अपने पिता के वध का वदला लेने के लिए उन्हें चुनौती दी होती तो उन्हें इसमें रंचमात्र आपत्ति न होती। वे एक वीर पुरुष थे औरयुद्ध की चुनौती को सहर्ष स्वीकार कर सकते थे। इसे वे अन्यायपूर्ण भी न मानते। पर नियति का इससे क्रूर व्यंग्य क्या हो सकता था कि वदले का यह प्रहार उस महापुरुष पर किया गया जो जीवन भर क्षमा का पक्षधर रहा था, जो सहस्रार्जुन की मृत्यु पर हृदय से दु:खी हुआ था। परशुराम ने इस घटना को केवल पिता की मृत्यु के रूप में ही नहीं देखा अपितु उनके लिए यह क्षमा के सिद्धान्त की ही मृत्यु थी। उन्हें यह लगा कि शास्त्रीय सिद्धान्त: 'धर्मो रक्षति रक्षित:' (धर्म अपने रक्षक की रक्षा करता है) सत्य नहीं है। यदि क्षमा-धर्म में यह सामर्थ्य होती तो क्या वह महर्षि जमदग्नि की रक्षा न कर पाता ? जो क्षमा-धर्म स्वयं अपने प्रति अटूट आस्था रखने वाले को सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ है वह सारे समाज को सुरक्षा कैसे प्रदान कर सकता है ? धर्म समाज को धारण करता है इस कसौटी पर क्षमा-धर्म खरा सिद्ध नहीं होता। न्याय और दण्ड के द्वारा ही समाज सुरक्षित रह सकता है। और तव उनका ध्यान इस ओर गया कि इस न्याय और दण्ड-धर्म का इससे वढ़कर दुर्भाग्य क्या हो सकता है कि यह उन लोगों के हाथ में है जो स्वयं अन्यायी एवं अत्याचारी हैं। इस प्रकार के विचारों से वे उद्वेलित हो उठे और उन्होंने इस व्यवस्था को वदलने का दृढ़ संकल्प किया। साधारण व्यक्ति के जीवन में भी कभी-कभी शासक के अन्याय और अत्याचार की अनुभूति होती है। किन्तु असमर्थता के कारण वह चुप लगाकर वैठ जाता है। किन्तु समर्थ परशुराम के लिए यह स्थिति असह्य थी। उन्होंने अनुभव किया कि महर्षि जमदग्नि की मृत्यु पर देश के समग्र क्षत्रियों में से विंरोध का कोई स्वर मुखर नहीं हुआ। सहस्रार्जुन के पुत्रों को दण्ड देना तो दूर किसी राजा ने इसकी शाब्दिक भर्त्सना भी नहीं की। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वे इस अन्याय के मूक समर्थक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सहस्रार्जुन के वध को जातीय रूप प्राप्त हो गया था। एक ब्राह्मण-कुमार के द्वारा क्षत्रिय-वध से वे उत्तेजित हो उठे थे। वहुधा ऐसे अवसरों पर न्याय-अन्याय का स्थान ममत्व ले लेता है। सम्भवत: उन्हें इसमें एक ब्राह्मण की ढिठाई की भी अनुभूति हुई होगी जिसने एक महान् राजा को चुनौती देने का दुस्साहस किया था। जमदग्नि के वध को उन्होंने वदले के रूप में देखा और इसलिए उन्हें यह सन्तोष हुआ कि ब्राह्मणों

को उनकी ढिठाई के लिए उचित दण्ड दे दिया गया है। इसलिए परशुराम की दृष्टि में सारी क्षत्रिय जाति इसके लिए दोषी थी और तब उन्होंने सारी क्षत्रिय जाति को समाप्त कर देने का निश्चय किया। अलग-अलग राजाओं के प्रति विचार करना उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुआ। उन्हें ऐसा लगा कि न्याय की इस दीर्घ प्रक्रिया से अन्याय को बल प्राप्त होगा और इससे न्याय का वास्तविक उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। इस तरह उग्र विचारों के पक्षधर परशुराम ने सारी क्षत्रिय जाति को विनष्ट कर दिया। पर उन्हें इससे पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ। उन्हें लगा कि सम्भव है वध के समय गर्भ में पलने वाले बालक बड़े होकर पुनः सिर उठाने की चेष्टा करें। इसीलिए उन्होंने अपनी समझ से समस्या को सदा-सदा के लिए समाप्त कर देने का उद्देश्य लेकर क्षत्रिय जाति पर अनेक प्रहार किये। उन्हें क्षमा और कृपा जैसे शब्द दुर्बलता के पर्यायवाची प्रतीत होने लगे। इसलिए उन्होंने क्षमा को अपने पास भी नहीं फटकने दिया। निश्चित रूप से उनकी यह धारणा अतिरंजित थी, पर क्रिया और प्रतिक्रिया के चक्र में सर्वदा ही ऐसा होता है। इसके साथ-साथ वह निरन्तर इस बात के लिए सजग थे कि उनके इस क्रिया-कलाप को व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा अथवा स्वार्थ से न जोड़ा जाय। स्वयं विवाह न कर वे बाल-ब्रह्मचारी रहे। कामवासना को उन्होंने पास भी न फटकने दिया। उन्होंने निर्णय किया कि जिस निर्ममता से उन्होंने अन्यायियों को दण्ड दिया है, उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने में पत्नी और परिवार के माध्यम से ममता का विस्तार न होने दें। राजाओं को समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने स्वयं कभी भी सिंहासन पर आरूढ़ होने का प्रयत्न नहीं किया। वे निरन्तर त्याग-परायण निस्पृह महापुरुष बने रहे। क्षत्रिय जाति को समाप्त करने के बाद उन्होंने सारी पृथ्वी ब्राह्मणों को दान में दे दी। इतने समस्त सद्गुणों के होते हुए भी वे समाज की समस्याओं का समाधान देने में असमर्थ रहे। एक अति को मिटाने में उन्होंने दूसरी अति को जन्म दे दिया। उनके प्रयास करने पर भी क्षत्रिय जाति पूरी तरह से नहीं मिट पाई। स्वयं ब्राह्मण जाति भी उनके इस कठोर कर्म से सहमत न थी। इसलिए उनमें से अनेक ने क्षत्रिय वर्ण को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। सत्य तो यह है कि इस अभियान में वे सर्वथा अकेले रह गए। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के अभाव ने जहां उन्हें सम्मानित किया, वहीं अपनी क्रूरता के कारण वे आतंक के प्रतीक बन गए। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह देख लिया था कि क्षत्रिय जाति का पुनः उदय हो गया है। पर अब वे इतने मात्र से ही सन्तुष्ट थे कि उनके समक्ष सिर उठाने का साहस किसीमें नहीं है। विश्व में घटित होने वाली घटनाओं के प्रति वे उदासीन हो गए। रावण के अत्याचार से मुनियों की रक्षा का भी उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया। सम्भवतः इसमें कई कारण विद्यमान थे। रावण को वे एक मुनिपुत्र के रूप में देखते थे और स्वयं शिव के शिष्य होने के नाते शिव-भक्त रावण को अपनी प्रीति का पात्र मान बैठे थे। रावण के द्वारा समस्त राजाओं की पराजय भी उन्हें प्रिय लगी होगी। इस तरह यह स्पष्ट हो

गया कि ईश्वर के सामर्थ्य गुण का अवतरण उनमें भले ही हुआ हो पर वे अन्य ईश्वरीय गुणों से वंचित थे। इसलिए उन्हें अपूर्णावतार या आवेशावतार कहना सर्वथा सार्थक है। वे समाज की समस्याओं का समाधान करते-करते स्वयं समस्या वन गये। वे एक औषधि के रूप में सामने आए जो तात्कालिक रोग का निवारण करने के पश्चात् अपनी उग्र प्रतिक्रिया के द्वारा अन्य रोगों को जन्म देती है। इस लिए ईश्वर के एक अवतार के होते हुए दूसरे अवतार की आवश्यकता सामने आई, और यह पूर्णावतार थे श्री राम।

ईश्वर का यह अवतार क्षत्रिय जाति में हुआ था। मानो इसके द्वारा ईश्वर ने परशुराम के न्याय सम्वन्धी जीवन दर्शन को ही अस्वीकार कर दिया। न्याय, अन्याय, उत्कृष्टता, अपकृष्टता का सम्बन्ध वर्ण विशेष से जोड़ देना अधूरी दृष्टि का परिचायक है। इतना ही नहीं, न्याय और दण्ड के नाम पर क्षमा की अस्वीकृति उचित नहीं है। क्षमा की क्षणिक असफलता का तात्पर्य उसकी अनुपयोगिता नहीं है। यदि क्षमा समाज की समस्याओं का समाधान करने में पूरी तरह सक्षम नहीं है, तो दण्ड भी इसका समाधान नहीं दे सकता है। यदि अकेले दण्ड में यह सामर्थ्य होती तो अनादि काल से दण्ड-व्यवस्था के होते हुए भी समाज में अपराध की प्रवृत्ति वनी न रहती। अतः विचारों का सामंजस्य लेकर भगवान राम का अवतरण हुआ था। यह एक अनोखे संयोग जैसा प्रतीत होता है कि दोनों के नामों में इतना अधिक साम्य है। किन्तु यह केवल संयोग मात्र ही नहीं है। इसका तात्पर्य मानो यह वताना था कि राम तो एक ही हैं किन्तु राम के साथ जुड़े परशु ने जिस आतंक और भय की सृष्टि की थी, अव वह समाप्त हो चुका है। यह परशु शव्द इतना महत्त्वपूर्ण वन बैठा था कि वह राम से भी पहले उच्चरित होने लगा था। अतः अव जड़ परशु के स्थान पर चैतन्य राम के प्रतिष्ठापित होने की वारी थी।

इन दोनों रामों का मिलन एक विलक्षण अवसर पर हुआ। महाराज श्री जनक ने एक स्वयंवर सभा का आयोजन किया था। जहां विश्व के सारे राजा एकत्र थे। वाल-ब्रह्मचारी परशुराम की वहां अनुपस्थिति स्वाभाविक थी। संभव है कि महाराज जनक के द्वारा धनुर्भंग की प्रतिज्ञा उन्हें प्रिय न लगी हो, क्योंकि यह धनुष उनके गुरुदेव भगवान शिव का था। किन्तु उन्होंने इस विश्वास के आधार पर पहले हस्तक्षेप करना व्यर्थ समझा हो कि इस धनुष को तोड़ सकना किसी के लिए भी सम्भव न होगा और इसके परिणामस्वरूप उनके गुरु के गौरव की वृद्धि होगी। पर उनकी यह कल्पना धनुर्भंग के साथ ही खंडित हो गई। ऐसी स्थिति में उदासीन रह पाना उनके लिए सम्भव न था। धनुर्भंग की इस ध्वनि में उन्हें क्षत्रिय जाति की चुनौती का स्वर सुनाई पड़ा और उन्हें पुनः यह निर्णय करना पड़ा कि पूरी तरह से सिर उठाने के पहले ही क्षत्रिय जाति का दर्प-दलन करना पड़ेगा। इसलिए वे तत्काल जनकपुर पहुंच जाते हैं। उनके आगमन का वर्णन मानस की इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा।
आयउ भृगुकुल कमल पतंगा॥
देखि महीप सकल सकुचाने।
बाज झपट जनु लवा लुकाने॥
गौर सरीर भूति भल भ्राजा।
भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥
सीस जटा ससि वदनु सुहावा।
रिसबस कछुक अरुन होइ आवा॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते।
सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥
बृषभ कंध उर बाहु बिसाला।
चारु जनेउ माल मृगछाला॥
कटि मुनिवसन तून दुइ बाँधे।
धनु सर कर कुठार कल काँधे॥
सांत वेषु करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनि तनु जनु बीर रस आयउ जहँ सब भूप॥

उपर्युक्त पंक्तियों में जो शब्दचित्र प्रस्तुत किया गया है, वह परम्परा की पूर्ति मात्र नहीं है। इसमें प्रयुक्त शब्दावली के माध्यम से परशुराम के व्यक्तित्व और विरोधाभास का मार्मिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सबसे पहले उनका परिचय 'आए भृगुकुल कमल पतंगा' के रूप में दिया गया है। परशुराम सूर्य हैं इसे स्वीकार करने में गोस्वामी जी को कोई आपत्ति नहीं है। मानस में श्री रामभद्र का परिचय भी बार-बार सूर्य के रूप में दिया गया है। ऐसी स्थिति में उनके प्रतिद्वन्द्वी का परिचय भी सूर्य के रूप में देना अटपटा प्रतीत होता है। पर इसके पीछे गोस्वामी जी के कई उद्देश्य हैं। इसके द्वारा वे इस प्रतिद्वन्द्विता की भिन्नता की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

१. भगवान राम और रावण की प्रतिद्वन्द्विता प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष है, किन्तु परशुराम और राम के संघर्ष को उस रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।

२. केवल विश्व के लिए अन्धकार ही दुखदायी नहीं है। कभी-कभी सूर्य का प्रकाश भी समाज को सन्त्रस्त कर देता है। धनुर्भङ्ग के पहले भगवान राम को भी सूर्य की उपाधि दी गई है। पर वहां सूर्य के साथ एक शब्द को जोड़ना आवश्यक माना गया, यह शब्द है 'बाल पतंग'। सारे रामचरितमानस में शायद ही पतंग के साथ बाल शब्द को जोड़ा गया हो। वस्तुतः यहां तुलनात्मक रूप में परशुराम से पार्थक्य प्रकट करने के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है। श्री रामभद्र शरद् ऋतु के प्रातःकालीन सूर्य के समान आकर्षक और प्रिय प्रतीत होते हैं, जब कि परशुराम ज्येष्ठ मास की दोपहरी में उदित सूर्य के समान सारे समाज को सन्तप्त कर रहे थे।

३. सूर्य कमल को विकसित करता है। राम-रवि के उदय से संत-सरोज विकसित हुए। परशुराम भी सूर्य हैं किन्तु यह 'भृगुकुल कमल' को ही विकसित बनाते हैं। इससे दोनों के जीवन-दर्शन की भिन्नता प्रकट हो जाती है। जातीय दृष्टि से विचार करने वाले परशुराम कुल की सीमा में आबद्ध हैं। संत सार्वकालिक, सार्वजनीन सद्‌गुणों का प्रतीक है। संतत्व किसी जाति अथवा देश की सीमा में आबद्ध नहीं है। श्री रामभद्र का उदय इसी सार्वकालिक सत्य की अभिव्यक्ति के लिए हुआ था।

श्री राम— उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥

× × ×

परशुराम— तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा।
आए भृगुकुल कमल पतंगा॥

परशुराम सुन्दर हैं, इसलिए उनकी मुखाकृति की तुलना चन्द्रमा से की गई है। किन्तु इस चन्द्रमा में सुशीतलता के स्थान पर क्रोध की अरुणिमा विद्यमान है, क्रोध के अभाव में वे एक सम्मोहक व्यक्तित्व वाले व्यक्ति होते। उनका गौरवर्ण अत्यन्त आकर्षक है पर उसे उन्होंने भस्म से आच्छादित कर लिया है। विभूति और भस्म के माध्यम से वे भगवान शंकर के प्रति अपनी भक्ति को अभिव्यक्ति देते हैं। भगवान शंकर अनन्त गुणगण-निलय हैं पर परशुराम को मुख्य रूप से उनका भयंकर रूप ही प्रिय है। शिव चिता-भस्म को धारण करते हैं, उनके इस चिह्न को धारण कर परशुराम हृदय में सन्तुष्टि का अनुभव करते होंगे। क्योंकि संहार करते हुए उन्हें ऐसा प्रतीत होता होगा कि अपने आराध्य रुद्र का ही कार्य पूर्ण कर रहे हैं। इस तरह वे स्वयं को निष्ठावान शिष्य मानकर गर्वान्वित होते हैं। नेत्र के माध्यम से व्यक्ति के अन्तःकरण के विविध भावों की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु परशुराम के नेत्र इसके अपवाद हैं। वे चाहकर भी क्रोध को छोड़ नेत्र से किसी अन्य भाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते हैं। उनके नेत्रों में क्रोध एक ऐसे स्वामी के रूप में निवास करता है, जिसे देखकर कोई अन्य भाव भीतर प्रविष्ट होने का साहस ही एकत्र नहीं कर पाता है। कभी-कभी कवियों ने नेत्र में ग्रीष्म और वर्षा के एकीकरण की कल्पना की है। 'एक समय दोऊ ग्रीष्म और बरसात' कहकर आश्चर्य की सृष्टि की गई है। साधारणतया व्यक्ति के नेत्रों में कभी न कभी आंसू छलक आते हैं, किन्तु अगणित वर्षों से परशुराम के नेत्र अश्रुशून्य हो चुके हैं। उनमें क्रोध की ऊष्मा भरी दोपहरी छोड़कर करुणा की वर्षा कभी नहीं होती। फिर कोई श्रान्त पथिक उन नेत्रों के सन्निकट पहुंचने की कल्पना कैसे कर सकता है? एक ओर वे मृगचर्म और माला धारण करते हुए मुनि रूप का परिचय देते हैं पर दूसरी ओर अस्त्र-शस्त्रों की भीड़ में उनका मुनित्व छिप-सा गया है। वे धनुष और परशु को एकसाथ धारण करते हैं। जहां वे परशु के द्वारा निकट आए हुए शत्रु का संहार करते हैं वहीं धनुष यह बता देता है कि दूर भाग कर भी उनके क्रोध से बच पाना सम्भव

नहीं है। धनुष के साथ तूणीर का होना अवश्यम्भावी है पर यहां तूणीर में भी अस्वाभाविकता विद्यमान है। 'तून दुइ बांधे' कहकर इसकी विलक्षणता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। वे एक के स्थान पर दो तूणीर धारण करते हैं। परशुराम जीवन के सारे क्षेत्रों में अपरिग्रही हैं। उन्होंने जीवन में किसी वस्तु का संग्रह नहीं किया। पर तूणीर इसका अपवाद है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें एक ही चिन्ता थी कि उनके तूणीर के तीर कम न हो जाएं ? यह अतिरेकभरी युद्ध-प्रियता का चिह्न था। अन्त में 'शान्त वेष करनी कठिन' कहकर उनके व्यक्तित्व के द्वैत को प्रकट किया गया है। मुनि का जीवन मुख्यतः शान्ति के लिए समर्पित होता है। वह दूसरों के जीवन में भी शान्ति का संचार करता है। पर परशुराम अपने कठोर कर्म के द्वारा शान्त लोगों के जीवन में भी अशान्ति की सृष्टि कर देते हैं। उनकी तुलना वीर रस से की गई है। मानस में करुणा के क्षणों में वीर रस के आगमन की सार्थकता की ओर संकेत किया गया है लंकाकाण्ड में श्री लक्ष्मण के लिए औषधि लेकर आए हुए हनुमान जी की कल्पना इसी रूप में की गई है :

प्रभु प्रलाप सुनि कान विकल भए बानर निकर।
आइ गए हनुमान जिमि करुना महँ वीर रस ॥

वीर रस की दूसरी सार्थक अभिव्यक्ति शत्रु की चुनौती का उत्तर देने के क्षणों में होती है। वीर रस के दो ही मुख्य प्रयोजन हो सकते हैं :

१—वीरता के द्वारा दीन और पीड़ित जनों की रक्षा। "जिमि करुना महं वीर रस" में इसी सार्थकता की ओर संकेत किया गया है।

२—अपने शौर्य और शक्ति का प्रदर्शन 'करुणा महं वीर रस' के आदर्श को परशुराम जी भुला बैठे हैं, अपने इस शौर्य का प्रदर्शन ही उनकी वीरता का लक्ष्य रह गया है। इस तरह परशुराम का व्यक्तित्व अद्‌भुत विरोधों से भरा हुआ प्रतीत होता है। इसलिए गोस्वामी जी चित्रांकन के उपसंहार में 'बरनि न जाइ सरूप' कहकर अपनी असमर्थता का ज्ञापन करतें हैं। वस्तुतः इस वर्णन का सांकेतिक तात्पर्य श्री रामभद्र से उनकी तुलना करना हैं। सर्वप्रथम दोनों को सूर्य की उपमा देकर दोनों सूर्यों के पार्थक्य की ओर संकेत किया गया है। धनुषयज्ञ के मण्डप में रामभद्र के आगमन पर जो झांकी प्रस्तुत की गई है वह इस प्रकार है :

राजत राज समाज महुँ कोसलराज किसोर।
सुंदर स्यामल गौर तन बिस्व बिलोचन चोर ॥

सहज मनोहर मूरति दोऊ।
कोटि काम उपमा लघु सोऊ ॥
सरद चंद निंदक मुख नीके।
नीरज नयन भावते जी के ॥
चितवनि चारु मार मनु हरनी।
भावति हृदय जाति नहिं बरनी ॥

कल कपोल श्रुति कुंडल लोला।
चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥
कुमुद बंधु कर निंदक हासा।
भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं।
कच बिलोक अलि अवलि लजाहीं॥
पीत चौतनीं सिरन्हि सुहाई।
कुसुम कली बिच बीच बनाई॥
रेखें रुचिर कंबु कल गीवाँ।
जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥
कुंजर मनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
वृषभ कंध केहरि ठवनि बल निधि बाहु बिसाल॥
कटि तूनीर पीत पट बाँधे।
कर सर धनुष बाम बर काँधे॥
पीत जग्य उपबीत सुहाए।
नख सिख मंजु महाछबि छाए॥
देखि लोग सब भए सुखारे।
एकटक लोचन चलत न तारे॥

श्री रामभद्र का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह उनके सन्तुलित व्यक्तित्व और चरित्र को अभिव्यक्ति देता है। परशुराम की ही भांति राम का मुख भी चन्द्रमा के समान है किन्तु दोनों में पार्थक्य है। जहां परशुराम का मुखचन्द्र दृष्टि-चकोर की सृष्टि नहीं करता वहीं 'रामचन्द्र मुखचन्द्र' के अगणित चकोर विद्यमान हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि शरीर-रचना की दृष्टि से समान सौंदर्य होते हुए भी परशुराम का सौन्दर्य किसी को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ नहीं है। यदि एक की चितवनि 'मार मन हरनी' है तो दूसरे की सहज चितवनि में भी रोष की ही अनुभूति होती है। राघव के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी उनकी हंसी का उल्लेख करना नहीं भूलते हैं। हंसी आन्तरिक आनन्द की अभि-व्यक्ति है। परशुराम के होंठों पर हंसी की एक रेखा भी विद्यमान नहीं है। श्री राम की भृकुटि यदि विकट है तो परशुराम की भृकुटि के लिए भी उससे मिलते-जुलते 'भृकुटि-कुटिल' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्री राम की 'बंक भृकुटि' के साथ 'मनोहर नासा' कह कर कवि ने एक सामंजस्य की सृष्टि की। सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से भृकुटि का टेढ़ापन उसका गुण है। किन्तु व्यवहार में टेढ़ेपन से भय लगता है, पर यहां बंक भृकुटि के साथ मनहरण करने वाली नासिका उस भय को दूर कर देती है। मानों नासिका सामने वाले व्यक्ति को यह आश्वासन देती है कि भृकुटि की बंकिमा से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। निरन्तर सामीप्य से मुझे यह भली भांति ज्ञात है कि भृकुटि के बहिरंग टेढ़ेपन के अन्तराल में सरलता

छिपी हुई है। पर परशुराम की भृकुटि को कुटिल कहने के पश्चात् 'नयन रिस राते' कहना 'करेला और नीम चढ़ा' की उक्ति को सार्थक सिद्ध करता है। लगता है कि डराने के लिए क्या भौंहों का टेढ़ापन कम था जो 'नयन रिस राते' कहकर उसे पूरा किया जा रहा है ? श्री राम भी धनुर्धर हैं किन्तु वहां शस्त्रों का अतिरेक नहीं है। श्री राम राजकुमार के वेष में होते हुए भी लोगों के अन्तःकरण में सुख और शान्ति का संचार करते हैं। इसके प्रतिकूल परशुराम का मुनिवेष भी लोगों को आश्वस्त नहीं कर पाता है। राघवेन्द्र की वीरता की अभिव्यक्ति करुणा की वेला में होती है। जब जनक सहित समस्त नर-नारी दुखी हो रहे थे तब श्री रामभद्र की वीरता उन्हें उस दुख से उबार लेती है। जब कि परशुराम की वीरता आतंक की सृष्टि करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्री राम के समान ही परशुराम में भी सौन्दर्य, शौर्य और सद्गुण विद्यमान हैं किन्तु श्री राम के समान उनका सार्थक उपयोग नहीं हो पाता है। पर परशुराम के इस कठोर आवरण में कहीं न कहीं कोमलता और रस की अनुभूति विद्यमान है। इसका परिचय अगले दृश्य से प्राप्त होता है। उस आवेश की वेला में भी मैथिली के प्रणाम करने पर वे द्रवित होकर आशीर्वाद देते हैं, इससे सखियों के मन में अपार प्रसन्नता होती है। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र से भी वे बड़ी ही प्रसन्नता से मिले, श्री राम और लक्ष्मण के सौन्दर्य ने भी उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया :

जनक बहोरि आइ सिरु नावा।
सीय बोलाइ प्रनामु करावा॥
आसिष दीन्हि सखीं हरषानी।
निज समाज लै गईं सयानी॥
बिस्वामित्रु मिले पुनि आई।
पद सरोज मेले दोउ भाई॥
रामु लखनु दसरथ के ढोटा।
दीन्हि असीस देखि भल जोटा॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन।
रूप अपार मार मद मोचन॥

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार हृदय में उठने वाले भावों को वे अन्तःकरण की दुर्बलता मान बैठे थे इसलिए क्षणिक रूप से इन कोमल भावनाओं का उदय होते ही वे उन पर विजय पाने का प्रयास करते हैं। आगे चलकर इस प्रकार की भावनाओं के लिए व्याकुल और पश्चात्ताप करते हुए-से प्रतीत होते हैं। कोमल भावनाओं के प्रति उनके मन में कितनी अधिक अरुचि थी इसका पता आगे चलकर तब लगता है कि जब वे चाहकर भी लक्ष्मण पर परशु का प्रयोग नहीं कर पाते। उन्हें लगा कि अनगिनत राजाओं का संहार करने वाले हाथ आज इस बालक पर प्रहार करने में हिचकिचाहट का अनुभव कर रहे हैं। उन्हें अपने स्वभाव में भी कुछ परिवर्तनों की अनुभूति हुई। पर इस परिवर्तन से वे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने

आश्चर्य और पश्चात्ताप भरे स्वर में यह कहना प्रारम्भ किया कि आज मुझे क्या हो गया है ? यह मेरा हाथ और कुठार कुंठित-सा क्यों प्रतीत हो रहा है ? लगता है कि ब्रह्मा ही मेरे प्रतिकूल हो गए हैं तभी तो मेरे स्वभाव में इस प्रकार का परिवर्तन हुआ है। आज दया ने मुझे दुस्सह दुःख दे दिया है :

बहई न हाथु दहइ रिस छाती।
भा कुठारु कुंठित नृपघाती॥
भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ।
मोरे हृदयँ कृपा कसि काऊ॥
आजु दया दुखु दुसह सहावा।
सुनि सौमित्रि बिहँसि सिरु नावा॥

इस प्रकार की कोमल भावनाओं के प्रति उनकी अरुचि का क्या रहस्य है ? वस्तुतः इन कोमल भावनाओं को वे अपनी निष्ठा के प्रतिकूल मानते थे। स्वयं के ब्रह्मचारी होने का उन्हें गर्व था, इसलिए वे सौन्दर्य के प्रति आकर्षण जैसी वृत्ति को अपने मार्ग में बाधक मानते थे। उन्हें लगता था कि उनकी यह शुष्कता स्वयं अपने अपने-आपमें भले ही कठोर हो किन्तु कांटेदार वाड़ की भांति ब्रह्मचर्य व्रत रूपी वृक्ष की रक्षा के लिए वह परमावश्यक है। इसी प्रकार वे कृपा की भावना को भी न्याय और दण्ड के मार्ग में बाधक समझकर उसकी पूरी तरह उपेक्षा कर देते हैं। ब्रह्मचर्य और सौन्दर्य, दण्ड तथा कृपा परस्पर पूरक बनकर भी जीवन में निवास कर सकते हैं इस पर उनका विश्वास नहीं था। सौन्दर्य के प्रति काम-वासना-शून्य आकर्षण भी हो सकता है, यह उनकी दृष्टि में सर्वथा असम्भव है। न्याय और कृपा परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं यह उनका दृढ़ अभिमत था। श्री राम के व्यक्तित्व में इन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का समन्वय विद्यमान है। राम और परशुराम के सम्वाद में यह आदि से अन्त तक परिलक्षित होता है कि वे वाणी की मृदुता में भी विश्वास नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य सदा कटु होता हैं। इसीलिए वे वार्तालाप के आरम्भ में ही ऐसी कटु भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें शील का संस्पर्श भी नहीं है। वे धनुर्भंग करने वाले व्यक्ति का नाम जानना चाहते हैं, इसे वे मृदु भाषा में भी पूछ सकते थे। पर उन्होंने राजर्षि जनक के लिए 'जड़' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक समझा। इतना ही नहीं, वे न बताने पर दुष्परिणाम की धमकी देना भी आवश्यक समझते हैं :

अति रिसि बोले बचन कठोरा।
कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू।
उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥

यथार्थ तो यह है कि वे जनक को भी बहुत बड़ा अपराधी समझते थे। क्योंकि धनुर्भंग के द्वारा कन्या के परिणय की प्रतिज्ञा उन्होंने ही की थी। इस प्रकार की कठोर भाषा सुनकर महाराज जनक का विचलित हो जाना स्वाभाविक ही था।

उनके कठोर स्वभाव से परिचित होने के नाते ही वे भयभीत भी हो गए। ऐसी स्थिति में उत्तर देने के लिए श्री रामभद्र आगे आए। भगवान राम सत्य और शील का समन्वय परमावश्यक मानते हैं। जीवन के प्रति उनकी दृष्टि कलात्मक है। उन्हें गोस्वामी जी ने गीतावली में 'कलानिधान' की उपाधि प्रदान की है। कलाकार वही है कि जो कुरूपता में भी सौन्दर्य की सृष्टि कर दे। सत्य यदि कुरूप हो तो भी उसे सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना यही शील की कला है। भगवान् राम की वाणी में इसी कलात्मकता की अभिव्यक्ति होती है। जब वे परशुराम को नाथ के रूप में सम्बोधित करते हुए यह कहते हैं कि धनुष तोड़ने वाला तो कोई आपका एक सेवक ही होगा :

अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं।
कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥
सुर मुनि नाग नगर नर नारी।
सोचहिं सकल त्रास उर भारी॥
मन पछताति सीय महतारी।
बिधि अब सँवरी बात बिगारी॥
भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता।
अरध निमेष कलप सम बीता॥
सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।
हृदयँ न हरषु बिषादु कछु बोले श्री रघुबीरु॥
नाथ संभु धनु भंजनिहारा।
होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥

यह उत्तर केवल सूचनात्मक नहीं था। वे बड़ी सरलता से यह कह सकते थे कि यह धनुष मैंने तोड़ा है। किन्तु वे अपने उत्तर के द्वारा परशुराम को पूरी तरह सन्तुष्ट करने का प्रयास करते हैं। परशुराम धनुष तोड़ने वाले को मानसिक रूप में अपना प्रतिद्वन्द्वी स्वीकार कर चुके हैं। इस तरह वे अनजाने में ही अपने प्रतिद्वन्द्वी को बराबरी का पद दे बैठते हैं। किन्तु श्री राम 'नाथ' कहकर उनके अहं को तृप्त करने का प्रयास करते हैं। इसका तात्पर्य यह था कि आपने अनजाने में भले ही धनुर्भङ्ग करने वाले को बराबरी का पद दे दिया हो पर वह स्वयं ऐसी धृष्टता नहीं कर सकता है। वह तो स्वयं को एक सेवक के रूप में ही देखता है। सांकेतिक दृष्टि से श्री राम का यह भी तात्पर्य था कि सेवक का कार्य स्वामी को श्रममुक्त करना है। यदि आप भूभार हरण के लिए अवतरित हुए हैं तो आपको श्रममुक्त करने के लिए यह सेवक भी वही कार्य करने जा रहा है। इसलिए इसमें प्रतिद्वन्द्विता की कल्पना ही व्यर्थ है। अथवा उनका तात्पर्य यह था कि सेवक के द्वारा किसी वस्तु के टूट जाने पर स्वामी को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि सेवक ने जानबूझ कर स्वामी को कष्ट पहुंचाने के लिए ऐसा कार्य किया होगा। इसी दृष्टि से श्री राम ने धनुर्भङ्ग-कर्ता के रूप में अपना परिचय न देकर अन्य पुरुष के रूप में संकेत किया। 'मैंने

धनुष तोड़ा है' ऐसा कहने पर अहंकार और प्रतिद्वन्द्विता की-सी प्रतीति होती। श्री राम किसी भी तरह परशुराम के अहं पर आघात नहीं करना चाहते हैं। किन्तु परशुराम इस वाणी को समझने में असमर्थ रहे। सबसे विलक्षण बात यह थी कि श्री रामभद्र की वाणी सुनते समय उन्हें एक क्षण के लिए भी यह प्रतीत नहीं हुआ कि धनुर्भङ्गकर्ता स्वयं यही हैं। उन्हें ऐसा लगा कि यह विनम्र राजकुमार अपनी मधुर वाणी के द्वारा अपराधी को क्रोधमुक्त करना चाहता है। इस प्रकार की भ्रान्ति अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती है। किसी विश्वविजेता के द्वारा भी इस प्रकार की नम्र वाणी का प्रयोग किया जा सकता है इसकी तो कल्पना तक कर पाना उनके लिए असम्भव था। एक विजेता के रूप में वे जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे उनकी धारणा थी कि अन्य विजेता भी इसी प्रकार की वाणी का प्रयोग करते होंगे। इससे भिन्न वे एक दूसरे प्रकार की वाणी सुनने के भी अभ्यस्त थे जिसे पराजित और भयभीत व्यक्ति उनके समक्ष बोला करते थे। किन्तु इस प्रकार के वाक्यों से वे कभी द्रवित नहीं होते थे, परन्तु अभी उन्हें जो वाणी सुनने को मिली थी वह सर्वथा भिन्न प्रकार की थी, न तो उसमें विजेता का गर्व था और न ही पराजित की दीनता। वाणी की यह शैली उनके लिए सर्वथा नई थी।

रामभद्र के द्वारा कथित वाक्यों के उत्तर में परशुराम ने उनकी इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया कि शंकर का धनुष तोड़ने वाला उनका सेवक है। उन्होंने साफ-साफ यह कहा कि धनुष तोड़ने वाले को मैं सहस्रार्जुन समान अपना शत्रु मानता हूं। साथ ही उन्होंने यह आदेश भी दिया कि धनुष तोड़ने वाले को समाज से अलग होकर मेरे सामने आ जाना चाहिए नहीं तो मैं यहां उपस्थित समस्त राजाओं का वध कर दूंगा :

> सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा।
> सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
> सो बिलगाउ बिहाइ समाजा।
> न तु मारे जैहहिं सब राजा॥

उपर्युक्त वाक्यों से परशुराम के जीवन-दर्शन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, श्री राम ने जब धनुष तोड़ने वाले को सेवक के रूप में प्रस्तुत किया था तब उनका तात्पर्य यह था कि केवल क्रिया देखकर ही व्यक्ति के बारे में निर्णय नहीं कर लेना चाहिए। टूटने की प्रकियां सर्वथा भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के द्वारा भी सम्भव है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को तोड़कर अपमानित करने या आघात पहुंचाने का प्रयत्न करे तब उसे शत्रु के रूप में देखना उपयुक्त है। पर अपने प्रिय पुत्र तथा सेवक के द्वारा वस्तु के टूट जाने को इसी रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। शत्रुता की भावना से किए गए अपराध के लिए दण्डित करना न्यायसंगत है, पर पुत्र अथवा सेवक तो स्नेह और क्षमा के ही पात्र हैं। किन्तु न्याय के प्रति परशुराम की दृष्टि पूरी तरह क्रियापरक है, वे भावना को न्याय का आधार बनाने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। उनकी मान्यता यह थी कि इसके द्वारा तो प्रत्येक अपराधी भावना की

दुहाई देकर अपने को दण्ड से नचा ले। गइसलिए निर्णय का आधार कल्पित भावना न होकर प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली क्रिया ही हो सकती है। मैंने सहस्रार्जुन को इसीलिए दण्डित किया था कि उसने आश्रम से कामधेनु को अपहृत कर मेरे पिता को अपमानित करने का प्रयास किया था। धनुर्भङ्ग के द्वारा भी मेरे आराध्य गुरुदेव भगवान शंकर को अनादृत करने का प्रयास किया गया है। ऐसी स्थिति में चुप बैठे रह जाने का तात्पर्य यही होगा कि मुझमें गुरुभक्ति का अभाव है। अतः अपराधी को दण्डित करना मेरा परम कर्तव्य है। इसके साथ ही वे जब यह कहते हैं कि अपराधी के अलग न खड़े होने पर मैं समस्त राजाओं का वध कर दूंगा तब न्याय के सम्बन्ध में उनकी धाराणा और भी स्पष्ट हो जाती है। कभी-कभी अपराधी और निरपराधी का भेद करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में न्याय की कसौटी क्या होनी चाहिए? एक मान्यता यह है कि निरपराध को दण्ड मिल जाना सबसे बड़ा अन्याय है। इसलिए किसी भी स्थिति में निरपराध को दण्ड प्राप्त नहीं होना चाहिए। दूसरी मान्यता यह है कि अपराधी-निरपराधी के सूक्ष्म विश्लेषण के फेर में यदि किसी प्रकार अपराधी छूट जाता है तो इससे अपराध वृत्ति को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। इसलिए अपराध के मूलोच्छेदन के लिए कठोर दण्ड दिया ही जाना चाहिए, भले ही इसमें कुछ निरपराधी माने जाने वाले व्यक्ति भी दण्डित क्यों न हो जाएं। फिर अपराधी को सामने लाना सारे समाज का कार्य है। यदि वे इससे विरत होते हैं तो इसका तात्पर्य भी यही है कि वे अपराध वृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें भी दण्डित किया जाना चाहिए। भगवान राम न्याय के प्रति प्रथम धारणा के पक्षधर हैं। निरपराध को दण्ड देना तो दूर यदि अपराधी भी अपनी त्रुटि स्वीकार कर ले तो वे उसे भी क्षमा करने को प्रस्तुत हैं। परशुराम की आस्था दूसरी धारणा में अडिग है। इसलिए वे एक के अपराध पर उसके सारे निकटस्थ समूह को दण्डित करने में संकोच का भी अनुभव नहीं करते। इस प्रसंग में भी उनका तात्पर्य यही था कि यदि धनुष तोड़ने वाला अपराधी स्वयं सामने नहीं आता तो अन्य सारे राजाओं का कर्तव्य है कि उसे सामने लाने की चेष्टा करें। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो अपराध में सहयोग देने के लिए उन्हें भी दण्डित किया जाएगा। वे प्रारम्भ से इसी मान्यता के आधार पर कार्य करते रहे हैं और आज भी उसी पर अडिग हैं। ऐसी स्थिति में लक्ष्मण को ऐसा प्रतीत हुआ कि परशुराम से उनकी ही शैली में वार्तालाप किया जाना चाहिए। रामभद्र कुछ कहें इसके पहले ही वे बोल पड़े : "स्वामिन्! बाल्यावस्था के खेल में हम लोगों के द्वारा न जाने कितनी धनुहियां तोड़ दी गईं पर पहले कभी आपको क्रोध नहीं आया फिर इस धनुष पर ही आपकी इतनी ममता क्यों है?

सुनि मुनि वचन लखन मुसुकाने।
बोले परसुधरहिं अपमाने॥
बहु धनुहीं तोरीं लरिकाईं।
कबहुँ न असि रिस कीन्हि गोसाईं॥

एहि धनु पर ममता केहि हेतू।
सुनि रिसाइ कह भृगुकुल केतू ॥

लक्ष्मण का यह प्रश्न कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। उनका तात्पर्य यह था कि दण्ड देते समय भावना पर विचार करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति वाध्य है। धनुष टूटने की प्रक्रिया नई नहीं है, वाल्यावस्था में वालक्रीड़ा में वालकों के द्वारा धनुष तोड़ दिए जाने पर भी उन्हें दण्ड का भागी नही माना जाता।

अतः इस प्रसंग में भावना की उपेक्षा कहां तक संगत है ? इसके साथ ही वे यह भी वताना चाहते हैं कि इस प्रसंग में उनका हस्तक्षेप अनधिकार चेष्टा है। सहस्रार्जुन ने जिस गाय का अपहरण किया था वह आपके पिता जी की थी उसके अपहरण पर आपका क्रुद्ध होना न्यागसंगत था, किन्तु इस अवसर पर तो आपके हस्तक्षेप का कोई आधार नहीं है। यह धनुष आपका तो है नहीं। आप यह कह सकते हैं कि यह मेरे गुरुदेव का धनुष है पर यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उन्होंने धनुष महाराजा जनक को देकर अपने अधिकार का स्वयं परित्याग कर दिया। ऐसी स्थिति में इस धनुष के टूटने अथवा न टूटने से आपका कोई संवन्ध नहीं है। क्या दूसरे की वस्तु में ममता जोड़ना न्यायसंगत कहा जा सकता है ? किन्तु लक्ष्मण के इन सारगर्भित वाक्यों पर परशुराम ने गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया। लक्ष्मण की वाणी सुनते ही वे अत्यधिक आवेश में आ गए। एक वालक को अपनी वरावरी से वोलते देखकर वे पूरी तरह सन्तुलन खो वैठते हैं। इसमें उन्हें अत्यधिक अपमान की अनुभूति होती है। उनके लिए इस प्रकार का अनुभव सर्वथा अभूतपूर्व था। वे उस मनःस्थिति में नहीं रह गए कि लक्ष्मण की वाणी पर गम्भीरता से विचार कर सकें, इसीलिए वे "एहि धनु पर ममता केहि हेतू" का कोई उत्तर न देकर धनु और धनुहीं शब्द में ही उलझ जाते हैं। वे लक्ष्मण पर आरोप लगाते हैं कि शिव-धनुष से धनुहीं की तुलना करना भगवान शिव का वहुत वड़ा अनादर है। लक्ष्मण के वाक्यों का युक्तिसंगत उत्तर देने के स्थान पर वे उन्हें कठोर शब्दों में फटकारने लग जाते हैं :

रे नृपवालक कालबस बोलत तोहि न सँभार।
धनुहीं सम त्रिपुरारिधनु बिदित सकल संसार ॥

परशुराम की इस वाक्यावली ने उनकी स्वभावगत दुर्वलताओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अगणित वर्षों तक उनकी अद्वितीयता स्वयंसिद्धि के रूप में स्वीकार कर ली गई थी। वे स्वयं को एक ऐसा न्यायाधीश मानते थे जिसे दूसरे के कार्यों में औचित्य-अनौचित्य पर विचार करने का पूर्ण अधिकार था। पर स्वयं उनमें भी कोई अनौचित्य हो सकता है इसे वे स्वप्न में भी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न थे। फिर वालक और वह भी क्षत्रिय का, उनकी आलोचना करे इसे वे कथमपि स्वीकार नहीं कर सकते थे। संहार की अद्‌भुत क्षमता के कारण वे स्वयं को काल कां नियामक मान वैठे थे। इसलिए वे लक्ष्मण को फटकारते हुए यह कहते हैं कि तू काल के वशीभूत हो रहा है। 'वोलत तोहि न संभार' से यह स्पष्ट हो जाता

है कि यद्यपि वे स्वयं कटु सत्य बोलने के अभ्यस्त थे पर दूसरों के द्वारा उसी प्रकार की वाणी का प्रयोग उन्हें असह्य था। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' के सिद्धान्त को उन्होंने भुला दिया था। दूसरों के प्रति दुर्व्यवहार करते हुए भी वे स्वयं अन्य लोगों से सम्मान की ही आशा रखते थे। वस्तुतः लक्ष्मण एक दर्पण के रूप में उनके समक्ष खड़े थे। जिन्हें वे लक्ष्मण के दोष मान रहे थे तो स्वयं उनके ही दोष थे।

परशुराम की इस आक्रोश भरी वाणी से लक्ष्मण प्रभावित नहीं हुए। उन्होंने परशुराम की अद्वितीयता की भ्रान्ति को मिटाने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। इसीलिए वे परशुराम के वाक्यों को सुनकर हंस पड़ते हैं, और पुनः एक वाक्य कह-कर उनके क्रोध को उकसा देते हैं। 'देवता' मेरी समझ से तो सभी धनुष समान हैं, फिर इस जीर्ण-शीर्ण धनुष को तोड़ने में तो कोई लाभ-हानि मुझे नहीं दिखाई देती है। शायद श्री राम इसे छूने की चेष्टा भी न करते किन्तु उनके नेत्रों को धोखा हुआ और उनके स्पर्श करते ही धनुष टूट गया, इसलिए आपको अकारण क्रोध नहीं करना चाहिए :

लखन कहा हँसि हमरे जाना।
सुनहु देव सब धनुष समाना॥
का छति लाभ जून धनु तोरे।
देखा राम नयन के भोरे॥
छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।
मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥

साधारणतया संघर्ष में व्यक्ति क्रोध का उत्तर क्रोध से देता है पर लक्ष्मण ने क्रोध का उत्तर हंसी से दिया। वस्तुतः यह विचित्र विरोधाभास था। बच्चे बहुधा बड़ी सरलता से खीझ उठते हैं और गुरुजन उनकी खीझ पर मुस्करा उठते हैं। पर यहां स्वयं को वयोवृद्ध के रूप में प्रस्तुत करने वाले बात-बात पर खीझ उठते थे और बालक मुस्करा रहा था। वृद्ध के द्वारा बचकानी बातें कही जा रही थीं और बालक की बातों में दार्शनिक तत्त्वज्ञान के सूत्र छिपे हुए थे। जमदग्नि के पुत्र महर्षि परशुराम समस्त शास्त्रों के पण्डित थे किन्तु शास्त्रज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए निरन्तर मनन, स्वाध्याय आदि का क्रम चलते रहना चाहिए, 'शास्त्र सुचिंतित पुनिपुनि देखिअ' में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु परशुराम की शस्त्र के प्रति आसक्ति ने उनके शास्त्रज्ञान को कितना विस्मृत कर दिया था यह प्रसंग इसका एक बड़ा प्रमाण है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वे जिस आक्रोशभरी वाणी का प्रयोग कर रहे थे उसमें कहीं भी उनमें शास्त्र का संस्कार देखने को नहीं मिलता है। सबसे अन्त में उनका संस्कार अवश्य चैतन्य हुआ जब उनके अन्तःकरण में श्री राम के अवतार होने की सम्भावना का उदय हुआ। पर उन क्षणों में भी शस्त्र के प्रति उनकी महत्त्व बुद्धि का परिचय तब मिला जब वे राम के ईश्वरत्व को स्वीकार करने के लिए भी शस्त्र को ही कसौटी के रूप में स्वीकार करते हैं।

लक्ष्मण के द्वारा जो बातें कही गयीं, साधारण दृष्टि से उनका तात्पर्य परशुराम का उपहास करना प्रतीत होता है। पर परिहास में कही जाने वाली ये बातें परशुराम को शस्त्र से हटाकर शास्त्रों की ओर उन्मुख करने की दृष्टि से कही गई थीं। 'सुनहु देव सब धनुष समाना' के पीछे दम्भ के प्रदर्शन जैसी कोई बात नहीं है। ज्ञान का फल समत्व ही है, 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।' में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यदि चैतन्य तत्त्व की दृष्टि से विचार करें तो धनु और धनुही में किसी प्रकार के सापेक्ष्य तारतम्य का दर्शन करना सर्वथा अज्ञान का सूचक है। लक्ष्मण यह आशा करते हैं कि परशुराम जैसा महापुरुष भेद-बुद्धि और अज्ञान का परिचय नहीं देगा। दूसरी ओर लक्ष्मण का संकेत यह था कि यदि 'त्रिपुरारि धनु' के प्रति उनके अन्तःकरण में अद्वितीयता की धारणा है तो उन्हें यह सोचना चाहिए कि उस अप्रतिम शिवधनुष को तोड़ने वाला क्या कोई साधारण व्यक्ति हो सकता है? इसीलिए वे इस वाक्य के द्वारा श्री राम की उस ईश्वरीय दृष्टि का परिचय देते हैं कि जहां शिवधनुष भी बाल-क्रीड़ा की धनुही के समान प्रतीत होता है। केवल एक ब्रह्माण्ड को दृष्टिगत रख कर विचार करने पर शिव की अद्वितीयता सिद्ध होती है। क्योंकि एक ब्रह्माण्ड में जहां अगणित बालक विद्यमान होते हैं वहां शिव केवल एक ही होते हैं। पर जब ब्रह्म के व्यापक स्वरूप पर विचार करते हैं तब उसमें निहित अगणित ब्रह्माण्डों में शिव की स्थिति भी बालकों की ही भांति हो जाती है। इसीलिए कौशल्या अम्बा के समक्ष प्रभु के द्वारा अपना विराट् रूप प्रकट किए जाने पर उसमें अगणित शंकरों की उपस्थिति दिखाई देती है :

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥
अगनित रबि ससि सिव चतुरानन।
बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ।
सोउ देखा जो सुना न काऊ॥
देखी माया सब बिधि गाढ़ी।
अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावइ जाही।
देखी भगति जो छोरइ ताही॥

लक्ष्मण का अभिप्राय यह था कि श्री राम की तो बात ही क्या उनके विराट् रूप को जानने वाले के मन में भी शिव और बालक, धनु और धनुही में कोई भेद नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में आप जैसे महापुरुष से मैं इस प्रकार की भेद-मूलक दृष्टि की अपेक्षा नहीं रखता हूं। फिर वे यह भी बता देना चाहते हैं कि भले ही शिवधनुष टूटने में आपको बहुत बड़ी हानि प्रतीत हो रही हो, और कुछ लोगों को ऐसा भी लग सकता है कि इससे श्री राम को बहुत बड़ा लाभ हुआ है पर स्वयं

श्री राम की दृष्टि लाभ-हानि से परे है। लक्ष्मण का यह वाक्य भी तथ्यपरक ही है। धनुभंग के समय श्री राम की जिस मन:स्थिति का उल्लेख किया गया है उससे भी इसी सत्य की सिद्धि होती है। लाभ में मनुष्य को हर्ष की अनुभूति होती है और हानि में दु:ख की। धनुभंग के लिए उठने वाले सभी राजाओं के मन में हर्ष और विषाद के मिले-जुले भाव विद्यमान थे। जहां धनुष टूटने की कल्पना उन्हें उत्साहित करती थी वहां न टूटने की आशंका उन्हें भय और विषाद से ग्रस्त बना देती थी। पर श्री राम में हर्ष और विषाद दोनों का ही अभाव था। वे सर्वथा सहज भाव से ही धनुष तोड़ने के लिए चल पड़े थे। इसी तरह धनुष टूटने के पश्चात् यदि उन्हें हर्ष होना चाहिये था तो परशुराम के आगमन पर उनमें विषाद का उदय भी अवश्यम्भावी था। आदि और अन्त दोनों ही प्रसंगों में उनकी मन:-स्थिति सर्वथा एकरस है :

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा।
हरषु बिषाद न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भए उठि सहज सुभाए।
ठवनि जुवा मृगराजु लजाए॥

× × ×

सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्री रघुबीरु॥

श्री लक्ष्मण का व्यंग्य यह था कि जब एक राम समत्व की इस मन:स्थिति में स्थित हैं तब दूसरे राम का इस तरह विचलित होना कहां तक उपयुक्त है? 'छुअत टूट रघुपतिहिं न दोसू' में श्री राम के अकर्तृत्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया। इसका भी तात्पर्य यही बताना था कि अन्य लोगों की दृष्टि में भले ही धनुष राघवेन्द्र द्वारा तोड़ा गया हो पर स्वत: वे अपनी दृष्टि से ऐसा नहीं मानते हैं। 'देखा राम नयन के भोरे' में भी उनकी दृष्टि की विलक्षणता की ओर इंगित किया गया है। साधारण दृष्टि से तो इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि श्री राम को दृष्टिभ्रम हो गया, इसीलिए उन्होंने धनुष को देखकर उसे छूने का संकल्प किया। पर तत्त्वत: इसमें श्री राम के नेत्रों के उस भोलेपन का वर्णन किया गया था जिसकी चर्चा बहुधा भक्तों के द्वारा अनेक प्रसंगों में की गई है। यह वह दृष्टि है जिसमें केवल कृपा और करुणा का तत्त्व ही विद्यमान है। यदि भक्तों की दृष्टि से व्याख्या करें तो यह कह सकते हैं कि जैसे शापग्रस्त पाषाणी अहिल्या को देख-कर उनके अन्त:करण में करुणा उमड़ पड़ी और अपने चरणस्पर्श के द्वारा उन्होंने उसे शापमुक्त कर दिया उसी तरह शिवधनुष को भी गुण-बन्धन में बंधा हुआ देखकर हाथ से स्पर्श कर देते हैं और इससे वह गुण (रज्जु) बन्धन से मुक्त हो जाता है। श्री लक्ष्मण परशुराम को यही भक्ति दृष्टि देना चाहते हैं। पर अहंकार के समग्र विनाश के बिना इस दृष्टि का उदित होना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। परशुराम का अहंकार इतना सुदृढ़ था कि वह इन आघातों से तत्काल टूट

नहीं जाता है। किन्तु इतना अन्तर स्पष्ट है कि विवाद में इतनी देर तक उलझे रहना उनके लिए सर्वथा नई बात थी। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके भीतर क्रमिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। किन्तु उस समय तक परशुराम की मनोवृत्ति इस प्रकार की थी कि वे लक्ष्मण की गम्भीर बातों को सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। उनका सारा ध्यान केवल इसी दिशा में केन्द्रित हो गया कि एक क्षत्रिय-किशोर धृष्टतापूर्वक उनके मुंह लगने की चेष्टा कर रहा है। इसलिए लक्ष्मण ने जो कुछ कहा उसका उत्तर देने के स्थान पर वे अपने ही गौरव के गीत गाने प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हें ऐसा लगा कि मेरी महिमा से अनभिज्ञ होने के कारण ही किशोर इस प्रकार का दुस्साहस कर रहा है। इसलिए क्यों न इसे अपना परिचय दे ही दूं :

बोले चितइ परसु की ओरा।
रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा॥
बालकु बोलि बधउँ नहिं तोही।
केवल मुनि जड़ जानहि मोही॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही।
बिस्वबिदित क्षत्रियकुल द्रोही॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही।
बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही॥
सहसबाहु भुज छेदनिहारा।
परसु बिलोकु महीपकुमारा॥

लक्ष्मण से वार्तालाप करते समय उनकी दृष्टि परशु की ओर थी। साधारणतया यह बातचीत की शैली के अनुरूप नहीं है। जिस व्यक्ति से वार्तालाप किया जा रहा है उसकी ओर देखना औचित्यपूर्ण माना जाता है। यह भी परशुराम की आत्मविज्ञापन की शैली का एक प्रतीक है। उन्हें लगा कि संभवतः इस किशोर ने मेरे परशु पर दृष्टि नहीं डाली है तभी यह इतनी निर्भीकता का प्रदर्शन कर रहा है। इसलिए इसका ध्यान परशु की ओर आकृष्ट करने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि मैं परशु की ओर देखने लगूं। अथवा यह भी सम्भव है कि परशु की ओर देखकर वे मन ही मन उन अगणित उपाख्यानों को दुहराते हैं, जिनका सम्बन्ध इस परशु के द्वारा किए गए प्रहारों से था। न जाने कितने वर्षों से इसके प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। इस परशु की अमोघ क्षमता से सारा विश्व परिचित हो चुका था, अतः किसमें यह साहस था कि वह दृष्टि उठा कर उसकी ओर देख सके? इसलिए जब आज एक क्षत्रिय किशोर की ओर से चुनौती का स्वर सुनाई पड़ा तब वे आवाहन की मुद्रा में परशु की ओर देखने लगे। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि केवल परशु नहीं, मेरा स्वभाव भी अत्यन्त कठोर है। लक्ष्मण के व्यवहार को वे केवल बालचेष्टा के रूप में ही नहीं देखते हैं। इसलिए जहां लक्ष्मण के प्रथम बार बोलने पर उन्होंने 'रे नृपबालक'

शव्द से उन्हें सम्वोधित किया था वहीं अव वे लक्ष्मण को सठ की भी उपाधि दे देते हैं। फिर भी वे अपनी उदारता का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि "दुष्ट के रूप में तुम्हें दण्डित किया जाना चाहिए किन्तु एक वालक के रूप में तुम क्षमा के भी पात्र हो। फिर भी इस क्षमा की एक सीमा है। यदि अनजान में तुमसे यह अपराध हुआ हो तो मैं तुम्हारी इस भ्रान्ति को मिटा देना चाहता हूं, पर इसके वाद भी यदि तुमने अपनी भूल का अनुभव नहीं किया तो मुझे वाध्य होकर तुम्हारे विरुद्ध अपने परशु का प्रयोग करना होगा। सम्भवतः मेरे मुनिवेष को देखकर मुझे कोरा ब्राह्मण समझने की तुमने धृष्टता की है पर मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं केवल मुनि मात्र नहीं हूं। मैं वाल-ब्रह्मचारी होने के साथ-साथ अत्यन्त क्रोधी भी हूं। क्षत्रिय जाति के विरोधी के रूप में मैं विश्व में विख्यात हूं। मैंने अपनी भुजा की शक्ति के द्वारा न जाने कितनी वार पृथ्वी को क्षत्रियशून्य वना दिया है और उस पृथ्वी को दान के रूप में ब्राह्मणों को दे दिया है। राजकुमार ! सहस्रार्जुन की भुजाओं को विनष्ट करने वाले मेरे इस परशु की ओर देख। तू अपने माता-पिता को शोकग्रस्त वनाने के लिए क्यों आतुर हो रहा हैं ? यह मेरा परशु तो केवल अपने आतंक से ही गर्भस्थ शिशुओं को विनष्ट कर देता है।"

आत्मविज्ञापन की दृष्टि से उपर्युक्त पंक्तियों में उन्होंने अपने जीवन की समस्त विशेषताओं को उजागर करने का प्रयास किया है। वे मुनि के रूप में भी अपना गौरव प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं। पर मुनिमण्डली में भी अपनी अद्वितीयता का प्रतिपादन करने के लिए वाल-ब्रह्मचारी के रूप में अपना परिचय देते हैं। अधिकांश मुनि अपनी पत्नियों के साथ आश्रमों में निवास करते थे अतः स्वयं को वाल-ब्रह्मचारी करने का तात्पर्य यह था कि किसी भी मुनि की तुलना में उनका त्याग और वैराग्य अतुलनीय है। पर केवल एक मुनि के रूप में आदर की उपलब्धि से वे सन्तुष्ट नहीं हो सकते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी वर्ण विशेष में जन्म लेने के कारण सौभाग्य से उपलब्ध गौरव को अस्वीकार कर देते हैं। वे चाहते हैं कि उनकी पूजा उनके व्यक्तिगत गुणों के कारण की जाय, इसी मनोवृत्ति में परशुराम के घोर व्यक्तिवादी स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। एक योद्धा के रूप में किए गए क्षत्रियों के संहार का वर्णन करते हुए भी वे अन्य विजेताओं से अपनी भिन्नता वताना नहीं भूलते हैं। उनका तात्पर्य यह था कि जहां अन्य राजा अपनी पृथ्वी को वचाने व दूसरे की समृद्धि पर अधिकार पाने के लिए युद्ध करते हैं वहां मेरा संघर्ष सर्वथा निःस्वार्थ रहा है। मैंने सत्ता पर व्यक्तिगत अधिकार की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। इसीलिए जीती हुई पृथ्वी को मैंने ब्राह्मणों को दान में दे दिया। इस तरह वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि विश्व के किसी मुनि अथवा राजा से मेरी तुलना नहीं की जा सकती है। पर इस आत्मविज्ञापन का उपक्रम और उपसंहार दोनों ही परशु की प्रशंसा से किया गया है। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि उनकी आस्था और आसक्ति का सवसे वड़ा केन्द्र परशु ही था। उन्हें अपने समस्त जीवन की सफलता के पीछे

परशु का ही पौरुष दिखाई देता है। इसीलिए उनके भाषण का प्रारम्भ 'बोले चितइ परसु की ओरा' से होकर समापन 'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर' से होता है।

परशुराम के इस वार्तालाप से लक्ष्मण को यह समझने से कोई कठिनाई नहीं हुई कि किसी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर परशुराम से वार्तालाप करना पूरी तरह व्यर्थ है। इसलिए वे उस शैली में वार्तालाप करते हैं जो परशुराम के अनुरूप थी। वे परशु के गौरव को पूरी तरह अस्वीकार कर देते हैं। परशु की तुलना वे तर्जनी उंगली से करते हैं। तर्जनी निषेध के अर्थ में प्रयुक्त की जाती है पर यह तर्जनी केवल शाब्दिक दोष की अभिव्यक्ति का संकेत मात्र है। स्वयं उसमें केवल इतनी ही सामर्थ्य है कि उसके द्वारा इंगित करने पर कुम्हड़े की बतिया मुरझा जाय। लक्ष्मण का व्यंग्य यह था कि कुम्हड़बतिया के मुरझा जाने पर यदि तर्जनी को यह भ्रम हो जाय कि उसमें दूसरों को विनष्ट करने की असीम सामर्थ्य विद्यमान है तो इससे बढ़कर उपहास की और कोई बात नहीं हो सकती। आपके परशु से विनष्ट होने वाले क्षत्रिय भी कुम्हड़बतिया ही रहे होंगे। परशुराम मुनि के रूप में नहीं अपितु एक वीर के रूप में अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं। लक्ष्मण इसे अस्वीकार करते हुए उन्हें केवल भृगुवंशी ब्राह्मण के रूप में ही सम्मानित करना चाहते हैं। लक्ष्मण यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी दृष्टि में परशुराम का गौरव-चिह्न परशु नहीं अपितु यज्ञोपवीत है। इस प्रसंग में वे अपने कुल का स्मरण कराना भी आवश्यक समझते हैं। वे रघुवंश की परम्पराओं का उल्लेख करते हैं जिसमें ब्राह्मण और गाय को सर्वदा सम्मान दिया जाता है। परशुराम के कुल का भी वे यहां स्मरण कराते हैं। इसके माध्यम से वे स्मरण कराना चाहते हैं कि "मैं तो अपनी कुल-परम्परा का पालन कर रहा हूं पर आपने भृगुकुल की मर्यादा को भुला दिया है।" अन्त में वे उनके जीवन में व्याप्त अतिरेक की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हैं। उन्होंने यह कहा कि आपके शब्द ही कोटि-कोटि वज्रों की तुलना में अधिक कठोर हैं फिर धनुष-बाण और कुठार धारण करने की कोई आवश्यकता समझ में नहीं आती। उनका व्यंग्य यह था कि कम से कम वाणी की मृदुता के द्वारा तो आप अपनी वंश-परम्परा की रक्षा कर ही सकते थे, पर आपने तो उसका भी दुरुपयोग ही किया। विराट् पुरुष के वर्णन में मुख को ब्राह्मण का प्रतीक माना गया है और भुजा को क्षत्रिय का। परशुराम ने वाणी की कठोरता के द्वारा ब्राह्मण को भी कठिन क्षत्रिय धर्म में आरूढ़ कर दिया है। लक्ष्मण का निहित संकेत यह था कि यदि आपकी सचमुच ब्राह्मण की श्रेष्ठता में आस्था होती तो आप क्षत्रिय धर्म का आश्रय लेकर नीचे की ओर न उतरते। लक्ष्मण का यह भी अभिप्राय था कि आपको मेरी बराबरी की वाणी में अशिष्टता का बोध हो रहा है जब कि यह आपके क्षत्रिय वेष की ही प्रतिक्रिया है। आपको एक ब्राह्मण के रूप में स्वीकार कर लेने के बाद मुझे क्षमा मांगने में कोई संकोच नहीं होगा :

मातु पितहिं जनि सोच बस करसि महीप किसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥
बिहँसि लखनु बोले मृदु बानी।
अहो मुनीसु महा भटमानी॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू।
चहत उड़ावन फूँकि पहारू॥
इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं।
जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥
देखि कुठारु सरासन बाना।
मैं कछु कहा सहित अभिमाना॥
भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी।
जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई।
हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥
बधे पापु अपकीरति हारे।
मारतहूँ पाँ परिअ तुम्हारे॥
कोटि कुलिस सम बचनु तुम्हारा।
बृथा धरहु धनु बान कुठारा॥
जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृगुबंसमनि बोले गिरा गँभीर॥

लक्ष्मण की निर्भीकता और उनके भाषण से परशुराम पूरी तरह हतप्रभ हो गए। इसीलिए वे लक्ष्मण को छोड़ महर्षि विश्वामित्र की ओर अभिमुख हो गए। वस्तुतः परशुराम बड़ी ही विचित्र मनःस्थिति में थे। यद्यपि लक्ष्मण के व्यवहार से उन्हें अत्यन्त क्षोभ हुआ था, पर विश्वामित्र के मौन से भी वे कम आश्चर्यचकित नहीं थे। महर्षि विश्वामित्र का वे कई दृष्टियों से सम्मान करते थे। परशुराम का विश्वामित्र से वंशगत सम्बन्ध था। परशुराम के पितामह ऋचीक ऋषि का विवाह राजा गाधि की कन्या सत्यवती से हुआ था। यही गाधि विश्वामित्र के पिता हैं। बल्कि विश्वामित्र और परशुराम के जन्म की गाथाएं भी एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। वह कथा भी बड़ी विलक्षण है। उसमें विश्वामित्र और परशुराम की मनोभूमि के परिवर्तन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस विपरीतता पर दृष्टि जाना स्वाभाविक ही है कि विश्वामित्र क्षत्रिय जाति में जन्म लेकर भी जहां ब्रह्माणत्व का वरण करते हैं वहां परशुराम ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्रधर्म का आश्रय लेते हैं। इस क्रम-विपर्यय का रहस्य महर्षि ऋचीक द्वारा किए जाने वाले यज्ञ में छिपा हुआ है। राजा गाधि ने ऋचीक ऋषि को अपनी कन्या अर्पित करने के पश्चात् उन्हें अपने पुत्ररहित होने का दुःख सुनाया। ऋचीक ऋषि ने ऐसा यज्ञ किया कि जिसमें दो अभिमन्त्रित कलश रक्खे गए, एक कलश का जल अपनी सास के लिए था तो

दूसरा कलश अपनी पत्नी सत्यवती के लिए। सत्यवती की माता के अन्तःकरण में यह संशय घर कर गया था कि महर्षि ने अवश्य कुम्भ-जल के अभिमन्त्रण में अपनी पत्नी के प्रति पक्षपात किया होगा, इसलिए उन्होंने अपनी कन्या से घट-परिवर्तन का अनुरोध किया। सुशीला कन्या ने मां के मनोभाव की रक्षा के लिए इसे स्वीकार कर लिया। महर्षि ऋचीक को जब इस रहस्य का ज्ञान हुआ तब उन्होंने अत्यन्त क्षोभ प्रकट किया। वास्तविकता यह थी कि महर्षि ने अपने-पराए का कोई भेद नहीं किया था। अन्तर केवल इतना ही था कि वर्णधर्म के संस्कार को दृष्टिगत रखकर उन्होंने एक घट को जहां ब्राह्मण-संस्कार से अभिमन्त्रित किया था वहीं दूसरा घट क्षात्र-तेज से सम्पन्न था। घट-परिवर्तन के पश्चात् महर्षि ने यह स्पष्ट बता दिया कि जहां उनकी सास के गर्भ से जन्म लेने वाला ब्राह्मणत्व की ओर अभिमुख होगा वहीं सत्यवती के गर्भ से क्षात्र-तेज की ओर अभिमुख पुत्र का जन्म होगा। सत्यवती को इससे महान् दुःख हुआ। प्रार्थना से द्रवित महर्षि ने उस फल का संक्रमण पुत्र के स्थान पर पौत्र में स्वीकार कर लिया।

वर्णाश्रम धर्म की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वधर्म में आरूढ़ होना चाहिए। गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' की पंक्ति में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। महाराज गाधि की पत्नी ने ममता की आसक्ति के कारण धर्म के इस तत्त्व को भुलाकर पक्षपात की कल्पना से जो कार्य किया उसी की परिणति विश्वामित्र और परशुराम के स्वभाव में हुई। इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञ घट के समान सभी शरीर बहिरंग दृष्टि से एक जैसे हैं किन्तु घट के भीतर स्थापित जल स्वाद की दृष्टि से नहीं अपितु संस्कार की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न था। यह संस्कारों की भिन्नता ही व्यक्तियों के स्वभाव और आचरण में अलगाव की सृष्टि करती है। इसलिए नये संस्कारों का सृजन करते समय माता-पिता को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। उन्हें असंदिग्ध रूप से यह निर्णय करना चाहिए कि वे अपनी संतति को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं।

इस तरह स्वभाव की भिन्नता होते हुए भी परशुराम और विश्वामित्र एक दूसरे से स्नेह-सूत्र में आबद्ध थे। विश्वामित्र ने ही इन दोनों राजकुमारों का परिचय अपने शिष्य के रूप में देते हुए भगवान् परशुराम के चरणों में नत होने का इन्हें आदेश दिया। उस आज्ञा का दोनों भाइयों के द्वारा तत्काल पालन भी किया गया था। प्रारम्भ में परशुराम इन दोनों भाइयों की जोड़ी देखकर अत्यन्त प्रभावित भी हुए थे :

बिस्वामित्र मिले पुनि जाई।
पद सरोज मेले दोउ भाई॥
राम लखन दसरथ के ढोटा।
दीन्हि असीस देखि भल जोटा॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन।
रूप अपार मार मदमोचन॥

किन्तु बाद में उनका विचार परिवर्तित हुआ और उन्हें यह लगा कि जहां राम अत्यन्त विनम्र हैं वहां लक्ष्मण उद्दंडता की सीमा हैं। फिर भी उन्हें यह विश्वास रहा होगा कि विश्वामित्र लक्ष्मण को नियन्त्रित और अनुशासित रखने का प्रयास करेंगे। लक्ष्मण के प्रति कठोर दण्डनीति का प्रयोग करने में उनका संकोच विश्वामित्र को लेकर भी था। किन्तु उन्हें यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि विश्वामित्र इस सारी प्रक्रिया के मूक दर्शक बने हुए हैं। विश्वामित्र के प्रति समादर के कारण परशुराम उनकी आलोचना तो नहीं करते हैं पर उन्हें यह अवश्य लगने लगा कि अब स्थिति इतनी असह्य होती जा रही है कि विश्वामित्र से हस्त-क्षेप का अनुरोध करना ही होगा। इसीलिए लक्ष्मण से वार्तालाप का क्रम छोड़ कर वे विश्वामित्र की ओर अभिमुख हो जाते हैं। विश्वामित्र को सम्बोधित करने के लिए वे जिस नाम का प्रयोग करते हैं वह विश्वामित्र के गोत्र से सम्बन्धित था। 'कौशिक' शब्द के प्रयोग का तात्पर्य वंशगत सम्बन्धों का स्मरण दिलाना था। ऐसी भी लगता है कि क्षत्रिय जाति से रुष्ट होते हुए भी परशुराम सूर्यवंश से प्रभावित थे। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं था। दूसरे राजकुलों में आए हुए जिन दोषों के कारण परशुराम उनसे रुष्ट थे सूर्यवंशी राजा उन दोषों से सर्वथा मुक्त थे। इसीलिए परशुराम के अन्तर्मन के किसी कोने में इस वंश के प्रति करुणा की भावना भी विद्यमान थी। अतः लक्ष्मण की निन्दा के लिए वे उन पर जिन आरोपों की वर्षा करते हैं उनमें उन्हें 'भानुबंस राकेश कलंकू' की उपाधि भी दी गई। उनकी दृष्टि में लक्ष्मण सूर्यवंश रूपी चन्द्रमा में कलंक के समान हैं : पर विश्वामित्र से निहोरा करते समय वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि इसे उनकी दुर्बलता के रूप में न देखा जाय। इसलिए वह साफ-साफ कह देते हैं कि यदि लक्ष्मण को नहीं रोका गया तो वे उन्हें मृत्युदण्ड देने में संकोच का अनुभव नहीं करेंगे। विश्वामित्र से हस्तक्षेप का अनुरोध करते हुए भी वे यह कहना नहीं भूलते कि इस बालक को उनकी महिमा से अवगत कराना न भूलें :

कौसिक सुनहु मंद यहु बालकु।
कुटिल कालबस निज कुलघालकु॥
भानुबंस - राकेसकलंकू।
निपट निरंकुस अबुध असंकू॥
कालकवलु होइहि छन माहीं।
कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं॥
तुम हटकहु जौं चहहु उबारा।
कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा॥

किन्तु विश्वामित्र की ओर से इस अनुरोध का तत्काल कोई उत्तर नहीं मिला, वस्तुतः विश्वामित्र इस सारी घटना को सर्वथा भिन्न दृष्टि से देख रहे थे। परशुराम की दृष्टि जहां इस प्रसंग में पूरी तरह व्यक्तिपरक थी वहां विश्वामित्र इसे लोक-मंगल के सन्दर्भ में देख रहे थे। साथ ही विश्वामित्र का यह भी सुनि-

श्चित मत था कि इन घटनाओं की परिणति जिस रूप में होगी वह परशुराम के लिए भी परम कल्याणकारी है। भगवान् राम के सान्निध्य से उन्होंने जिस कृतकृत्यता का अनुभव किया था वे उसमें परशुराम को भी सहभागी बनाना चाहते हैं। यदि उन्हें रंचमात्र भी सन्देह होता कि इस सभा में किसी दुर्घटना की सृष्टि होने वाली है तो वे इसमें अवश्य हस्तक्षेप करते। किन्तु उन्हें यह विश्वास था कि इस प्रसंग में सर्वोत्कृष्ट भूमिका लक्ष्मण की ही है। जो वाक्य विश्वामित्र से कहे गए, उनका उत्तर लक्ष्मण के द्वारा दिया जाना कुछ अटपटा प्रतीत होता है। किन्तु लक्ष्मण की भावना को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर इसका औचित्य सिद्ध हो जाता है। उनका मुख्य आक्षेप उस वाक्य पर था जिसमें उन्होंने लक्ष्मण को रोकने के लिए अनुरोध करते हुए कहा था कि मेरे प्रताप, तेज और बल का वर्णन करते हुए इसे इस धृष्टता से विरत करो। वस्तुतः परशुराम के लिए यह कहीं अधिक उपयुक्त होता कि इस सन्दर्भ में वे विश्वामित्र के गुणों की सराहना करते। यदि वे यह कहते कि "आप जैसे विश्वविख्यात महर्षि की सेवा में रहने वाले को इतना धृष्ट नहीं होना चाहिए। और सब कुछ करने में समर्थ आप इसे रोकने में भी समर्थ हैं" तो इस शैली में किया गया अनुरोध मर्यादा के अनुरूप होता। विश्वामित्र जैसे सम्माननीय महर्षि से यह कहना कि तुम मेरे गुणों का गायन करो, मर्यादा और शील के सर्वथा विपरीत है। लक्ष्मण इसी दृष्टि से उनके आत्मविज्ञापन पर आक्षेप करते हैं :

लखन कहेउ मुनि सुजसु तुम्हारा।
तुम्हहि अछत को बरनै पारा॥
अपने मुख तुम आपनि करनी।
बार अनेक भाँति बहु बरनी॥
नहिं संतोष त पुनि कछु कहहू।
जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥
बीरब्रती तुम्ह धीर अछोभा।
गारी देत न पावहु सोभा॥
सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु॥
तुम्ह तौ कालु हाँक जनु लावा।
बार बार मोहि लागि बोलावा॥

विश्वामित्र के मौन से परशुराम का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। इसलिए उन्होंने अपने अगले वाक्य सारी सभा को सम्बोधित करते हुए कहे। वे अपने कार्य के औचित्य का समर्थन सारी सभा के द्वारा चाहते थे। साधारणतया यह उनके स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। आज तक वे जो कुछ भी करते रहे हैं उसमें उन्होंने किसी दूसरे से सम्मति नहीं ली थी। अपने कार्यों के लिए लोकानुमोदन की तो उन्होंने कभी चिन्ता ही नहीं की। पर यह पहला अवसर था जब वे जनमत का

समर्थन पाने के लिए व्यग्र हो उठे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अपने पौरुष के द्वारा मनमानी करते हुए भी कहीं न कहीं उनका विवेक इसके विरुद्ध विद्रोह कर रहा था। पर उन्होंने अन्तःकरण में उदित विद्रोह के इस स्वर को अपने अहंकार से दवा दिया था। दूसरी ओर 'लोकाराधन तत्पर' श्रीराम का चरित्र था जो लोकभावना की कभी उपेक्षा नहीं करते हैं। उनके समक्ष पहुंचकर अनजाने में ही परशुराम का विवेक सक्रिय हो उठा था। इस तरह वाहर की इस गर्जना-तर्जना के भीतर परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। फिर भी वे अपनी वाणी को पूरी तरह नियन्त्रित रखने में असमर्थ थे। इसीलिए वे लोकमत का समर्थन पाने की चेष्टा करते हुए भी उग्र भाषा का प्रयोग करना वन्द नहीं करते हैं :

सुनत लखन के वचन कठोरा।
परसु सुधारि धरेउ कर घोरा॥
अब जनि देइ दोसु मोहि लागू।
कटुवादी वालकु वध जोगू॥
वाल बिलोकि वहुत मैं बाँचा।
अब यहु मरनिहार भा साँचा॥

परशुराम ने विश्वामित्र को सम्वोधित करते हुए जो वाक्य कहे थे महर्षि ने उनका कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु परशुराम ने जव जनता को सम्बोधित किया तव विश्वामित्र मौन न रह सके और कुछ वाक्य वोल ही पड़े। वैसे यह बात बड़ी विचित्र-सी प्रतीत होती है किन्तु इसके दो उद्देश्य हो सकते हैं। परशुराम ने कौशिक को व्यक्तिगत सम्वन्ध के नाते सम्वोधित किया था और इस रूप में उनसे हस्तक्षेप करने का अनुरोध किया था। महर्षि ने मौन के द्वारा इसे अस्वीकार कर दिया। वे परशुराम का यह अनुरोध मानने के लिए प्रस्तुत नहीं थे कि उनके वल और पौरुष के वर्णन के द्वारा लक्ष्मण में भय की सृष्टि की जाय जिससे वे उद्दण्ड व्यवहार से विरत हो जाएं। वे यह भली भांति जानते थे कि न तो इसका कोई औचित्य है और न इस उपाय से लक्ष्मण को भयभीत ही किया जा सकता है। किन्तु परशुराम जव जनता को सम्बोधित करते हुए दण्ड देने की घोषणा करने लगे तव जन-प्रतिनिधि के रूप में विश्वामित्र ने इसका विरोध किया। बड़ी ही सन्तुलित भाषा में उन्होंने परशुराम को इस चेष्टा से विरत करने का प्रयास किया। उन्होंने श्री राम अथवा लक्ष्मण के कार्य के औचित्य के विषय में कुछ नहीं कहा, न ही उन्होंने राम के ईश्वरत्व की ओर इंगित करने का ही प्रयास किया। क्योंकि वह यह भली भांति जानते थे कि परशुराम इन वातों को सुनने की मनः-स्थिति में नहीं हैं। यह सुनकर उनका क्रोध और भी उमड़ पड़ता कि इस प्रसंग में राम-लक्ष्मण का कोई दोष नहीं है। जहां तक ऐश्वर्य ज्ञान का सम्वन्ध है उसके लिए सन्तुलित मस्तिष्क और ग्रहण करने की वृत्ति की आवश्यकता थी। परशुराम में उस क्षण इन दोनों का ही अभाव था इसलिए उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए एक भिन्न शैली का आश्रय लेते हुए वे लक्ष्मण को अपराधी मानते हुए-से दिखाई देते हैं :

कौसिक कहा छमिअ अपराधू।
बाल दोष गुन गनहिं न साधू॥

पर इस क्षमा याचना में भी बड़ी ही चतुराई से परशुराम का ध्यान उनके कर्तव्य की ओर आकृष्ट किया गया। वे कहते हैं, "इस बालक के अपराध को क्षमा कीजिए; क्योंकि साधुजन बालकों के दोष और गुणों की ओर ध्यान नहीं देते हैं।" उनका संकेत यह था कि इस समय परीक्षा लक्ष्मण की नहीं है अपितु आपकी ही है। वे बालक के रूप में यदि अपने स्वभाव का परित्याग नहीं कर पाते हैं तो साधु के रूप में आपको भी साधु स्वभाव पर ही दृढ़ रहना चाहिए। इसका तात्पर्य यह भी था कि जिनका बालक में अपनत्व होता है वे गुण की तो बात ही क्या बालक के दोषों में भी रस लेते हैं, क्योंकि वे उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप को ममत्व की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें बालक के प्रत्येक कार्य में रस की अनुभूति होती है। इस प्रकार के ममत्व की आशा आपसे नहीं की जा सकती है, किन्तु साधुजन समत्व में आबद्ध होने के नाते बालक की गुण-दोषमयी वृत्ति को क्रीड़ाजन्य कौतुक मानकर मुस्करा देते हैं। न तो वे उसके गुणों से प्रभावित होते हैं और न दोषों से रुष्ट ही। फिर साधुओं का एक लक्षण यह भी है कि उनके द्वारा कभी किसी को कष्ट नहीं होता है। यदि आप साधु हैं तो आपको साधुता का ही परिचय देना चाहिए।

परशुराम को 'बाल दोष गुन गनहिं न साधू' वाला वाक्य तो प्रिय नहीं लगा पर 'छमिअ अपराधू' से उनका अहं सन्तुष्ट हुआ। इसलिए वे विश्वामित्र के शील की सराहना के साथ-साथ अपनी उदारता का ज्ञापन करना नहीं भूलते हैं। उनका कथन था कि "प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात है कि मेरे क्रोध में करुणा का कोई अंश नहीं होता है। फिर यहां तो मेरे व्यक्तिगत सम्मान का ही प्रश्न नहीं है, यहां तो एक निर्भीक गुरुद्रोही मेरे समक्ष खड़ा है। एक गुरुभक्त शिष्य के नाते मेरा यह कर्तव्य है कि अपराधी को दण्ड दूं। यदि मुझे आपका संकोच न होता तो मैं इस गुरुद्रोही को दण्ड देकर अल्प श्रम में ही गुरुऋण से मुक्त हो जाता।"

खर कुठार मैं अकरुन कोही।
आगें अपराधी गुरुद्रोही॥
उतर देत छोड़उँ बिनु मारें।
केवल कौसिक सील तुम्हारें॥
न त एहि काटि कुठार कठोरें।
गुरहि उरिन होतेउँ श्रम थोरें॥
गाधिसूनु कह हृदयँ हँसि मुनिहि हरिअरइ सूझ।
अयमय खाँड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ॥

परशुराम के इन वाक्यों को सुनकर महर्षि विश्वामित्र का मुस्करा पड़ना स्वाभाविक ही था। प्रत्येक व्यक्ति अपने पक्ष में किस प्रकार तर्कों की सृष्टि करता है इसका दृष्टान्त परशुराम के वाक्यों में देखा जा सकता है। विश्वामित्र ने साधुता की दुहाई दी थी क्योंकि साधु का स्वभाव अत्यन्त कोमल होता है। साधु का गुण

करुणा है और क्रोध को अत्यन्त निन्दनीय दुर्गुण माना जाता है। अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें बड़ी शीघ्रता से क्रोध आ जाता है, पर बाद में क्रोध शान्त होने पर ग्लानि का अनुभव करते हैं, अपनी कमी को स्वीकार करते हैं। पर परशुराम का स्वभाव ठीक इसके प्रतिकूल है। वे अपने क्रोध और अपनी कठोरता पर गर्व करते हैं। वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि उनका क्रोध अन्याय के प्रति उनकी असहिष्णुता का परिचायक है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि वे करुणा को असमर्थता और दुर्बलता का प्रतीक मानते हैं। उन्हें लगता है कि इस दुर्बलता के कारण ही अन्याय और अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। वे बड़ी चतुराई से यह कहना चाहते हैं कि साधु कहे जाने वाले व्यक्ति करुणा के नाम पर दूसरों के अपराध को क्षमा करके भले ही प्रशंसा पा लेते हों पर अन्याय के उन्मूलन के लिए यह घातक है। वे यह दिखाना चाहते हैं कि वह तो केवल मैं हूं जो कि कठोरता का कलंक लेकर भी अन्याय के उन्मूलन के लिए कटिबद्ध हूं। विश्वामित्र ने जिस समत्व का स्मरण दिलाया था उसे वे यह कहकर अस्वीकार कर देते हैं कि यह समत्व व्यवहार में सम्भव नहीं है। फिर गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में तो इसे स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है। उनकी दृष्टि में जिस शास्त्र ने समत्व का प्रतिपादन किया है उसी ने शिष्य को भी गुरुऋण से मुक्त होने का उपदेश दिया है। ऐसी स्थिति में जब तक वे इस ऋण से मुक्त नहीं हो जाते तब तक उनके लिए किसी भी अन्य धर्म को स्वीकार करना उपयुक्त नहीं होगा। इस तरह वे अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करने के साथ-साथ विश्वामित्र पर कृतज्ञता का बोझ भी लाद देते हैं। बहिरंग दृष्टि से युक्तिसंगत प्रतीत होते हुए भी तथ्य की दृष्टि से यह यथार्थ नहीं है। परशुराम जिस गुरुऋण की दुहाई देते हैं उसके मूल में ही भूल है। शिष्य को गुरु के ऋण से मुक्त होने के लिए गुरु को अभीष्ट वस्तु को उनके चरणों में अर्पित करना चाहिए। इसलिए उनका यह कर्तव्य था कि यदि वे गुरु को सन्तुष्ट करना चाहते थे तो सबसे पहले उन्हें उनकी अभिलाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए था। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो संघर्ष की यह स्थिति आती ही नहीं। तब उन्हें यह भली भांति ज्ञात हो जाता कि धनुर्भंग का यह कार्य तो भगवान् शंकर को भी अभीष्ट था। और तब वे धनुर्भंग-कर्ता को दण्ड देने के स्थान पर उसकी सराहना करते। पर वे तो उस आतिथेय के समान हैं जो कि अतिथि की आकांक्षा को पूर्ण करने के स्थान पर स्वयं के अहं को ही तृप्त करने का प्रयास करता है। इस तरह अतिथि की भावना की उपेक्षा करने के पश्चात् भी वह स्वयं को धर्मात्मा मानकर गर्व से भर उठता है। इसलिए परशुराम की बातों को सुनकर विश्वामित्र यह भली भांति समझ गए कि उन्हें समझाया नहीं जा सकता। मन ही मन हंसते हुए उन्होंने परशुराम की तुलना श्रावण के उस अन्धे से की जिसे सर्वत्र हरियाली ही दिखाई देती है। विश्व में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती ही रहती है। सजग व्यक्ति कालचक्र के इस परिवर्तन को स्वीकार करता है। वर्षा ऋतु में दिखाई देने वाली हरियाली सार्वकालिक सत्य नहीं है। श्रावण ऋतु में अन्धे हो जाने वाले

व्यक्ति का भी यह कर्तव्य है कि जिसे वह दृष्टि के अभाव में नहीं देख पाता है उसे दूसरों से सुनकर स्वीकार कर ले। अन्धत्व से पूर्व के अनुभव को दृष्टिगत कर विचार करने पर उसे इस परिवर्तन को स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पर जब दृष्टिविहीन होते हुए भी व्यक्ति पूर्वानुभव और अन्यों के प्रति आस्था को ठुकरा दे तब उसे समझा पाना अत्यन्त कठिन है। विश्वामित्र की दृष्टि में परशुराम की मनःस्थिति इसी प्रकार की है। भूतकाल में उन्हें जो सफलताएं प्राप्त हुई थीं आज भी उनकी दृष्टि में वही सत्य है। काल-चक्र के दुर्निवार प्रवाह को उन्होंने भुला दिया है। लक्ष्मण के रूप में अनन्त काल-चक्र ही उन्हें परिवर्तन के सत्य का बोध कराना चाहता है। पर वे तो श्रावण के अन्धे का दुराग्रह लेकर सत्य की सूचना देने वाले को ही भला-बुरा कह रहे हैं।

फिर मन ही मन विश्वामित्र परशुराम की तुलना एक ऐसे बालक से करते हैं जो कि तलवार की आकृति की मिठाई को ही खाने का अभ्यस्त था। किसी दिन वास्तविक तलवार को सामने देखकर भी उसका जी ललचा उठा। बुद्धिमान पिता ने उसकी वास्तविकता समझाने की चेष्टा की पर वह बालक अपने पूर्वानुभव की दुहाई देता हुआ वास्तविक तलवार को खाने का आग्रह करता जा रहा था। परशुराम की मनःस्थिति भी ठीक इसी प्रकार की थी। मरणधर्मा क्षत्रियों को विनष्ट करते हुए वे मन ही मन अपने को सर्वशक्तिमान मान लेते हैं। और जब आज साक्षात् ईश्वर ही उनके समक्ष क्षत्रिय वेष में खड़ा था तब वे उसे न पहचानकर अपने पूर्वानुभव को दोहराना चाहते हैं। पर जब कोई अन्धा होते हुए भी स्वयं को दृष्टिसम्पन्न मान ले और बालक होते हुए भी गुरुजनों की चेतावनी की उपेक्षा कर दे तब उसे समझाना कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिए महर्षि विश्वामित्र ने इस विवाद में मौन हो जाना ही उचित समझा। और इसलिए वे आगे चलकर पूरे प्रसंग में मौन धारण कर लेते हैं। उन्हें यह ज्ञात था कि दृष्टि के अभाव में भले ही अंधा हरियाली पर आग्रह करता रहे किन्तु ग्रीष्म ऋतु का उत्तम थपेड़ा उसे सत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देता है। इसी प्रकार राम के ईश्वरत्व की प्रचण्ड ऊष्मा अन्त में उन्हें सत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देगी। महर्षि को यह भी प्रतीत हुआ कि सम्भवतः वास्तविकता की अनुभूति कराने के लिए लक्ष्मण ही उपयुक्त माध्यम हैं। विश्वामित्र के मौन से लक्ष्मण ने यह समझ लिया कि गुरुदेव यह कठोर भूमिका मुझे ही देना चाहते हैं। इस संकेत को शिरोधार्य कर उन्होंने व्यंग्यभरी वाणी में उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया :

कहेउ लखन मुनि सीलु तुम्हारा।
को नहिं जान बिदित संसारा॥
माता पितहि उरिन भए नीकें।
गुरु रिनु रहा सोचु बड़ जीकें॥
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा।
दिन चलि गए ब्याज बड़ बाढ़ा॥

अब आनिअ ब्यवहरिआ बोली।
तुरत देउँ मैं थैली खोली॥

लक्ष्मण ने यह भली भांति अनुभव कर लिया था कि विनम्रता के द्वारा परशुराम को प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसलिए उनके वाक्यों में अत्यन्त तीक्ष्ण प्रहारात्मक शैली के दर्शन होते हैं। सर्वप्रथम वे उनकी आत्मविज्ञापन प्रियता पर आक्रमण करते हैं। क्योंकि उन्होंने महर्षि विश्वामित्र से अपने सुयश के वर्णन का अनुरोध किया था। आत्म-प्रशंसा के प्रति आकर्षण मानवीय स्वभाव का एक सहज अंग है पर शील और संकोच की वृत्ति के द्वारा व्यक्ति उसे नियंत्रित करने का प्रयास करता है। शील एक ऐसा कवच है कि जो व्यक्ति को अनेक अवगुणों के आक्रमण से बचाता है। परशुराम के जीवन में शील का सर्वथा अभाव है, तभी उन्हें विश्वामित्र से ऐसा अनुरोध करने में संकोच नहीं लगा। लक्ष्मण ने बड़ी व्यंग्यात्मक शैली में परशुराम के शील-शून्य चरित्र की समालोचना की। लक्ष्मण की दृष्टि जब परशुराम के पुरातन इतिहास पर जाती है तब उनका ध्यान इस तथ्य की ओर जाता है कि परशुराम ने जीवन में ऋण परिशोधन के लिए सर्वदा शस्त्र का ही आश्रय लिया है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम वह इतिहास सामने आता है कि जब उन्होंने पिता के आदेश का पालन करने के लिए माता रेणुका का सिर काट लिया था। किसी अवसर विशेष पर जमदग्नि के अन्तःकरण में रेणुका के प्रति संशय का उदय होता है और वे आवेश में आकर अपने पुत्रों को यह आदेश देते हैं कि वे रेणुका का वध कर दें। किन्तु परशुराम को छोड़कर अन्य सभी पुत्रों ने यह अस्वीकार कर दिया। परशुराम इसके अपवाद सिद्ध हुए, उन्होंने पिता के आदेश का पालन करते हुए न केवल माता रेणुका का ही वध कर दिया अपितु भाइयों को भी मार डाला। पिता जमदग्नि उनकी पितृभक्ति से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्होंने परशुराम से वरदान मांगने का अनुरोध किया। परशुराम ने उनसे माता और भाइयों को पुनर्जीवन दान देने का अनुरोध किया और साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यह वरदान भी देने की कृपा कीजिए कि इन्हें मेरे द्वारा वध किए जाने के कार्य का स्मरण न रहे। ऐसा ही हुआ, रेणुका और भाइयों को ऐसा लगा कि जैसे वे सोकर उठे हों।

उपर्युक्त कथा में महर्षि जमदग्नि की अलौकिक क्षमताओं का तो पता चलता ही है, परशुराम जी का जीवन-दर्शन भी सामने आ जाता है। धर्म के सम्बन्ध में उनकी मान्यता अपने ही अन्य भाइयों से भिन्न थी। परशुराम के भाई पितृभक्त होते हुए भी विना सोचे-समझे उनके आदेश का पालन करने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं। वे अपने पिता की ही भांति माता के प्रति भी अगाध आदर की भावना रखते हैं। इसलिए उन्हें यह लगा कि पिता मिथ्या संशय के कारण ही सही किन्तु निर्णय की मनःस्थिति में नहीं हैं। आवेश में दिया गया उनका आदेश धर्मसंगत नहीं है इसलिए उसे स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। पितृभक्ति के साथ विवेक के समन्वय का यह प्रयास ही धर्म के प्रति उनकी व्यापक दृष्टि को सूचित करता

है। परशुराम की धर्म सम्बन्धी मान्यता उनसे सर्वथा भिन्न है। वे विवेक के स्थान पर निष्ठा को ही अधिक महत्त्व देते हैं। उनकी मान्यता यह है कि गुरुजनों का आदेश विना किसी ननुनच के स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। गुरुजनों में भी वे माता की तुलना में पिता के ही अधिक पक्षधर हैं। इसीलिए उस कठोर आदेश का वे पालन कर पाए जो महर्षि जमदग्नि के द्वारा उन्हें दिया गया था, पर इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उनके अन्तःकरण में कहीं न कहीं हिंसा और कठोरता की वृत्ति विद्यमान है इसलिए वे हिंसामूलक आदेश का पालन करने के लिए तत्काल सन्नद्ध हो जाते हैं। पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए वे जिस सीमा तक चले जाते हैं उसमें भी स्वभावगत कठोरता की ही झलक दिखाई देती है। वे गुरुजनों के ऋण-परिशोध के नाम पर जिस प्रकार हिंसा का आश्रय लेते हैं उसी का पुनरावर्तन धनुर्भंग के प्रसंग में भी दिखाई देता है। धनुर्भंग के प्रसंग में भी वे गुरुनिष्ठा के नाम पर संहार के लिए प्रस्तुत होते हैं। लक्ष्मण ने उपर्युक्त पंक्तियों में उनकी इसी मनोवृत्ति पर कटाक्ष किया है। उनका तात्पर्य यह था कि वस्तुतः आपको सिर काटने में आनन्द की अनुभूति होती है और उसी को आप धर्म और गुरुभक्ति का नाम दे देते हैं। लक्ष्मण का संकेत यह था कि गुरुनिष्ठा का यह भी रूप हो सकता था कि आप महाराज जनक को धनुर्भंग की प्रतिज्ञा करने से रोकते अथवा धनुष की सुरक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाते। किन्तु सम्भवतः आप यही प्रतीक्षा करते रहे कि किसी व्यक्ति के द्वारा धनुष तोड़ दिया जाय और तब आप उसका सिर काटकर अपनी गुरुनिष्ठा को लोक में उजागर कर सकें। किन्तु लक्ष्मण ने यह स्पष्ट कर दिया कि आप जिस पद्धति से अब तक ऋण-परिशोध करते रहे हैं इस वार वह सम्भव नहीं होगी। 'तुरत देउं मैं थैली खोली' में उनका अभिप्राय यह था कि जब ऋण लेने वाला ऋण नहीं चुका पाता तब ऋणदाता उससे बल-पूर्वक मनमाने ढंग से वसूल करता है। आज तक आप इसी पद्धति से ऋण परिशोध करते रहे हैं पर आज स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। जिसे आप ऋणी मानकर ऋण वसूल करने के लिए आये हुए हैं वह व्याज सहित आपका ऋण चुकाने के लिए प्रस्तुत है। वस्तुतः यह लक्ष्मण की खुली चुनौती थी। वे परशुराम को यह वता देना चाहते थे कि यदि आपको युद्ध ही प्रिय है तो मैं आपको उसका समुचित उत्तर देने के लिए प्रस्तुत हूं। सम्भवतः परशुराम के लिए यह उत्तर असह्य था और उन्होंने लक्ष्मण पर प्रहार करने के लिए परशु उठा लिया। निर्भीक लक्ष्मण इससे रंचमात्र भी प्रभावित नहीं होते। प्रभावित होना तो दूर रहा अब तक उनके भाषण में विनोद और व्यंग का जो आवरण चढ़ा हुआ था उसे हटा कर वे सीधे आक्रमण पर उतर आते हैं। उन्होंने कहा कि "भृगुवर ! आप परशु के द्वारा मुझे डराना चाहते हैं। क्षत्रियद्रोही महोदय ! मैं केवल ब्राह्मण समझ कर आपको छोड़ देता हूं। सत्य तो यह है कि कभी आपका वास्तविक योद्धाओं से पाला ही नहीं पड़ा। ब्राह्मण देवता ! आपका सारा बड़प्पन अपने घर की सीमा से ही घिरा हुआ है :"

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा।
हाय हाय सब सभा पुकारा।।
भृगुबर परसु देखावहु मोही।
बिप्र बिचारि बचउँ नृपद्रोही।।
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े।
द्विज देवता घरहि के बाढ़े।।

इसके पूर्व विभिन्न लोगों पर लक्ष्मण के भाषण की अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हो रही थीं। कुछ लोग यह सब सुनकर भयभीत थे क्योंकि वे परशुराम के उग्र स्वभाव से भली भांति परिचित थे, तो कुछ ऐसे भी लोग रहे होंगे जो उनकी व्यंग्यात्मक शैली का आनन्द ले रहे होंगे। किन्तु इस समय उन्होंने जिस शब्दावली का प्रयोग किया उसके औचित्य को स्वीकार करने के लिए कोई भी प्रस्तुत नहीं था। सभी ने एक स्वर से लक्ष्मण के भाषण की भर्त्सना की। लोकमानस को समादर देने वाले श्री राम ने तत्काल लक्ष्मण को संकेत देकर मौन रहने का आदेश दिया :

अनुचित कहि सब लोग पुकारे।
रघुपति सयनहिं लखन नेवारे।।

परशुराम विश्ववंद्य थे। जहां उनकी कठोरता जन-जीवन में आतंक की सृष्टि करती थी वहीं लोगों को यह भी ज्ञात था कि यह कठोरता अन्याय के प्रति उनकी असहिष्णुता के कारण उत्पन्न हुई थी। उनकी निष्कामता और त्यागवृत्ति के कारण जनमानस में उनके प्रति सम्मान की भावना विद्यमान थी। इसलिए लक्ष्मण की यह वाणी लोगों को असह्य प्रतीत हुई। उन्हें लगा कि यह धृष्टता है और इसे 'छोटे मुंह बड़ी बात' कह सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लक्ष्मण की वाणी कलात्मक सौंदर्य से सर्वथा शून्य थी; और उसे तथ्यपरक भी नहीं कह सकते हैं। यह कहना सर्वथा असंगत था कि आपका पाला किसी योद्धा से नहीं पड़ा और आप केवल घर में ही बड़े हुए हैं। यह परशुराम के महान् शौर्य का अनादर था। इसीलिए लोकमत पर इसका इतना विपरीत प्रभाव पड़ा पर वर्तमान प्रसंग में परशुराम की भूमिका को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर यह उतना ही अनौचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इसे लक्ष्मण की अप्रिय बाध्यता ही कह सकते हैं। वार्तालाप अनावश्यक रूप से लम्बा खिंचता चला जा रहा था। परशुराम की प्रतिक्रिया भी क्रमशः उग्रतर होती जा रही थी इसलिए लक्ष्मण इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अब इस वातावरण को समाप्त किया जाना चाहिए। उनका आचरण उस चिकित्सक की भांति है जो मृदु और तीक्ष्ण वस्तुओं के प्रयोग के बाद भी व्रण को ठीक न होते देखकर शल्य-चिकित्सा के लिए शस्त्र उठा लेता है और उसे अंगच्छेद का कठोरतर कार्य करना पड़ता है। फिर सद्व्यवहार सर्वदा एकपक्षीय नहीं हो सकता। यदि रामभद्र अथवा विश्वामित्र के वाक्यों से प्रभावित होकर परशुराम ने थोड़ी भी नमनीयता का परिचय दिया होता तो निश्चित रूप से लक्ष्मण इस प्रकार की वाणी का प्रयोग न करते। पर परशुराम की उग्र प्रतिक्रिया उन्हें तीव्रतर

आक्रमण के लिए वाध्य करती है। किन्तु श्री रामभद्र इसका शमन करने के लिए संकेत का आश्रय लेते हैं। विनम्र शब्दों में वे परशुराम से क्षमायाचना करते हैं :

लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर गोपु कृसानु।
बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु।।
नाथ करहु बालक पर छोहू।
सूध दूधमुख करिअ न कोहू।।
जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना।
तौ कि बराबरि करत अयाना।।
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं।
गुर पितु मातु मोद मन भरहीं।।
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी।
तुम समसील धीर मुनि ग्यानी।।

उपर्युक्त पंक्तियों में वे परशुराम से यह अनुरोध करते हैं कि लक्ष्मण के व्यवहार की समीक्षा उन्हें वालक मानकर की जानी चाहिए। लक्ष्मण की तुलना वे दुधमुंहे वालक से करते हैं। उनका तात्पर्य यह था कि दुधमुंहे वालक के द्वारा दूध पीते समय मां के स्तनों में यदि चोट भी आ जाय तो वात्सल्यमयी जननी इसे शत्रुता का कार्य मानकर क्रुद्ध नहीं होती है। उसकी दृष्टि वालक की क्रिया पर न होकर भावना पर होती है। इसी तरह लक्ष्मण की वाणी में कठोरता की अनुभूति होने पर भी वह सद्भाव से प्रेरित है। वह इसके द्वारा आपके वात्सल्यमय क्षमा गुण को प्रकट करना चाहता है। आपके शौर्य, तप और त्याग के गुण विश्व में पहले ही प्रकट हो चुके हैं पर आपकी क्षमाशीलता लोकदृष्टि से ओझल हैं। यदि समर्थ होते हुए भी इस उद्दंडतापूर्ण वाणी को आप क्षमा कर देते हैं तो सारा विश्व यह अनुभव करने लगेगा कि आप ब्रह्मचारी होते भी वात्सल्य गुण से परिपूर्ण हैं। फिर अल्प अवस्था के कारण यह आपके प्रभाव से भली भांति परिचित भी नहीं है। यदि यह सच्चे अर्थों में आपके प्रभाव से परिचित होता तो आपकी बराबरी करने की धृष्टता न करता। परशुराम यह कह सकते हैं कि इस वालक को मेरे पूर्व इतिहास का ज्ञान है इसलिए यह कहना उपयुक्त नहीं है कि यह मेरी महिमा से परिचित नहीं है। श्री राम का तात्पर्य यह था कि सुन लेने मात्र से ही किसी को जान लेना सम्भव नहीं है। फिर आपके श्रुत चरित्र इतने अलौकिक हैं कि उनकी विलक्षणता के कारण सुन लेने पर भी उस पर विश्वास कर पाना अत्यन्त कठिन है। रामभद्र परशुराम से अन्त में वड़ा ही सार्थक अनुरोध करते हैं, "लक्ष्मण को आप अपने एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में न देखें। वह तो आपका एक बालक है अतः उसकी वाणी और उसके क्रियाकलाप को केवल वात्सल्य की कसौटी पर कसकर देखें। जो चंचलता या उछलकूद वड़ों के द्वारा किए जाने पर उच्छृंखलता प्रतीत होती है बालकों के द्वारा उसी प्रकार का व्यवहार किए जाने पर गुरु-माता-पिता को प्रसन्नता की अनुभूति होती है।" श्री राम की विनम्रता भरी वाणी सुनकर परशुराम कुछ

संतुष्ट-से प्रतीत हुए पर लक्ष्मण की मुस्कराहट देखते ही उनका क्रोध पुनः उमड़ पड़ा, इस मुस्कराहट के साथ लक्ष्मण ने कोई ऐसा वाक्य कहा जिसे सुनकर वे और भी अधिक उबल पड़े। उस परिस्थिति में क्या हुआ होगा इसकी कल्पना की जा सकती है ? श्रीरामभद्र ने जो वाक्य कहे थे उसमें भयभीत व्यक्ति की कोरी क्षमायाचना नहीं थी। वस्तुतः उन्होंने क्षमायाचना के स्वर में जो वाक्य कहे थे उसमें परशुराम से दृष्टि-परिवर्तन का अनुरोध था। वे यह बताना चाहते थे कि जब तक आप स्वयं अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं करते हैं तब तक आपका संतुष्ट हो पाना सर्वथा असम्भव है, किन्तु परशुराम ने इसमें निहित संकेत पर कोई ध्यान नहीं दिया, इसे भी उन्होंने अपने जय-पराजय के पुराने दृष्टिकोण से ही देखा। इस सारे वार्तालाप को उन्होंने अपनी विजय और लक्ष्मण की पराजय के रूप में स्वीकार किया। उन्हें लगा कि सारा जनसमूह एक स्वर से लक्ष्मण की वाणी को अनुचित बता रहा है और स्वयं राम लक्ष्मण की ओर से क्षमायाचना कर रहे हैं इसलिए मैं पूरी तरह विजयी हुआ हूं। स्वभावतः उस समय वे लक्ष्मण की ओर देखकर यह जानना चाहते थे कि लक्ष्मण के मन पर इस पराजय की कैसी प्रतिक्रिया हुई हैं। उन्हें पूरा विश्वास था कि लक्ष्मण के मन में पराजय की ग्लानि और लज्जा होगी, पर दृश्य उनकी कल्पना के सर्वथा विपरीत था, लक्ष्मण के होंठों पर मन्द-मन्द हंसी खेल रही थी। परशुराम के स्वभाव से परिचित लक्ष्मण श्री राम की वाणी से उन पर होने वाली प्रतिक्रिया को ध्यान से देख रहे थे। उन्हें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि परशुराम के स्वभाव में रंचमात्र कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और अब भी उनकी दृष्टि व्यक्तिगत जय-पराजय की वृत्ति की धूल के कारण धुंधली हो रही है इसलिए वे राघवेन्द्र और उनकी वाणी का रहस्य समझ पाने में असमर्थ हैं। परशुराम को अपनी ओर ताकते देखकर लक्ष्मण उनकी इस दृष्टिहीनता पर व्यंग्य किए बिना नहीं रह पाए होंगे, परिणामस्वरूप लक्ष्मण की वाणी को सुनते ही परशुराम का आवेग पुनः उमड़ पड़ा। फिर भी वे राम की विनम्रता से प्रभावित थे इसलिए उन्होंने केवल लक्ष्मण की आलोचना के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वे अच्छे-बुरे में भेद करना जानते हैं।

राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने।
कहि कछु लखनु बहुरि मुसुकाने॥
हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी।
राम तोर भ्राता बड़ पापी॥
गौर सरीर स्याम मन माहीं।
कालकूट मुख पयमुख नाहीं॥
सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही।
नीचु मीचु सम देख न मोही॥

लक्ष्मण को वे 'पापी' कहकर सांकेतिक रूप से यह सिद्ध करना चाहते थे कि राम स्वयं पुण्यमय हैं। पर उनका ही भाई पापी हो इससे बढ़कर अटपटी बात क्या

होगी ? उनकी दृष्टि में लक्ष्मण केवल पापी ही नहीं 'वड़ पापी' हैं। इससे उनका अभिप्राय यह था कि मेरी अवहेलना करने से यह सिद्ध हो जाता है कि यह पापी है; किन्तु अव यह उच्छृंखल होकर तुम्हारे निषेध का भी अतिक्रमण करता है तव इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अपने-पराये सभी को कष्ट पहुंचाने में संकोच का अनुभव नहीं करता है। अतः इसे 'वड़ पापी' कहना ही उपयुक्त है। वे दोनों भाइयों में भेद उत्पन्न करते हुए राम को उत्तेजित करना चाहते हैं कि यदि तुम जैसे भाई की लक्ष्मण अवहेलना करता है तो अवश्य इसे दण्डित किया जाना चाहिए। उनकी यह भी मान्यता है कि वाहर से आये हुए दोषों का निराकरण किया जा सकता है किन्तु 'स्वभावो दुरतिक्रमः' के सिद्धान्तानुसार किसी के स्वभाव को वदलना असंभव है। तुम्हारा भाई इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जो निरन्तर तुम्हारे समीप रहते हुए भी स्वभागवत टेढ़ेपन को नहीं छोड़ पाया। वे यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि मैं भले ही तुम्हारी विनम्रता से प्रभावित होऊं पर जिस तरह तुमने लक्ष्मण को दुधमुंहा कहकर वचाने की चेष्टा की है उससे मैं सहमत नहीं हूं। वस्तुतः तो उसे 'विषमुख' कहना ही उपयुक्त है। परशुराम की इस आलोचना के उत्तर में लक्ष्मण के द्वारा कहा गया वाक्य परशुराम के व्यक्तित्व की सार्थक आलोचना है। परशुराम स्वतः अपना परिचय क्रोधी के रूप में दे चुके हैं। मन के तीन मुख्य दोषों में वे दो पर विजय प्राप्त कर चुके हैं। काम और लोभ का उनमें सर्वथा अभाव है। इन दोनों दोषों को जीतने के पश्चात् क्रोध के समक्ष पराजित हो जाना उनके जीवन की सबसे वड़ी असफलता है। काम और लोभ से भिन्न क्रोध तत्काल सामने वाले व्यक्ति को संत्रस्त वना देता हैं। इसलिए वह विश्वहित का विरोधी है। इसीलिए लक्ष्मण उनसे क्रोध के परित्याग का अनुरोध करते हैं। परशुराम यह कह सकते हैं कि मेरा क्रोध व्यक्तिगत स्वार्थ से सम्वद्ध नहीं है। वह तो केवल अन्याय को विनष्ट करने की भावना से ही प्रेरित है। इसके उत्तर में लक्ष्मण अपने को अनुचर के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनसे पुनः क्रोध छोड़ने का अनुरोध करते हैं। लक्ष्मण का तात्पर्य यह था कि यदि लोक-कल्याण के लिए सीमित मात्रा में क्रोध आवश्यक है तो वह भार उठाने के लिए मैं प्रस्तुत हूं। इसके द्वारा उन्होंने परशुराम के व्यक्तित्व के विरोधाभास की ओर इंगित किया कि एक ओर आप मेरे टेढ़ेपन की आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर स्वयं अपने टेढ़ेपन को अपनी विशेषता के रूप में देखते हैं। वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि जिस क्रोध का परिणाम कल्याणकारी हो उसे ही जीवन में स्वीकार किया जाना चाहिए। पर जिस क्रोध के द्वारा अपनी और समाज दोनों की हानि हो रही हो उसे स्वीकार कर लेना अविवेक की पराकाष्ठा है। लक्ष्मण की दृष्टि में इस समय परशुराम के द्वारा किया जाने वाला क्रोध इसी श्रेणी में आता है। इस प्रसिद्ध शिव-धनुष के विषय में जो पौराणिक गाथाएं प्राप्त होती हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह धनुष कभी अत्यन्त उपयोगी था। महान् उद्देश्य के लिए इसका निर्माण किया गया था। अनेक शक्तिशाली असुरों का संहार इसके द्वारा किया गया। पर ऐसा भी एक अवसर आया कि जब इस धनुष की

उपयोगिता समाप्त हो गई। इसका संकेत विष्णु और शिव के संघर्ष के रूप में दिया गया। विष्णु के समक्ष यह धनुष अपनी सामर्थ्य खो बैठता है। यद्यपि भगवान् शंकर महाकाल के स्वरूप माने जाते हैं पर उन्होंने इस घटना में निहित काल के संकेत को स्वीकार कर लिया और उनके द्वारा इस धनुष का परित्याग कर दिया गया। धनुष के जीवन में जैसे जय-पराजय के क्षण आए उसी तरह उसका विनाश भी अपरिहार्य था। अतः धनुष का टूटना एक अपरिहार्य सत्य था। लक्ष्मण को इस बात का दुःख था कि जिस काल के सत्य को भगवान् शिव ने न जाने कब का स्वीकार कर लिया, शिवभक्ति का दावा करने वाले परशुराम उसे आज भी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। वे एक अपरिहार्य सत्य को भुलाकर विनाशी वस्तु के लिए क्रोध कर रहे हैं जिसकी कोई सार्थकता नहीं है। हां, यदि इस विनाश को बदला जाना सम्भव हो तो उसके लिए चेष्टा की जानी चाहिए। पर यदि वह संभव नहीं है तो शान्त होकर बैठ जाने में ही विवेक की सार्थकता है। सत्य तो यह है कि धनुष की यह परिणति स्वयं उनके लिए सबसे बड़ा उपदेश है। कभी उनके द्वारा महान् कार्य हुए थे, पर अब उनका समय समाप्त हो चुका है। नये राम के आगमन के साथ ही अब उनकी भी भूमिका समाप्त हो चुकी है। इसे स्वीकार कर लेना ही उनके विवेक की चरम सार्थकता है :

लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोधु पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया।
परिहरि कोपु करिअ अब दाया॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने।
बैठिअ होइहिं पाय पिराने॥
जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई।
जोरअ कोउ बड़ गुनी बोलाई॥

किन्तु लक्ष्मण के वाक्यों में निहित संकेत को परशुराम समझ नहीं पाते हैं। वे केवल इसे अपने ऊपर किये जाने व्यंग्यात्मक प्रहार के रूप में ही देखते हैं। परशुराम ही नहीं जनक भी इसे सही रूप में न लेकर लक्ष्मण की अशिष्टता के रूप में लेते हैं। वे सांकेतिक भाषा में श्री राम और विश्वामित्र से अनुरोध करते हैं कि इस अनौचित्य के लिए लक्ष्मण को रोका जाना चाहिए। जनकपुर वासियों के भय की तो कोई सीमा नहीं थी। वे एक स्वर से लक्ष्मण को खोटा कहने लग जाते हैं। श्री राम ने भी टेढ़ी भृकुटि के द्वारा लक्ष्मण को चुप हो जाने का संकेत दिया। यद्यपि लक्ष्मण उस समय चुप हो गए पर पुनः अवसर मिलते ही बोल पड़े। इसका परिणाम बड़ा विचित्र हुआ। परशुराम का सारा आक्रोश राम की ओर मुड़ गया। क्योंकि उन्हें यह लगने लगा कि लक्ष्मण के सारे क्रिया कलाप राम के संकेत से ही संचालित हो रहे हैं। इसलिए वे राघवेन्द्र को युद्ध के लिए चुनौती दे देते हैं। चुनौती न स्वीकार करने की स्थिति में वे एक ही शर्त पर शान्त होने के लिए

प्रस्तुत हैं कि राम को अपना नाम वदल लेना होगा। परशुराम के इस आक्रोश से उनके क्षणिक और परिवर्तनशील स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। वे स्वयं किसी मत पर सुस्थिर नहीं हैं। आगमन से लेकर अव तक उनकी भावनाओं में प्रतिक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भ में यदि उन्हें राम-लक्ष्मण की जोड़ी अत्यन्त प्रिय लगी थी तो वाद में उन्हें राम प्रिय और लक्ष्मण अप्रिय लगने लगे थे। तव वे मानने लगे थे कि लक्ष्मण जितना टेढ़ा है राम उतने ही सरल हैं। पर वाद में वे अपने इस मत पर भी स्थिर नहीं रह सके और उन्हें लगने लगा कि सारे अनर्थों की जड़ तो राम ही हैं। लक्ष्मण के चरित्र में कपट का अभाव है, पर राम तो छली हैं। दूसरी ओर वे अपनी सन्तुष्टि के लिए जो शर्त रखते हैं उसमें उनकी लोकैषणा की प्रवल प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। उन्हें यह असह्य है कि उनके नाम के सदृश नाम वाला भी कोई अन्य व्यक्ति संसार में हो। लोकैषणा का सवसे वड़ा दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष भी यही है। यश की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति के द्वारा अनेक अच्छे कार्य होते हैं। इस दृष्टि से लोकैषणा को सराहना की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। पर आध्यात्मिक दृष्टि से इसकी निन्दा का रहस्य प्रस्तुत प्रसंग के माध्यम से हृदयंगम किया जा सकता है। यश की आकांक्षा वाला व्यक्ति अच्छे कार्य करता हुआ भी दूसरों के सत्कार्य से सर्वदा सशंकित रहता है; क्योंकि उसे सर्वदा यह भय सताता रहता है कि कहीं यश में दूसरा कोई उससे वाजी न ले जाय। इस तरह वह सत्कार्यों का सच्चा समर्थक नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ में परशुराम राम के समक्ष यही प्रकट करने की चेष्टा करते हैं कि अपने गुरु के अनादर के कारण ही क्षुब्ध होकर वे दण्ड देने के लिए प्रस्तुत हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है वे अपनी लोकैषणाजन्य दुर्वलता को प्रकट करने में संकोच का अनुभव करते हैं, पर वाद में उनके मुख से सच्ची वात निकल ही पड़ी :

परसुरामु तब राम प्रति बोले उर अति क्रोधु।
संभु सरासनु तोरि सठ करसि हमार प्रवोधु॥
वंधु कहइ कटु संमत तोरे।
तू छल बिनय करसि कर जोरे॥
करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहि त छाड़ु कहाउब रामा॥
छलु तजि करहि समरु सिव द्रोही।
बंधु सहित न त मारउँ तोही॥

श्री राम के द्वारा दिये गए उत्तर में उनके जीवन-दर्शन की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। परशुराम जितने अधिक व्यक्तित्ववादी हैं, श्री राम में उसका उतना ही अधिक अभाव है। वे शुद्ध विचारवादी हैं। परशुराम के विचारों में जहां क्षणिकता का परिचय मिलता है, श्री राम अपने विचार और अपनी आस्थाओं में उतने ही अडिग हैं। वे आदि से लेकर अन्त तक परशुराम के प्रति एक ही भाव रखते हैं। न तो वे परशुराम द्वारा की गई प्रशंसा से फूल ही उठते हैं और न उनकी क्रोध भरी

आलोचनाओं से उन्हें झुंझलाहट ही होती है। वे आदि से अन्त तक समत्व और एकरसता में स्थिर रहते हैं। परशुराम से बड़ा कहलाने की उनमें कोई आकांक्षा नहीं है। परशुराम को पराजित करने का संकल्प उनमें है ही नहीं। परशुराम को सन्तुष्ट करने के लिए वे स्वयं को हर प्रकार से हारा हुआ सिद्ध करते हैं। किन्तु उनकी वाणी में पराजय का दैन्य नहीं था। वे विनम्र शब्दों में लक्ष्मण के पक्ष का समर्थन भी करते हैं। सांकेतिक भाषा में वे उनसे मुनिधर्म पर आरूढ़ होने का अनुरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में एक मुनि के लिए शस्त्रधारण संगत नहीं था। वे ब्राह्मण की क्षमाशीलता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हैं :

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा।
कर कुठार आगे यह सीसा॥
जेहिं रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी।
मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥
प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु विप्रबर रोसु।
वेषु बिलोकें कहेसि कछु बालकहूँ नहिं दोसु॥
देखि कुठार बान धनुधारी।
भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी॥
नामु जान पै तुम्हहि न चीन्हा।
बंस सुभायँ उतरु तेहिं दीन्हा॥
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं।
पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी।
चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी॥
हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
कहहु त कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा॥
देव एकु गुनु धनुष हमारे।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारे॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
छमहु बिप्र अपराध हमारे॥

किन्तु रामभद्र की इस विनम्रता से परशुराम सन्तुष्ट नहीं होते हैं। उन्हें यह एक बात अत्यन्त अखरती है कि इन सारे वाक्यों में एक अप्रतिम योद्धा के रूप में उनका स्मरण नहीं किया गया है। एक ब्राह्मण के रूप में सम्मान का अधिकारी बनना उन्हें असह्य है। वे स्वयं को सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। पर उन्हें ऐसा लगा कि जिस उच्चासन पर उन्हें प्रतिष्ठित किया गया है उस पर तो अनगिनत लोगों की भीड़ है। वे आज तक पराजित राजाओं की दीनता और

गिड़गिड़ाहट भरी वाणी सुनने के अभ्यस्त थे किन्तु उसका श्री राम की वाणी में अभाव था। यद्यपि राघव ने 'सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे' कहकर उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था पर परशुराम को ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे यह विजय भी उन्हें ब्राह्मण समझ कर दान में दी जा रही है। उन्हें दान नहीं चाहिए। क्योंकि वे स्वयं को ही दान देने वाला मानते हैं। परशुराम की दृष्टि उस विडम्बना की ओर नहीं जा रही थी जिसने उनके मन एवं मस्तिष्क को पूरी तरह अभिभूत कर लिया था। वे स्वयं को 'क्षत्रिय-कुलद्रोही' घोषित करते हैं, पर स्वयं क्षात्र धर्म ही उनके मन एवं मस्तिष्क पर आरूढ़ हो गया है। मुनि के रूप में नहीं अपितु योद्धा के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित देखने की आकांक्षा इसी वृत्ति का परिणाम है। इसलिए वे राम की विनम्रता का बदला भर्त्सना के स्वर में देते हैं। श्री राम ने जो कुछ कहा था उसमें उनकी सरलता ही परिलक्षित हो रही थी, किन्तु परशुराम को इस सारे वार्तालाप में कुटिलता की प्रतीति होने लगी :

बार बार मुनि बिप्रवर कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हँसि तहूँ बंधु सम बाम॥
निपटहिं द्विज करि जानहि मोही।
मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू।
कोपु मोर अति घोर कृसानू॥
समिधि सेन चतुरंग सुहाई।
महामहीप भए पसु आई॥
मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हे।
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे॥
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें।
बोलसि निदरि बिप्र के भोरें॥
भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा।
अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा॥

परशुराम के आवेश और आक्रोश से राघवेन्द्र रंचमात्र प्रभावित नहीं हुए। अपितु उनकी वाणी के उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा उससे परशुराम के समक्ष एक ऐसे जीवन-दर्शन का उद्‌घाटन होता है जिससे वे सर्वथा अपरिचित थे। उनकी दृष्टि में भय और अभय की वृत्तियां परस्पर इतनी विरोधी हैं कि वे दोनों एक साथ एक ही व्यक्ति में नहीं रह सकतीं। भयभीत व्यक्ति निर्भय नहीं हो सकता और निर्भय व्यक्ति के जीवन में भय का संस्पर्श सम्भव नहीं है। किन्तु समन्वयवादी श्री राम भय और अभय में भी समन्वय-सूत्र ढूंढ़ लेते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि उन्हें काल से भी भय नहीं लगता है, किन्तु ब्राह्मण के समक्ष भयभीत होने में उन्हें किसी प्रकार की हीनता का बोध नहीं होता है। अपितु उनकी मान्यता तो यह है कि ब्राह्मण के समक्ष भय स्वीकार करने वाला व्यक्ति विश्व में सर्वथा अभय हो

जाता है। रामभद्र के द्वारा प्रतिपादित भय और अभय का दर्शन जीवन के प्रति उनकी व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि का परिचायक है। भय व्यक्ति को दुर्बल बनाता है पर अभय का अतिरेक व्यक्ति को अहंकारी बना देता है। अहंकारजन्य अभय कभी टिकाऊ नहीं हो सकता, क्योंकि अहंकार की दुर्बल नींव पर आधारित कोई भी सद्गुण स्थिर नहीं हो सकता है। स्वयं अहंकार दूसरों की दुर्बलता पर आश्रित होता है, दूसरों में हीनता देखे बिना अहंकार को अपनी विशिष्टता का भान नहीं होता, इसीलिए अहंकारजन्य अभय से प्रेरित व्यक्ति सर्वदा दूसरों की चेष्टा करता है। वह दूसरों को डरा हुआ देखकर यह अनुभव करता है कि सब मुझसे डरते हैं अतः मैं अभय हूं। इसीलिए दूसरों के भय पर आधारित इस प्रकार का अभय स्थायी नहीं होता है। अपनी तुलना में अधिक शक्तिशाली व्यक्ति को जब वह अपने समक्ष अभय देखता है तब वह भयभीत हुए बिना नहीं रह सकता। रावण का चरित्र इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। निर्भीक रावण सारे संसार को भय से सन्त्रस्त कर देता है, पर जब उसके समक्ष राम और लक्ष्मण का अभय रूप आता है तब वह भयभीत हो उठता है। सामना होना तो दूर, निर्भीकता से भरा हुआ लक्ष्मण का पत्र भी उसे आतंकित कर देता है। बाहरी मुस्कराहट की आड़ में वह अपने भय को छिपाने की चेष्टा करता है :

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई।
कहत दसानन सबहिं सुनाई।।

इस तरह अहंकार की नींव पर आधारित अभय और भय की ओर उन्मुख हो जाता है। दूसरी ओर श्री रामभद्र जिस भय की सराहना करते हैं वह उनके ही शब्दों में अभय की ओर उन्मुख करने वाला है। ब्राह्मण के प्रति भय भौतिक दृष्टि से सुसंगत नहीं है। वह ऐश्वर्य और सत्ता दोनों से दूर है। उसके प्रति भय आन्तरिक श्रद्धा से ही स्वीकार किया जा सकता है। यह आदर और प्रीतिजन्य भय है जो व्यक्ति को असत् कार्यों से रोकता है; अनुशासन की सृष्टि करता है। इस प्रकार अनुशासन और सद्गुण से भरा हुआ व्यक्ति विश्व में अभय हो जाता है। श्री राम और लक्ष्मण ने इसी जीवन-दर्शन को स्वीकार किया है। रामभद्र महर्षि विश्वामित्र के समक्ष कुछ कहते हुए संकुचित और भयभीत दिखाई देते हैं। परम निर्भीक लक्ष्मण की भी यही स्थिति दिखाई देती है :

श्री राम :— कौतुक देखि चले गुरु पाहीं।
जानि बिलम्ब त्रास मन माहीं।।

× × ×

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरु पद पंकज नाइ सिर बैठें आयसु पाइ।।

गुरुजनों के समक्ष भय स्वीकार करने वाले श्री राम और लक्ष्मण स्वयं अभय होकर संसार के व्यक्तियों को भय से मुक्त कर देते हैं। परशुराम स्वयं अभय हैं और किसी समय उन्होंने आतंककारी राजाओं के भय से समाज को मुक्त किया

था, पर वाद में वह स्वयं दूसरों के भय के हेतु वन गए। दूसरों को भयभीत देखकर उन्हें आनन्द और संतोष की अनुभूति होती थी। पर दूसरों के भय पर आधारित परशुराम का आत्म-विश्वास लक्ष्मण की निर्भीकता के समक्ष डिग जाता है। यही इस अभय की सवसे वड़ी पराजय है :

भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी।
रिस तन जरइ होइ बल हानी॥

इसके प्रतिकूल श्री राम अभय होते हुए भी परशुराम के समक्ष भय को स्वीकार कर लेते हैं। पर वे इसे स्पष्टकर देते हैं कि यह भय व्रल के प्रति आतंक के कारण नहीं है। वस्तुत: यह भय अभय का सर्वोत्कृष्ट रूप है। यह भय हृदय पर वलपूर्वक अधिकार नहीं कर लेता, इसे तो स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। परशुराम के समक्ष भय और अभय का जो दर्शन आया उससे वे चमत्कृत हो उठे और क्षण-भर में ही उनकी वुद्धि पर छाया हुआ आवरण दूर हो जाता है। वे सत्य के साक्षात्कार के लिए व्यग्र हो जाते हैं और रामभद्र से यह अनुरोध करते हैं कि उनके पास जो विष्णु-धनुष है वे उसे चढ़ाकर उनकी भ्रांति का निराकरण कर दें :

सुनि मृदु गूढ़ वचन रघुपति के।
उघरे पटल परसुधर मति के॥
राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥

उपसंहार में प्रयुक्त ये पंक्तियां परशुराम के व्यक्तित्व के उस पक्ष को उजागर कर देती हैं जिसका इस पूरे प्रसंग में दर्शन नहीं हो रहा था। परशुराम और श्री राम के सम्वाद को पढ़कर ऐसा लगता है कि जैसे परशुराम क्रोध और आत्म-प्रशंसा के घनीभूत रूप हैं। पर उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका व्यक्तित्व मूलतः इससे भिन्न था। उनके व्यक्तित्व की तुलना उस सरोवर से की जा सकती है जिसमें स्वच्छ जल भरा होने पर भी बाहर से काई के कारण मलिनता की अनुभूति होती है। पर काई के हटते ही जल अपने उज्ज्वल रूप में सामने आ जाता है। वे मूलतः अहंकारी नहीं हैं। विवेक ही उनका स्वरूप है। पर कुछ समय के लिए अहंकार के आवरण ने उनके व्यक्तित्व को आवृत कर लिया था। ठीक उसी प्रकार, जैसे उज्ज्वल सूर्य बादलों के ढक जाने पर अपना प्रकाश नहीं फैला पाता है, किन्तु आवरण दूर होते ही उसका दिव्य प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। परशुराम के द्वारा बार-वार उत्तेजित किए जाने पर भी श्री राम का युद्ध के लिए प्रस्तुत न होना उनकी इसी धारणा का परिचायक है। श्री रामभद्र को यह भली भांति ज्ञात था कि परशुराम उस अंधकार के प्रतीक और पक्षधर नहीं हैं जिसे मिटाने के लिए उनका अवतार हुआ है। परशुराम भी मूलतः लोक-कल्याण के लिए ही अवतरित हुए थे पर बीच में ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे वे अपने उद्देश्य से दूर चले गए हैं। परशुराम के व्यक्तित्व की व्याख्या के लिए गोस्वामी जी ने वड़ी ही सार्थक उपमा का प्रयोग किया है। नदी के दो रूप हमारे समक्ष आते हैं, एक

रूप में वह निरन्तर सेवा में संलग्न रहती है, प्यासों की प्यास बुझाती है, मलिनता को स्वच्छ करती है, कृषि के लिए जल देती है, नदी का यही जीवनदायी रूप बहुधा सामने आता है। पर उसका एक अस्थायी रूप और भी है जिसका दर्शन व्यक्ति को वर्षा ऋतु में होता है। जब उसमें बाढ़ आती है और दूसरों को स्वच्छ बनाने वाली नदी का जल स्वयं इतना मलिन हो जाता है कि वह स्नान और पान के लिए अनुपयुक्त जान पड़ता है। उसका रौद्र रूप कूल-कगारों को तोड़ता हुआ किनारे के न जाने कितने गांवों को विनष्ट कर देता है, न जाने कितने लोगों के प्राण चले जाते हैं। पर यह कैसी विलक्षण बात है कि उसके इस रूप को देख लेने के बाद भी व्यक्ति उसे अपने शत्रु के रूप में नहीं देख पाता। वह कभी यह नहीं चाहता है कि नदी सूखकर विनष्ट हो जाए। क्योंकि उसे भली भांति ज्ञात है कि नदी अपने वास्तविक रूप में इतने उपकार करती है कि उसे भुलाया नहीं जा सकता। इसीलिए वह नदी को मिटाने के स्थान पर उसकी बाढ़ को नियन्त्रित करने के उपाय सोचता है। परशुराम का व्यक्तित्व भी मूलतः कल्याणकारी नदी के समान है जिसमें क्रोध की बाढ़ आ गयी थी। श्री राम ने बांध और घाट के रूप में केवल उस बाढ़ को नियन्त्रित करने का प्रयास किया जो जनमानस में आतंक की सृष्टि कर रही थी :

घोर धार भृगु नाथ रिसानी।
घाट सुबद्ध राम बर बानी॥

परशुराम के अन्तिम वाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि वह डरावनी बाढ़ अब उतार पर आ गई थी। वे एक जिज्ञासु के रूप में सत्य को जानने और उसको स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत थे। धनुर्भंग के रूप में किए गए कार्य से श्री राम की सामर्थ्य का कुछ परिचय उन्हें प्राप्त हो चुका था। पर वह परिचय उनकी दृष्टि में अपूर्ण था। विष्णु-धनुष के माध्यम से वे उसकी समग्रता का प्रमाण पाना चाहते थे। धनुर्भंग में उनकी संहार-शक्ति का दर्शन हुआ था तो वे विष्णु-धनुष के माध्यम से अपनी अनुग्रह और पालन करने की क्षमता का परिचय दें परशुराम का ऐसा अनुरोध था। इसलिए जहां जनक की प्रतिज्ञा में धनुष तोड़ने का अनुरोध था वहां परशुराम ,केवल धनुष को खींचकर चढ़ा देने का ही आग्रह करते हैं। उनके इस आग्रह की पूर्ति उनकी कल्पना से भी विचित्र रूप में हुई। राम के द्वारा धनुष को लेने की कोई चेष्टा नहीं की गई अपितु धनुष ही खिंचकर श्री राम के पास चला आया और वह अपने आप ही चढ़ गया। इससे परशुराम को यह ज्ञात हो गया कि राम केवल विष्णु के ही अवतार नहीं हैं अपितु वे पूर्णावतार ईश्वर हैं। जहां बिना किसी कर्तव्य के पालन और संहार का कार्य सम्पन्न होता है। शिव यदि संहार के देवता हैं तो विष्णु पालन के, किन्तु इनमें से कोई भी उपाधि राम के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है ! वे इन दोनों गुणों के द्रष्टा मात्र हैं। वे गुणों को नहीं चाहते अपितु गुण ही स्वेच्छा से उनकी सेवा करते हैं, यह श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित उस सिद्धान्त का साक्षात् प्रमाण है जिसमें भगवान अपने स्वरूप का वर्णन करते

हुए स्वयं को निर्गुण घोषित करते हैं और यह निरूपित करते हैं कि उनके निरपेक्ष होते हुए भी गुण ही उनका भजन करते हैं—'निर्गुणं माम गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम् ।'

इस दृश्य को देखते ही परशुराम की सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। वहिरंग दृष्टि से वे श्री राम के समक्ष पराजित हुए। किन्तु पराजय के इन क्षणों में ही उनकी महानता का सर्वोत्कृष्ट रूप सामने आता है। वे जीवन में आज तक सर्वदा और सर्वत्र विजय ही प्राप्त करते रहे और उस विजयश्री से उनका गौरव वृद्धिगत हुआ था। किन्तु पराजय के क्षणों में ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे वे कल्पना से कहीं अधिक महान् हैं : विजेता के रूप में उनकी महिमामण्डित मूर्ति उतनी आकर्षक प्रतीत नहीं होती जितनी पराजय की इस वेला में। विजय के क्षणों में उनका सौंदर्य ऐसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे किसी को वहुमूल्य आभूषण और वस्त्रों से सुसज्जित कर दिया गया हो। उस समय यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इसमें व्यक्ति का सौंदर्य कितना है और वस्त्र और आभूषणों को कितना श्रेय दिया जाना चाहिए। किन्तु वस्त्र और आभूषणों के हट जाने पर भी यदि किसी का आकर्षण न्यून नहीं होता है तो वह उसके सौंदर्य की सच्ची कसौटी है। पराजित परशुराम इस कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। इससे उन पराजय की मुखाकृति पर लज्जा, म्लानता या विषाद का कोई चिह्न नहीं आता है। अपितु वे आनन्द के आवेग में रोमांचित हो उठते हैं। इतना ही नहीं, वे इससे भी आगे वढ़कर सार्वजनिक रूप से भाव भरे स्वर में श्री राम की स्तुति करते हैं। यह वही सभा थी जिसमें एकत्रित विश्व के सभी राजाओं ने उनके आगमन पर उनके चरणों में नमन किया था। यहां तक कि श्री राम और लक्ष्मण भी इसके अपवाद नहीं थे। विश्ववंद्य के रूप में गौरव प्राप्त करने वाले परशुराम उन राजकुमारों की स्तुति करते हैं जिनका जन्म भौतिक दृष्टि से उस वर्ण में हुआ था जिसको विनष्ट करने का संकल्प उन्होंने लिया था। जो अवस्था में उनसे अत्यन्त छोटे थे। उनके द्वारा की जाने वाली यह स्तुति भय अथवा वाध्यता से प्रेरित नहीं थी। उसके मूल में प्रीति की ही प्रेरणा थी। अनगिनत व्यक्तियों के समक्ष पराजय के क्षण आते हैं। अधिकांश व्यक्ति उसके आघात को वाध्यतापूर्वक मन मारकर झेल लेते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो कि वदले की भावना से वेचैन हो जाते हैं। असह्य अपमान का आघात उन्हें विचलित वना देता है। परशुराम की प्रतिक्रिया इनसे सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। उन्होंने इस प्रसंग में जिस अपूर्व कृतकृत्यता का अनुभव किया वह उनकी दृष्टि में अनुपमेय थी। श्री राम की स्तुति के साथ ही जव वे लक्ष्मण की भी प्रशंसा करना नहीं भूलते हैं तब उनके हृदय की विशालता और उदारता का परिचय प्राप्त होता है। वाहर से अत्यन्त शुष्क प्रतीत होने वाले परशुराम अन्तरंग में कविहृदय भी हैं इसका परिचय स्तुति में प्रयुक्त की जाने वाली शब्दावली से प्राप्त होता है :

जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले वचन हृदयँ न प्रेमु अमात॥

जय रघुबंस बनज बन भानू।
गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी।
जय मद मोह कोह भ्रमहारी॥
बिनयसील करुना गुनसागर।
जयति बचन रचना अति नागर॥
सेवक सुखद सुभग सब अंगा।
जय सरीर छबि कोटि अनंगा॥
करौं काह मुख एक प्रसंसा।
जय महेस मन मानस हंसा॥
अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥

परशुराम बड़ी प्रसन्नता से यह स्वीकार कर लेते हैं कि समाज के हित के लिए जो आवश्यक कर्तव्य हैं अब उनमें मेरी भूमिका समाप्त हो चुकी है। इसके पश्चात् विश्व-मंगल के लिए सारे कार्य राम के द्वारा सम्पन्न होने हैं। उन्हें यह भी विश्वास हो गया कि उनका उत्तराधिकारी उन अपूर्णताओं से रहित है जो स्वयं उनमें विद्यमान थीं।

परशुराम के चरित्र में प्रेरणा के अनेक संकेत-सूत्र विद्यमान हैं। आवेशावतार माने जाने वाले परशुराम के व्यक्तित्व में जो दोष दिखाई देते हैं वे साधक को निरन्तर सजग रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे अपने चरित्र के द्वारा यह भी सिद्ध कर देते हैं कि केवल दुर्गुण ही नहीं, सद्गुण भी समाज के लिए कभी-कभी समस्या बन जाते हैं। सजग आत्मनिरीक्षण के साथ-साथ व्यक्तित्ववादी दृष्टिकोण से दूर रहकर ही समाज की सच्ची सेवा की जा सकती है।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

मंथरा

मंथरा एक ऐसी नारी पात्रा है जो शारीरिक विकृति के अभिशाप से संत्रस्त थी। महर्षि अष्टावक्र जैसे विरले ही व्यक्ति होते हैं जो शारीरिक विकृतिजन्य अभिशाप को अपने आत्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के द्वारा वरदान के रूप में वदल दें और जिनके अन्तःकरण में विकृतिजन्य हीनता के स्थान पर ज्ञान की गरिमा विराजमान हों। शारीरिक विकृति वाला व्यक्ति वहुधा दोहरे अभिशाप का भागी वनता है। एक ओर तो शारीरिक निर्माण की अधूरी प्रक्रिया उसे दुःख देती ही है दूसरी ओर दूसरों की उपहास भरी दृष्टि का वोध उसके दुःख को न जाने कितने गुना वढ़ा देता है। अष्टावक्र जैसे तत्त्वज्ञ को भी इस उपहास भरी दृष्टि का सामना करना पड़ा था और यह उपहास भी उन लोगों की ओर से था जिनसे ऐसी आशा नहीं की जाती है। राजर्षि जनक की सभा के सदस्य अष्टावक्र के आठ स्थानों से टेढ़े शरीर को देखकर मुस्करा पड़े थे। महर्षि में न केवल उसे झेलने की शक्ति थी अपितु वे अपने व्यंग्य भरे उत्तर के द्वारा लोगों को आत्मनिरीक्षण के लिए प्रेरित करने में भी समर्थ हुए थे। वाद में तो जनक से लेकर उन की सभा का प्रत्येक सदस्य उनकी ज्ञान-गरिमा के समक्ष नत हो गया था।

सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी के जीवन में भी ऐसा ही अवसर आ गया था। वे कुरूप और एकाक्ष थे। किसी राजा की सभा में पहुंचने पर जब लोग मुंह दवाकर उन पर हंस रहे थे तभी उनके मुख से निकले हुए एक प्रश्न ने लोगों को लज्जित होने के लिए वाध्य कर दिया था। उन्होंने मुस्कराते हुए सभासदों से प्रश्न किया "आप किस पर हंस रहे हैं घड़े पर या कुम्हार पर ?" "हम पर हंसेसि कि कोंहरहिं"। शरीर-घट का निर्माता कुम्भकार ईश्वर हैं। यदि घट टेढ़ा हो तो इसके लिए किसे दोष दिया जाना चाहिए? अष्टावक्र ने जहां सभासदों को चर्मकार कह-कर उनकी देहवादी दृष्टि पर व्यंग्य किया था और उन्हें अपनी दृष्टि की स्थूलता पर सोचने के लिए प्रेरित किया था वहां सूफी कवि ने ईश्वर की ओर देखने की प्रेरणा दी थी। पर सभी तो अष्टावक्र या जायसी नहीं हो सकते हैं। ऐसे अधिकांश व्यक्ति जीवन-भर इस अभिशाप को ढोने के लिए वाध्य हो जाते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जो इस अभिशाप से क्षुब्ध होकर सारे समाज से वदला लेने पर तुल जाते हैं। मंथरा ठीक इसी प्रकार की पात्रा है। न केवल वह शारीरिक दृष्टि से विकृत थी अपितु मानसिक कुरूपता के कारण भी उसका जीवन कुटिलता और विकृति का भण्डार वन गया था। उसे निरन्तर लोगों की व्यंग्य और उपहास भरी दृष्टि का पात्र वनना पड़ता था। यहां तक कि जिन महारानी कैकेयी की सेवा में वह संलग्न थी वे भी उसे मनोरंजन के एक उपकरण के रूप में ही देखती थीं। अपनी इन वाध्यताओं से घिरी होने के कारण वह अपने आक्रोश को प्रकट करने में असमर्थ

थी। किन्तु अवसर मिलते ही अपनी कुटिल बुद्धि का प्रयोग करते हुए उसने अयोध्या में जिस विपत्ति की सृष्टि की उससे यह स्पष्ट हो गया कि उत्ताप से जलता हुआ अकेला व्यक्ति भी सारे समाज को किस तरह संकट में डाल सकता है।

कई लोगों की यह धारणा है कि मंथरा कैकेयी की अत्यन्त हितैषिणी थी और उसने जो कुछ भी किया उसका उद्देश्य अपनी स्वामिनी का हित करना ही था। किन्तु यह मान्यता मंथरा की मनोवृत्ति को पूरी तरह न समझ पाने के कारण ही बनती है। यह ठीक है कि वह कैकेयी की अत्यन्त प्रिय दासी थी। पितृगृह से साथ में आने के कारण कैकेयी की उसके प्रति ममता होना स्वाभाविक था। मंथरा की आवश्यकताओं की पूर्ति का भार महारानी कैकेयी पर ही था। उदार कैकेयी निरन्तर उसका ध्यान रखती थीं इस नाते मंथरा का उनके प्रति एक सीमा तक कृतज्ञ होना भी स्वाभाविक था। पर इसका एक दूसरा पक्ष भी था। मंथरा अपनी कुरूपता और कूट-बुद्धि के कारण अयोध्या के राजमहलों में लोकप्रिय नहीं थी। महारानी कैकेयी की दासी होने के कारण उसके प्रति कठोर व्यवहार कर पाना कठिन था, फिर भी लोगों के द्वारा उसके टेढ़ेपन पर व्यंग्य किया जाता था। कैकेयी के लिए वह भले ही कठोर व्यंग्य की पात्र न रही हो पर उपहास की पात्र तो थी ही। लोगों के व्यंग्य वाणों से पीड़ित मंथरा का पक्ष उन्होंने कभी नहीं लिया। वे उस समय जिन शब्दों में उसे सांत्वना प्रदान करती थीं उसमें उपहास का स्वर अवश्य होता था। इस प्रकार की सहानुभूति से उसके अन्तःकरण में आक्रोश का होना स्वाभाविक ही था। इस तरह मंथरा अयोध्या में किसी से भी पूरी तरह संतुष्ट नहीं थी।

अयोध्या के राजकुमारों में भी उसके प्रति उदासीनता की भावना विद्यमान थी। पर तेजस्वी लक्ष्मण इसके अपवाद थे। उनके मन में कहीं न कहीं यह आभास था कि अनियंत्रित होने पर मंथरा महलों में किसी समय भी संकट की सृष्टि कर सकती है। इसलिए वे मंथरा पर अत्यन्त कड़ी दृष्टि रखते थे। समय-समय पर उनकी फटकार से मंथरा क्षुब्ध होती रहती थी। यद्यपि रामभद्र ने मंथरा के प्रति कभी किसी प्रकार का कठोर व्यवहार नहीं किया किन्तु लक्ष्मण राम के समीपी होने के कारण वह उन्हें भी लक्ष्मण के कार्यों में भागीदार मान लेती थी। सौजन्य-मूर्ति भरत इस ओर से पूरी तरह उदासीन थे। मंथरा को उनसे भिन्न प्रकार की निराशा थी। केकय नरेश के द्वारा भेजी जाने के कारण वह स्वयं को कैकेयी के हितों की संरक्षक मान बैठी थी। उसे यह भी भली भांति ज्ञात था कि विवाह के समय कैकेयी से उत्पन्न होने वाले पुत्र को ही राज्य देने का वचन महाराज दशरथ की ओर से दिया जा चुका है। बाद में भले ही कैकेयी स्वयं इन वचनों की ओर से उदासीन हो गईं, किन्तु मंथरा के लिए इसे स्वीकार कर पाना असंभव था। उसे अपने ही स्वभाव के अनुरूप अन्य सभी लोगों में कुटिलता दिखायी देती थी। उसे बार-बार यह प्रतीत होता था कि कैकेयी की उदारता और भरत की सरलता का लाभ उठाकर उनके अधिकारों को हड़पने का षड्यंत्र रचा जा रहा है। उसका विश्वास था

कि इन षड्यंत्रों से निपटने का सारा भार उसी पर है। और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व में विचित्र प्रकार के विरोधी भाव विद्यमान थे इसलिए जब भरत की अनुपस्थिति में राम को राज्य देने की योजना का उसे ज्ञान हुआ तब वह चौंक पड़ी। उसे लगा कि एक ओर तो भरत के अधिकारों का अपहरण किया जा रहा है और दूसरी ओर लक्ष्मणाग्रज राम सिंहासन पर आरूढ़ होने वाले हैं। इस स्थिति को वह चुपचाप नहीं स्वीकार कर सकती थी।

अयोध्या में घटित होने वाली घटनाओं का पता लगाते रहना भी उसकी दिन-चर्या का एक अंग था। इसलिए महारानी कैकेयी से पहले वह उन घटनाओं से परिचित हो जाती है जो अयोध्या में उन दिनों घटित हो रही थीं। चारों ओर नगर को नववधू की भांति सजाया जा रहा था। इस उत्सव और उल्लास का कारण जानने की इच्छा प्रकट करने पर लोगों से उसे यह समाचार मिला कि कल रामचन्द्र को अयोध्या के युवराज-पद पर अभिषिक्त किया जाएगा। यह समाचार उसके लिए अत्यन्त दुःखदायी था। उस समय उसके हृदय में उदित होने वाले मनोभावों को मानस की इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

दीख मंथरा नगरु बनावा।
मंजुल मंगल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।
रामतिलकु सुनि भा उर दाहू॥
करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती।
होइ अकाजु कवनि बिधि राती॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती।
जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥

उसकी तुलना उस कुटिल किराती से की गई है जो मधु के छत्ते को देखते ही उसे तोड़ने के लिए व्यग्र हो जाती है। मधुमक्खियों के द्वारा बड़ी चतुराई से पुष्पों से रस संगृहीत किया जाता है। वे पुष्पों को विनष्ट किए बिना ही कलात्मक पद्धति से रस ग्रहण कर लेती हैं। पुष्पों को कष्ट दिए बिना ही उनसे मधु ग्रहण कर लेना जीवन की सर्वोत्कृष्ट कला है। मधु सुख का प्रतीक है जिसे सभी पाना चाहते हैं, पर इस सुख को पाने की पद्धति में भेद है। कुछ लोग मधुप के समान दूसरों के सुख और रस का ग्रहण करते हुए भी निरन्तर सजग रहते हैं कि उनके द्वारा किसी को रंचमात्र कोई कष्ट न होने पावे ! किन्तु किरात और किराती उन लोगों के प्रतीक हैं जो दूसरों के द्वारा संगृहीत सुख को बलपूर्वक छीन लेने का प्रयास करते हैं। गोस्वामी जी दोहावली रामायण में मधुप और कोल को सुमति और कुमति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

पिअत सुमन रस अलि बिटप कोल काटि फल खात।
तुलसी तरुजीवी जुगल सुमति कुमति कै बात॥

अयोध्यावासी भौंरों की भांति रामराज्य का मधु संगृहीत करने में संलग्न थे।

किन्तु उसी समय किराती मंथरा ने अपनी प्रकृति का परिचय देते हुए मधु को छीन लेने की योजना वना डाली।

अयोध्या में कैकेयी के स्वभाव और उनकी उदारता की वड़ी ख्याति थी। पर मंथरा की दृष्टि इस विषय में अत्यन्त पैनी थी। एक लम्वी अवधि तक कैकेयी के समीप रहने के कारण वह उनके सद्‌गुणों के साथ-साथ उनकी दुर्वलताओं से भी भली भांति परिचित थी। कैकेयी की सवसे बड़ी दुर्वलता थी प्रशंसा के प्रति मोह और अपने को सर्वाधिक विशिष्ट मनवाने की आकांक्षा। मंथरा ने इन्हीं को आधार वनाकर अपने संकल्प को साकार करने का निर्णय किया। मंथरा अभिनय कला में भी निपुण थी। भले ही उसने विद्यालय में शिक्षा न प्राप्त की हो पर राजकुल में रहते हुए उसने वचन-रचना की शैली में अद्‌भुत कुशलता प्राप्त कर ली थी। कैकेयी के समक्ष उसने इन दोनों कौशलों का उपयोग किया। नैतिकता के प्रति उसके मन में कोई आस्था न थी, इसलिए सत्य-असत्य की भी उसे कोई चिन्ता न थी। फिर अपने कार्य के औचित्य में उसके लिए समर्थन ढूंढ़ लेना कठिन नहीं था। वह भरत और कैकेयी के अधिकार की संरक्षिका वनने का दावा करती है। साथ ही उसके मन में यह सुदृढ़ विश्वास था कि वह अपने चातुर्य से कैकेयी को पश्चात्ताप के लिए वाध्य कर सकती है। वह चाहती थी कि कैकेयी यह अनुभव करें कि उन्होंने आज तक मंथरा को पहिचानने में वड़ी भूल की है। अनुचरी वनकर पीछे चलने वाली मंथरा के लिए यह साधारण गर्व और संतोष की वात नहीं थी कि वह आज कैकेयी को अपने पीछे चलने के लिए वाध्य कर सके। अयोध्या के राजमहल की ओर जाते हुए मंथरा के मन में इस प्रकार के न जाने कितने भाव उठे होंगे।

राजमहल में प्रवेश करते हुए उसने अपनी मुख-मुद्रा को ऐसा वना लिया था कि जिसे देखकर ही सामने वाला किसी अनिष्ट की आशंका से भयभीत हो जाये। प्रारम्भ में कैकेयी पर उनके अभिनय का अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ा। उन्हें ऐसा लगा कि मंथरा किसी और कारणवश क्षुब्ध है। उन्होंने तत्काल मंथरा से उसके अनमनेपन का कारण पूछा।। किन्तु कैकेयी की जिज्ञासा में जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया था उससे वह संतुष्ट नहीं हुई। वस्तुतः कैकेयी भी मंथरा की अभिनय कला से परिचित थीं। उन्हें वहुधा इसका अनुभव होता रहता था। थोड़ी-सी वात पर झुंझला पड़ना उसका स्वभाव था। इसलिए उसके अनमनेपन का कारण पूछते हुए उनके होंठों पर हंसी विद्यमान थी। कैकेयी की इस हंसी से मंथरा का तिलमिला उठना स्वाभाविक ही था। पर अपनी इस पहली असफलता से वह हार मानने वाली नहीं थी। वह अव दुख के साथ-साथ आंसू वहाने का भी अभिनय करने लगती है। उसकी लम्वी सांस से भी यही प्रतीत हो रहा था कि जैसे उस पर विपत्ति का कोई पहाड़ टूट पड़ा हो। उसकी इस मुख-मुद्रा को देखकर भी कैकेयी विचलित नहीं हुईं। ऐसा जान पड़ता है कि उसके इस प्रकार के अभिनय को देखने की वे इतनी अभ्यस्त हो गईं थीं कि उन्हें वह वार-वार दोहराई जाने वाली कहानी जैसी प्रतीत हो रही थी। उन्हें यह भी ज्ञात था कि लक्ष्मण के द्वारा

वहुधा मंथरा को नियंत्रित करने की चेष्टा की जाती है और जब भी ऐसे अवसर आते थे मंथरा मुंह बनाकर उलाहना देने के लिए कैकेयी के ही पास चली आती थी, इसीलिए महारानी कैकेयी ने सोचा कि आज भी कुछ ऐसा ही हुआ होगा। अतः अपनी इस आशंका को उन्होंने दुहराते हुए दुख का कारण पूछ लिया। किन्तु इस प्रश्न में भी सहानुभूति के स्थान पर उपहास का ही स्वर अधिक मुखर था :

भरत मातु पहिं गइ बिलखानी।
का अनमनि हसि कह हँसि रानी॥
ऊतरु देइ न लेइ उसासू।
नारि चरित करि ढारइ आँसू॥
हँसि कह रानि गालु बड़ तोरें।
दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें॥

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में विचार करने पर इस भ्रम का निराकरण हो जाना चाहिए कि मंथरा के कार्य कैकेयी के प्रति निष्ठा से प्रेरित थे। कैकेयी का मंथरा के प्रति जो व्यवहार है उसमें संवेदनशीलता के स्थान पर उपहास का ही स्वर मुख्य है। ऐसी स्थिति में मंथरा को कैकेयी की हंसी कितनी दुखदायी प्रतीत होती होगी इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु उपहास के इस आघात को भी वह चुपचाप झेल लेती है। कैकेयी के प्रश्नों का उत्तर न देकर वह अपने मौन से उसे पराजित करने में सफल होती है। अब तक उसका स्वभाव अपनी हृदयस्थ भावना को तत्काल प्रकट कर देने का था किन्तु जब उसने अपने क्रूर स्वभाव की पुनरावृत्ति नहीं की तब कैकेयी का चौंक पड़ना स्वाभाविक था। उस समय मंथरा की आन्तरिक मनोवृत्ति कैसी थी इसका परिचय निम्नलिखित पंक्ति से प्राप्त होता है :

तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि।
छाँड़इ स्वाँस कारि जनु साँपिनि॥

व्यक्ति आवेश में आने पर अपने क्रोध को वाणी के माध्यम से प्रकट करता है। इसीलिए रामचरितमानस में 'क्रोध के परुष बचन बल मुनिवर कहहिं विचारि' के रूप में इसका प्रतिपादन किया गया है। साधारण क्रोध की अभिव्यक्ति नेत्र, ओष्ठ आदि के माध्यम से होती है। पर तीव्र आक्रोश शब्दों के ही माध्यम से प्रकट होता है। किन्तु यह तो मानव-स्वभाव है। सर्प-सर्पिणी का आचरण इससे भिन्न होता है, वे फुंकार के माध्यम से अपना क्रोध प्रकट करते हैं। मंथरा भी वस्तुतः उस समय क्रुद्ध सर्पिणी का सा आचरण कर रही थी यह सर्पिणी के डंसने की मुख-मुद्रा थी। दुर्भाग्यवश कैकेयी उसकी आन्तरिक भावना को समझने में असमर्थ थी। उसके श्वास-प्रश्वास ने कैकेयी को भ्रांति में डाल दिया। अभिनय की इस गहराई ने अब उन्हें पूरी तरह प्रभावित कर लिया। किसी तीव्र अनिष्ट की आशंका से वे विचलित हो जाती हैं। किन्तु यह आशंका मंथरा के प्रति संवेदना से प्रेरित न होकर अपने परिवार की मंगल कामना से सम्बद्ध थी। इसलिए वे व्यग्र स्वर में मंथरा से उन लोगों के कुशल के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करती हैं जो उन्हें अत्यंत प्रिय थे :

सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु।
लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु॥

यह प्रश्न सुनकर मंथरा को दुहरा आघात लगा। एक ओर उसे इसमें कैकेयी की स्वार्थपरता की अनुभूति हुई क्योंकि उसे लगा कि जहां मेरे दुख की कल्पना होने पर भी वे मुस्कराती रहीं वहीं अपने परिवार के अमंगल की आशंका से वे भयभीत हो गईं। दूसरा आघात उसे इसलिए भी लगा कि कैकेयी ने जिन लोगों के कुशल के सम्वन्ध में जिज्ञासा की उनमें राम का नाम सर्वप्रथम था। इससे ऐसा प्रतीत होता था कि अपने पुत्र भरत की तुलना में उन्हें राम ही अधिक प्रिय हैं। फिर इन व्यक्तियों में लक्ष्मण का नाम भी था जो उसे अत्यन्त अप्रिय थे। ऐसी स्थिति में मंथरा के स्थान पर कोई अन्य व्यक्ति होता तो निराश होकर यह मान वैठता कि यहां मेरी दाल नहीं गलेगी किन्तु यहीं हमें मंथरा की अदम्य संकल्प शक्ति का ज्ञान होता है।

कैकेयी की उदात्त भावनाओं से हताश न होकर मंथरा अपने प्रयत्न में पूरी तरह सन्नद्ध हो जाती है। उसे पता था कि कैकेयी के मुख से जो वाणी निकल रही है वह वहुत कुछ अभ्यास और वातावरण के प्रभाव से निर्मित हुई है। उन्हें अयोध्या के वातावरण में कथा आदि के माध्यम से निरन्तर उदारता की प्रेरणा दी गई है; उस पर श्री राम के सौजन्यपूर्ण व्यवहार ने भी इस भावना को और अधिक प्रोत्साहित किया है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कैकेयी के अन्तःकरण में अपने-पराये-पन की भावना का सर्वथा अभाव हो गया हो। मानस में कैकेयी के अंतकरण की तुलना पृथ्वी से की गई है। पृथ्वी पर अगणित वस्तुएं विद्यमान हैं। उसके अंतराल में न जाने कितने पदार्थ छिपे हुए हैं। केवल पुष्पित, पल्लवित और फलित दिखाई देने वाले वृक्ष ही उसकी वास्तविकता को प्रकट नहीं करते, वीज के रूप में अगणित वनस्पतियों के मूल रूप पृथ्वी के गर्भ में छिपे रहते हैं। वर्षा ऋतु आने पर वे ही वीज प्रस्फुटित और अंकुरित हो जाते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी जहां कैकेयी की वुद्धि की तुलना भूमि से करते हैं वहीं उन्होंने मंथरा की तुलना वर्षा ऋतु से की है:

विपति बीज बरषा रितु चेरी।
भुइँ भई कुमति कैकयी केरी॥

कैकेयी के अंतःकरण में छिपे हुए महत्त्व के जो वीज विद्यमान थे मंथरा अपने कौशल के द्वारा उनको अंकुरित करने का प्रयास करती है। अपने प्रथम प्रयास में वह असफल होती हुई-सी प्रतीत होती है। किन्तु यहां भी इसकी तुलना वर्षा ऋतु के प्रथम झोंकों से की जा सकती है। वर्षा का पहला दौंगरा आते ही पृथ्वी शीतल नहीं हो जाती, न तो उसमें पड़े हुए वीज ही तत्काल अंकुरित हो जाते हैं। अपितु वर्षा के प्रथम झोकों में पृथ्वी से एक प्रकार का उत्ताप निकल कर वातावरण में छा जाता है। एक उमस की-सी अनुभूति होती है। इसके वाद कहीं जव वर्षा का जल भीतर जाकर पूरी तरह प्रविष्ट हो जाता है तव पृथ्वी शीतल और कोमल हो पाती है और तभी उसमें छिपा हुआ वीज प्रस्फुटित और अंकुरित होने लगता है। यहां भी ठीक यही स्थिति हुई। मंथरा के द्वारा दी गई सूचना को सुनकर जिस प्रकार कैकेयी

उत्तेजित हो गई उसकी तुलना पृथ्वी के आन्तरिक उत्ताप के बाहर निकलने से की जा सकती है। पर धीरे-धीरे बुद्धि की दृढ़ता समाप्त होकर उसमें छिपा हुआ ममता का संस्कार जिस प्रकार अंकुरित और फलित हो गया इस प्रसंग में देखने योग्य है :

रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू।
जेहि जनेसु देइ जुबराजू॥
भयउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन।
देखत गरब रहत उर नाहिन॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा।
जो अवलोकि मोर मनु छोभा॥
पूतु बिदेस न सोचु तुम्हारें।
जानति हहु बस नाहु हमारें॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई।
लखहु न भूप कपट चतुराई॥
सुनि प्रिय वचन मलिन मनु जानी।
झुकी रानि अब रहु अरगानी॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥
काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसकानि॥

कैकेयी के उत्तेजक प्रहारात्मक भाषण से उत्तेजित होकर मंथरा ने अपना प्रयास समाप्त नहीं कर दिया। उसने अपनी रणनीति में एक नया कौशल जोड़ दिया। स्वार्थ के कारण ही व्यक्ति का गौरव कम हो जाता है। किसी की बात सुन-कर बुद्धिमान व्यक्ति का ध्यान बहुधा इस ओर जाता है कि सामने वाला व्यक्ति किस स्वार्थ से प्रेरित है। स्वार्थपरता की मात्रा देखकर ही बुद्धिमान व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का निर्णय करता है। लाभ के बंटवारे में अपना उचित भाग देख कर ही वह किसी बात को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत होता है। और जब उसे यह प्रतीत हो कि सामने वाला व्यक्ति केवल अपनी ही स्वार्थपरता से प्रेरित है तब वह उसे अस्वीकार कर देने में ही अपनी भलाई मानता है। किन्तु जब किसी को सामने वाले व्यक्ति में स्वार्थपरता का अभाव दिखाई पड़ रहा हो तब तो वह निःस्वार्थ दिखाई देने वाले व्यक्ति का परम भक्त ही बन जाता है। मंथरा भी कैकेयी के मन पर अपनी निःस्वार्थता की छाप डालने में सफल हो जाती है। यही उसके वार्ता-लाप-कौशल की सबसे बड़ी सफलता थी। प्रारम्भ में वह अपनी कुरूपता की चर्चा करती है, एक दार्शनिक तटस्थता का दावा करती है। वह ऐसा दिखाने का प्रयास करती है कि जैसे उसकी कर्मफल पर पूरी आस्था है, और वह अपनी कुरूपता और पराधीनता के लिए किसी दूसरे का दोष नहीं देना चाहती।। वह अपने आप को कैकेयी के एक ऐसे हितैषी के रूप में प्रस्तुत करती है जो सन्त-स्वभाव से सारा

अपमान सहकर भी उनके हित-चिंतन में संलग्न है। उसका तो कैकेयी से केवल यही उलाहना है कि उन्हें अपने हितैषियों की परख नहीं है। केवल मीठी बातों से ही वे संतुष्ट हो जाती हैं। इसके द्वारा वह अपने आप को उन विरले व्यक्तियों की श्रेणी में रखने की चेष्टा करती है जो हित के लिए अप्रिय सत्य बोलने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। उसकी वाणी में यह भी चेतावनी थी कि यदि हितप्रद वाणी के प्रति उनकी ऐसी ही असहिष्णुता रही तो मुझे भी उनकी प्रियता प्राप्त करने के लिए मिथ्याचारी बनना होगा। पर इन सबकी अपेक्षा उसका यह वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था जिसमें वह स्वयं की निःस्वार्थता के सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत करते हुए प्रश्न पूछ लेती है कि यह बताइए कि इस सारे प्रसंग में स्वयं उसका व्यक्तिगत स्वार्थ क्या है? राम अथवा भरत के राज्य में उसकी स्थिति में क्या अन्तर होने वाला है? वह दासी छोड़कर रानी तो होने से रही। इसमें उसने एक मीठा व्यंग्य भी किया—"महाराज केकय ने कैकेयी के विवाह के समय जो अनुबन्ध किए थे उसका उद्देश्य अपनी पुत्री को ऐसी पट्टमहिषी के पद पर अभिषिक्त कराना था जिससे उत्पन्न 'पुत्र' को राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त हो।" दूसरी ओर वह (मंथरा) बिना किसी अपने स्वार्थ और उन्नति की आकांक्षा के ही उनके संकल्प को साकार करना चाहती है। इस तरह उसकी भूमिका महाराज केकय की तुलना में भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वह कैकेयी से प्रश्न पूछती है कि जो कुछ वह कह रही है उसमें उसका व्यक्तिगत स्वार्थ कहां है? कैकेयी मंथरा के इस तर्क से अत्यधिक प्रभावित हो जाती हैं। सचमुच ही उन्हें यह लगने लगा कि मंथरा का इसमें रंचमात्र भी कोई स्वार्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में उस पर अविश्वास करना महान् अन्याय है। कैकेयी राम के सद्‌गुणों से अत्यन्त प्रभावित थीं। उन्हें सर्वदा यह प्रतीत हुआ कि राम अपनी माता की तुलना में ही उन्हें अधिक सम्मान देते हैं। जहां श्री भरत अत्यन्त संकोची स्वभाव के होने के कारण कैकेयी के प्रति अपनी कोई विशेष भावना प्रकट नहीं करते वहीं उदारचरित श्री राम अपने स्नेह और सद्‌व्यवहार से कैकेयी अम्बा को प्रसन्न करने का प्रयास करते रहते थे। इससे प्रभावित होकर कैकेयी के मन में यह भाव आने लगा था कि राम का जन्म यदि उनके ही गर्भ से हुआ होता तो कितना अच्छा था और यदि इस बार यह सम्भव नहीं हुआ तो अगले किसी जन्म में ही सही मेरी यह भावना पूर्ण तो होनी ही चाहिए। अपनी इस आन्तरिक भावना को वह स्नेह भरे स्वर में मंथरा के समक्ष रख देती हैं। किन्तु इस समय उनके समक्ष तुलनात्मक समस्या थी। एक ओर थे सद्‌गुण-सद्‌व्यवहार-सम्पन्न राम और दूसरी ओर थी निःस्वार्थ सेविका मंथरा कैकेयी के इस अन्तर्द्वन्द्व को वह तत्काल समझ लेती है। अब उसके सामने केवल एक ही कार्य था कि वह किसी तरह कैकेयी के मन में वह बात पैठाने में सफलता प्राप्त कर ले कि राम के सारे सद्‌व्यवहार के पीछे स्वार्थपरता और कूटनीति है, और वह अपने प्रयास में पूरी तरह सफल भी हुई। वह उन्हें यह समझाने में सफल हो जाती है कि इन सारी घटनाओं के पीछे

एक महान षड्यन्त्र है। कुछ ऐसी बातें थीं कि जो अकाट्य तर्क के रूप में सामने आती हैं। उसका प्रश्न यह था कि यदि महाराज दशरथ के मन में सद्भावना होती तो वे इस राज्याभिषेक की योजना को कैकेयी से छिपाने का प्रयास क्यों करते ? एक ओर तो वे यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि आपके ही प्रति उनका सर्वाधिक स्नेह है पर दूसरी ओर जिस योजना से सारे नागरिक परिचित हो चुके हैं उसे उनसे छिपाने का प्रयास किया जा रहा है। भरत को ननिहाल से न बुलाया जाना भी इसी आशंका की पुष्टि करता है। फिर मंथरा मानवीय स्वभाव की दुर्बलता का संकेत करते हुए कौशल्या और उनके सम्बन्धों की जटिलता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करती है। वह स्मरण दिलाती है कि कौशल्या ज्येष्ठ महारानी होते हुए भी अपने अधिकार से वंचित रही हैं, क्योंकि महाराज ने उनकी तुलना में आपको ही अधिक स्नेह दिया है। अपनी चतुराई और गम्भीरता से भले ही उन्होंने पीड़ा को प्रकट न होने दिया हो पर वे उचित अवसर की प्रतीक्षा में थीं और आज उन्हें वह प्राप्त हो गया। राम भी यदि आपके प्रति इतने अधिक सद्-व्यवहार का प्रदर्शन करते थे तो इसके पीछे भी उनकी वाध्यता और कूट-बुद्धि ही थी। उन्हें प्रारम्भ से ही यह ज्ञात था कि विवाह के अनुवन्ध के अनुसार राज्य का उत्तराधिकार भरत को ही प्राप्त होगा। महत्त्वाकांक्षी राम यह जानते थे कि यदि उन्हें अयोध्या के राज्य को पाना है तो कैकेयी के मन से भरत को उतारकर स्वयं को वह प्रतिष्ठापित करना होगा। अपनी इस कूटनीति में वे पूरी तरह सफल हुए। इस तरह मंथरा ने सारी घटना को जिस रूप में प्रस्तुत किया उससे कैकेयी के मन में यह पूरी तरह विश्वास जम गया कि सचमुच इस सारे घटनाचक्र के पीछे एक महान् षड्यन्त्र है। और तव उन्हें दशरथ, कौशल्या और श्री राम के सौन्दर्य की आड़ में इन सवकी घिनौनी आकृति का दर्शन होने लगा। उन्हें लगा कि एक ओर मन्थरा है जिसकी वाह्य कुरूपता के पीछे निःस्वार्थता और सेवावृत्ति का सौन्दर्य छिपा हुआ है और दूसरी ओर हैं दशरथ, कौशल्या और राम जिनके वाह्य सौन्दर्य के पीछे स्वार्थ, कपट और सत्तालोलुपता की कुरूप आकृतियां छिपी हुई हैं। कुछ ही क्षणों में उनके हृदय के उस सिंहासन पर जिस पर दशरथ और राम विराजमान थे दासी मन्थरा बैठ गयी। यह मंथरा की कूटनीतिक बुद्धि की महान् सफलता थी। इस प्रसंग में मंथरा की भाषणचातुरी का अद्भुत परिचय प्राप्त होता है :

तुम्ह पूँछहु मैं कहत डेराऊँ।
धरेहु मोर घरफोरी नाऊँ॥
सजि प्रतीत वहु बिधि गढ़ि छोली।
अवध साढ़साती तब बोली॥
प्रिय सिय राम कहा तुम्ह रानी।
रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते॥

भानु कमलकुल पोषनिहारा।
बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी।
रूँधहु करि उपाउ बर बारी॥
तुम्हहि न सोचु सोहागबल निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृप राउर सरल सुभाउ॥
चतुर गँभीर राम महतारी।
बीचु पाइ निज बात सँवारी॥
पठए भरतु भूप ननिअउरें।
राममातु मत जानव रउरें॥
सेवहिं सकल सवति मोहि नीकें।
गरबित भरतमातु बस पीकें॥
सालु तुम्हार कौसिलहि माई।
कपट चतुर नहिं होइ जनाई॥
राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेषी।
सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी॥
रचि प्रपंचु भूपहिं अपनाई।
राम तिलक हित लगन धराई॥
यह कुल उचित राम कहुँ टीका।
सबहिं सोहाइ मोहि सुठि नीका॥
आगिलि बात समुझि डर मोहीं।
देउ दैउ फिरि सो फलु ओहीं॥
रचि पचि कोटिक कुटिल पन कीन्हेसि कपट प्रबोधु।
कहिसि कथा सत सवति कै जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु॥

उपर्युक्त पंक्तियों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह बार-बार उच्चकोटि की नैतिकता की दुहाई देकर यह भी सिद्ध करने का प्रयास करती है कि उसमें पक्षपातजन्य संकीर्णता नहीं है। वह तो कैकेयी से भी अधिक उदात्त भावनाओं से प्रेरित है। अयोध्या का राज्य उसकी दृष्टि में रंचमात्र मूल्यवान नहीं है। राम के सिंहासनासीन होने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती पर इसके परिणामस्वरूप कैकेयी और भरत के प्रति जो महान् अन्याय और अनर्थ होने वाला है उसकी दृष्टि उसी ओर आबद्ध है। भविष्य के अमंगल को नष्ट करना ही उसका उद्देश्य है। वह कैकेयी के मन पर यह छाप भी डालती है कि उदारता सद्‌गुण है पर जब कोई व्यक्ति उससे अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करे तब भी उदारता का प्रदर्शन करना मूढ़ता का पर्यायवाची है। जहां इस तरह उसके भाषण में दर्शन और धर्म का विश्लेषण है वहीं वह अपनी दूरदृष्टि और राजनैतिक सूझ-बूझ का परिचय देते हुए कैकेयी को इतना अधिक प्रभावित कर लेती है कि उन्हें ऐसा लगने लगता है

कि मन्थरा से वढ़कर परमार्थ और स्वार्थ का समन्वयकर्ता दूसरा कोई है ही नहीं। इतना ही नहीं उन्हें यह भी विश्वास हो गया कि सारे नगर और राजमहल में उनकी हितैषिणी एकमात्र मन्थरा है। कैकेयी की यही मनःस्थिति मंथरा को अभीष्ट भी थी। उस समय कैकेयी के अन्तःकरण में अमर्ष और दैन्य के मिले-जुले भावों का उदय हुआ। वार-वार उन्हें अपनी उदारता और सद्व्यवहार का स्मरण आने लगा। वे सोचने लगीं कि जिस राम को उन्होंने अपने पुत्र की तुलना में अधिक स्नेह दिया वही आज षड्यन्त्र करके भरत को वन्दीगृह में डालने की योजना वना रहा है। जिन लोगों के प्रति मैंने कभी सौत के भाव नहीं रक्खे वे ही आज मुझे दासी वनाने का षड्यन्त्र रच रही हैं। उन्हें अपने चारों ओर एक सघन अन्धकार दिखाई देने लगा। उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। ऐसी स्थिति में दीनता के कारण वे केवल यह कल्पना करने लगीं कि अयोध्या को छोड़कर अपना जीवन पितृ-गृह में व्यतीत कर देंगी। वे अयोध्या में रहकर दैन्ययुक्त जीवन विताने की तुलना में मृत्यु को ही श्रेयस्कर समझने लगीं। इस प्रसंग में पग-पग पर मंथरा की कूट-नीतिक वुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। उसकी सवसे वड़ी सफलता यह थी कि वह कैकेयी के अन्तःकरण में उन श्री राम के प्रति संशय उत्पन्न करने में सफल हो गयी जिनके शील और सौजन्य की सराहना शत्रुओं के द्वारा भी की जाती थी। कैकेयी ने तो उन्हें अत्यधिक निकट से देखा था और ऐसा अनुभव किया था कि राम अपनी माता की तुलना में उन्हें अधिक चाहते हैं। इस तरह जाना और परखा हुआ सत्य भी कैकेयी को आज झूठा जान पड़ने लगा। यह मंथरा की कूटनीतिक वुद्धि का चमत्कार था। कैकेयी ने जिसे दीर्घकाल की अनुभूति वताया था उसे मन्थरा ने इतिहास के लम्वे परिप्रेक्ष्य में रखकर झुठला दिया। उसके मस्तिष्क में कथाओं का अद्भुत भण्डार था, राजमहल में होने वाली कथाओं को उसने वड़े ध्यान से सुना था। पुराणों में सौतिया डाह के अगणित उपाख्यान थे जिनसे मंथरा यह सिद्ध करने में सफल रही कि इन हज़ारों अनुभवों की तुलना में उनकी अकेली अनुभूति का कोई मूल्य नहीं है। उसके द्वारा खींचा गया भविष्य का भयावना चित्र इतना जीवन्त प्रतीत होने लगा कि कैकेयी को अब तक घटित होने वाली घटनाएं ही काल्पनिक चित्र के समान प्रतीत होने लगीं। इस तरह वह कैकेयी को वुरी तरह भयभीत कर देने में सफल हो जाती है। अपनी वात को क्रमिक रूप से सामने लाने की कला में वह अद्भुत धैर्य का परिचय देती है। कैकेयी के मन को सवकी ओर से विमुख वना देने के पश्चात् वह उनके अन्तःकरण में ऐसे आतंक की सृष्टि करना चाहती है जिससे कि वे वाध्य होकर रक्षा के लिए मात्र उसी की ओर देखने लगें। यही हुआ भी। अयोध्या के राजमहल में सुख से बैठी हुई कैकेयी मंथरा के सम्मोहन मन्त्र से स्वयं को एक विशाल नदी में डूवती हुई सी अनुभव करने लगीं। और उस अथाह समुद्र में उन्हें मंथरा का दर्शन एक ऐसी रक्षिका के रूप में होने लगा कि जो उसे डूवने से बचा सकती थी। मंथरा का निरन्तर मूढ़बुद्धि, कुरूपा, कुवरी और कुजाति कहकर उपहास करने वाली कैकेयी आज उसके समक्ष गिड़-

गिड़ाने के लिए बाध्य थीं। यह सारा चमत्कार मंथरा की भाषण-कला का था जिसने अपने एक भाषण के द्वारा गुरुजनों द्वारा सुनाए गए न जाने कितने भाषणों का प्रभाव समाप्त कर दिया। अब तो मंथरा कैकेयी के लिए इतनी विश्वस्त बन बैठी कि वे यह स्वीकार कर लेती हैं कि मंथरा के कहने पर मैं कुएं में कूद सकती हूं और पति और पुत्र को भी छोड़ सकती हूं। मानस का अयोध्याकाण्ड भाषणों का भण्डार है। सभी भाषणों में मार्मिकता है, वाणी का चमत्कार है और सत्य का मार्मिक शैली में प्रतिपादन है। किन्तु सरासर मिथ्या होते हुए भी मंथरा का एक भाषण जिस परिणाम की सृष्टि कर देता है वह सर्वथा अनुपम है। अपने चमत्कारिक परिणाम की दृष्टि से उसकी तुलना किसी भी अन्य भाषण से नहीं की जा सकती। गोस्वामी जी ने उसे इस रूप में प्रस्तुत किया है :

भावी बस प्रतीत उर आई।
पूंछि रानि पुनि सपथ देवाई॥
का पूंछहु तुम्ह अबहुं न जाना।
निज हित अनहित पसु पहिचाना॥
भयउ पाखु दिन सजत समाजू।
तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥
खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारें।
सत्य कहें नहिं दोषु हमारे॥
जौं असत्य कछु कहब बनाई।
तौ बिधि देइहि हमहि सजाई॥
रामहि तिलक कालि जौं भयऊ।
तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी।
भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई।
तौ घर रहहु न आन उपाई॥
कद्रूं बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥
कैकय सुता सुनत कटु बानी।
कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी॥
तन पसेउ कदली जिमि काँपी।
कुबरीं दसन जीभ तब चाँपी॥
कहि कहि कोटिक कपट कहानी।
धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी॥
फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली।
बकिहि सराहइ मानि मराली॥

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी।
दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी॥
दिन प्रति देखउँ राति कुसपने।
कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥
काह करौं सखि सूध सुभाऊ।
दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥
अपने चलत न आजु लगि अनभल काहुक कीन्ह।
केहिं अघ एकहि बार मोहि दैअँ दुसअ दुखु दीन्ह॥
नैहर जनमु भरब बरु जाई।
जिअत न करबि सवति सेवकाई॥
अरि बस दैउ जिआवत जाही।
मरनु नीक तेहि जीवन चाही॥
दीन बचन कह बहुबिधि रानी।
सुनि कुबरीं तिय माया ठानी॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना।
सुखु सोहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥
जेंहि राउर अति अनभल ताका।
सोइ पाइहि यहु फलु परिपाका॥
जब ते कुमत सुना मैं स्वामिनि।
भूख न बासर नींद न जामिनि॥
पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन खाँची।
भरत भुआल होंहि यह साँची॥
भामिनि करहु त कहौं उपाऊ।
है तुम्हरीं सेवा बस राऊ॥
परउँ कूप तुअ बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुखु देखि बड़ कस न करब हित लागि॥

किन्तु इतने से ही मंथरा की भूमिका समाप्त नहीं हो जाती है। कैकेयी के समक्ष भविष्य के लिए उसने जो योजना प्रस्तुत की उसमें भी उसकी सूझ-बूझ का परिचय मिलता है। वह चाहती तो कैकेयी को विवाह के समय दिए गए वचन की पूर्ति के लिए आग्रह करने का सुझाव दे सकती थी। पर उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि इस प्रश्न के साथ अनेक जटिलताएं जुड़ी हुई हैं। उसे यह पता था कि कैकेयी अपनी उदारता का प्रदर्शन करती हुई इस अधिकार का स्वेच्छा से परित्याग कर चुकी हैं। ऐसी स्थिति में उस प्रश्न को पुनः उठाने के लिए केकय देश के राजकुल को निमन्त्रित करना होगा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि ऐसी स्थिति में उसकी भूमिका गौण हो जावेगी। वह इस सारे प्रसंग में सारा श्रेय स्वयं लेना चाहती थी। फिर उसे भरत की भूमिका के संबंध में भी संदेह रहा होगा। वह भरत के शील-स्वभाव

और सत्ता के प्रति उनकी उदासीनता से भली भांति परिचित थी। उसके सामने प्रश्न यह था कि क्या भरत इस सत्ता-संघर्ष में भाग लेंगे ? उसकी दृष्टि में इसका उत्तर नकारात्मक था। इसलिए वह ऐसी स्थिति उत्पन्न करना चाहती थी कि भरत के समक्ष राज्य को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प रह ही न जाय। इसके लिए आवश्यक था कि षड्यन्त्र पूर्ण होने से पहले भरत को इस घटनाक्रम का कोई ज्ञान न होने दिया जाय। इसके साथ ही उसे यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि भरत के आगमन के पहले ही राम को अयोध्या से दूर कर दिया जाय जिससे राज्य लेने में श्री भरत को किसी प्रकार का संकोच न हो। साथ ही राम किसी प्रकार पुन: राज्य को प्राप्त करने का प्रयास न कर सकें। इसीलिए वह विवाह में दिए गए वचन के स्थान पर उन वरदानों का स्मरण दिलाती है जिन्हें युद्धक्षेत्र में कैकेयी की वीरता और सूझ-बूझ से प्रभावित होकर महाराज दशरथ ने दिया था। मंथरा कैकेयी के समक्ष यह सुझाव रखती है कि एक वरदान के द्वारा वे भरत के लिए राज्य की याचना करें और दूसरे वरदान से राम को चौदह वर्ष के लिए वन में निष्कासित कर दिया जाय। कैकेयी इस सुझाव से सन्तुष्ट हो जाती हैं किन्तु मंथरा के मन में इतने से ही संतोष नहीं होता। वह महाराज दशरथ के स्वभाव से भली भांति परिचित थी। उसे ज्ञात था कि महाराज के मन में राम के प्रति कितना स्नेह और ममत्व है। उसे भय था कि दूसरे वरदान को स्वीकार कर पाना उनके लिए किसी प्रकार सम्भव न होगा। असत्य का कलंक लेकर भी वे राम को वन जाने का आदेश न देंगे। इसके लिए कोई अन्य उपाय सोचना होगा। इसलिए वह कैकेयी को प्रेरित करती है कि जब तक महाराज दशरथ राम की शपथ न ले लें तब तक उनसे यह दोनों वरदान न मांगें जायं। उसे यह भली भांति ज्ञात था कि एक बार शपथ लेने के पश्चात् महाराज दशरथ वचन की पूर्ति के लिए बाध्य हो जाएंगे :

कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं।
स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं॥
दुइ बरदान भूप सन थाती।
माँगहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहि राजु रामहि बनवासू।
देहु लेहु सब सवति हुलासु॥
भूपति राम सपथ जब करई।
तब माँगेहु जेहिं बचनु न टरई॥
होइ अकाजु आजु निसि बीतें।
बचन मोर प्रिय मानहु जी तें॥
बड़ कुघातु करि पातकिनि कहेसि कोप गृहँ जाहु।
काजु सँवारेहु सजग सबु सहसा जन पतियाहु॥

कैकेयी मंथरा की सूझ-बूझ पर चकित थीं। उन्हें बार-बार यह पश्चात्ताप हो रहा था कि आज तक उन्होंने मंथरा को पहिचानने में कितनी बड़ी भूल की। उन्हें

ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मंथरा के अभाव में मैं केवल शव की भांति हूं जिसमें सारे अंग-प्रत्यंग होते हुए भी चेतना का अभाव होता है। प्राण ही शरीर को सक्रियता की सामर्थ्य देता है। कैकेयी ने मंथरा को दासी के स्थान पर सखी के रूप में देखा और यह आश्वासन दिया कि इस संकल्प की पूर्ति होते ही वे उसे नेत्र की पुतली वना लेंगी। आज मंथरा के प्रति उपहास और अनादर के स्थान पर आदर की प्रगाढ़ भावना का उदय हुआ। यद्यपि इस वार्तालाप में मंथरा के प्रति कैकेयी ने समानता का सम्बोधन दिया पर गोस्वामी जी की दृष्टि में वस्तुस्थिति इससे भिन्न थी। कैकेयी मंथरा की शिष्या वन चुकी थी, और एक श्रद्धालु शिष्य के समान उन्होंने गुरु की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। महाराज दशरथ के लाख प्रयास करने पर भी जब तक उन्होंने राम की शपथ नहीं ले ली तब तक वे वरदान मांगने के लिए प्रस्तुत नहीं होती हैं। कैकेयी की इस दृढ़ता के पीछे मंथरा की ही प्रेरणा थी। गोस्वामी जी ने भी उस प्रसंग में कैकेयी का परिचय एक शिष्या के रूप में दिया जो "कोटि कुटिलमणि" से गुरु दीक्षा ले चुकी थी :

लखहिं न भूप कपट चतुराई।
कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई॥

मंथरा का षड्यन्त्र सफल हुआ। श्री राम को वन जाना पड़ा। अयोध्या में शोक का साम्राज्य फैल गया। महाराज श्री दशरथ की मृत्यु के पश्चात् मंथरा बड़ी उत्सुकता से भरत के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। उसे यह विश्वास था कि उसके इस षड्यन्त्र के लिए कैकेयी तो पुरस्कृत करेंगी ही; भरत भी कृतज्ञ हुए बिना नहीं रहेंगे। भले ही वे राज्य के लिए उत्सुक न रहे हों पर विना किसी प्रयास के उपलब्ध होने वाले राज्य को अस्वीकार कर पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। अव तक चतुर ज्योतिषी की भांति की जाने वाली उसकी भविष्यवाणियां सत्य सिद्ध हुई थीं। पर अन्त में उसकी दशा उस ज्योतिषी की भांति थी जो दूसरों का भविष्य ज्ञान वताने में सफल होने पर भी स्वयं अपने ही भाग्य की रेखा को न पढ़ पाया हो।

भरत के आने का समाचार सुनते ही वह उत्साह में भर उठी और वस्त्र तथा आभूषण से सुसज्जित होकर कैकेयी के राजमहल में आ पहुंची। उस समय तक अयोध्या में घटित होने वाले सारे अनर्थों की सूचना भरत और शत्रुघ्न को प्राप्त हो चुकी थी। यद्यपि यह विचित्र व्यंग्य था कि कैकेयी ने इस सारे प्रसंग को सुनाते हुए मंथरा की भूमिका को अपनी तुलना में गौण वना दिया था। वे किसी भी तरह मंथरा को अधिक श्रेय देने के लिए प्रस्तुत नहीं थीं। यद्यपि इस बीच परिस्थितियों से भयभीत और निराश होकर कैकेयी ने मंथरा को असाधारण सम्मान दे दिया था पर वाद में उनका पुरातन स्वभाव चैतन्य हुआ। परिस्थितियों से वाध्य होकर भले ही उन्होंने एक दासी को उस समय महान् सम्मान दे दिया हो पर अव उनका स्वाभिमानी स्वभाव पुनः लौट आया था। अन्तर केवल इतना ही था कि जहां पहले वह उनकी दृष्टि में उपहास की पात्र थी वहां अब एक दया-पात्र सेविका के

रूप में दिखाई दे रही थी जिसे उसकी सेवा के लिए पुरस्कृत किया जाना चाहिए। इसीलिए वे भरत से यह कहती हैं कि "पुत्र, मैंने सारा काम बना लिया है, बेचारी मंथरा भी इसमें सहायक हुई।"

तात बात मैं सकल सँवारी।
भै सहाय मन्थरा बिचारी॥

इस तरह कुछ दिनों के लिए प्राप्त सम्मान सिंहासन से वह उतार दी गई और उसके दुर्भाग्य के दिन अधिक कठोर रूप में लौट आए थे। तेजस्वी लक्ष्मणानुज शत्रुघ्न कैकेयी से सारा समाचार सुनकर क्रोध में कांप रहे थे पर वे कर ही क्या सकते थे? उसी समय मंथरा को आया हुआ देखकर उनका आवेश उग्र रूप में फूट पड़ा। शोक के वातावरण में मंथरा जिस वेश-भूषा में प्रसन्नता और उत्साह से भरी हुई आई थी, वह दृश्य शत्रुघ्न को असह्य लगा और वे उस पर प्रहार किए विना न रह सके। पर मंथरा का दुर्भाग्य कि वह वोले विना न रह पायी, और उसने ब्रह्मा को उलाहना देने के वहाने भरत-शत्रुघ्न को कृतघ्न सिद्ध करने का प्रयास किया। शत्रुघ्न का क्रोध इससे और भी अधिक बढ़ गया क्योंकि उन्हें आशा थी कि प्रथम प्रहार के वाद ही मंथरा अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा-याचना करेगी। पर अव उन्हें लगा कि यद्यपि सृष्टि के सभी व्यक्ति गुण और अवगुण से मिश्रित होते हैं पर शायद मंथरा इसकी अपवाद है। इसमें तो नख से लेकर शिखा पर्यन्त केवल खोटापन ही भरा हुआ है। शत्रुघ्न आवेश में आकर उसे घसीटने लगे; वह तो श्री भरत की दयालुता थी जिसने इस अवसर पर उसकी रक्षा की :

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई।
बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई।
बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा।
परि मुँह भर महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू।
दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
आह दइअ मैं काह नसावा।
करत नीक फलु अनइस पावा॥
सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी।
लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥
भरत दयानिधि दीन्ह छुड़ाई।
कौसल्या पहिं गे दोउ भाई॥

मंथरा ने जो कुछ किया था उसका अर्थ ही वदल जाता यदि उसके कार्यों के पीछे कैकेयी और भरत के प्रति स्नेह और सद्भाव होता। तब तो यही कहना पड़ता कि उसने चाहे कुछ भी क्यों न किया हो, किन्तु उसके हृदय में केकयी राज-

कुल के प्रति निष्ठा थी। तब यह माना जाता कि वह भरत के प्रति होने वाले अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर रही थी किन्तु तथ्य इसके विपरीत था। वह एक ऐसी नारी पात्र थी जो मन-ही-मन प्रत्येक व्यक्ति से घृणा करती थी। उसे कुरूपता का असह्य बोझ ढोना पड़ रहा था। उसे सारा संसार अपना उपहास करता-सा प्रतीत होता था। वह मन-ही-मन दांत पीसती हुई वह सबसे बदला लेने के लिए व्यग्र थी। यहां तक कि कैकेयी के प्रति भी उसके मन में घृणा और शत्रुता की ही भावना विद्यमान थी। इसीलिए जब कैकेयी को मंथरा सर्वाधिक विश्वस्त प्रतीत होने लगी तब गोस्वामी जी का ध्यान कैकेयी के दुर्भाग्य पर जाता है जिसके वश होकर वे वास्तविक शत्रु को परम सुहृद मान बैठीं। इसमें भी उन्हें देवमाया ही दिखाई देती है जिसके कारण उसमें ऐसी दुर्बुद्धि आई :

गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधर बुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि॥

मंथरा को दूसरों को उत्पीड़ित देखकर आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वह उस राज्य का विरोध करती जिसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को सुखी बनाना था। वह राम-राज्य के निर्माण को कुछ समय के लिए टालने में समर्थ अवश्य हो जाती है पर अन्त में दुःख और निराशा का कठोर दण्ड भी उसे भुगतना पड़ा।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

शूर्पणखा

मात्रा की दृष्टि से अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी वैचारिक दृष्टि से शूर्पणखा का चरित्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रामचरितमानस में नारी जाति के जिन विविध रूपों का परिचय प्राप्त होता है उनमें परस्पर अनेक साम्य हैं। पर शूर्पणखा का चरित्र इनसे सर्वथा भिन्न और अनोखे रूप में सामने आता है। वह लंका के भोग-वादी दर्शन का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है। सीता के विरुद्ध शूर्पणखा के विद्वेष को केवल दो नारी पात्रों के संघर्ष के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। मैथिली यदि अयोध्या और रामराज्य के जीवनदर्शन की दिव्य प्रतिमा है, तो शूर्पणखा रावण और आसुरीदर्शन की भोगवादी मान्यता को अपने जीवन में साकार कर रही है।

आधुनिकतावादी विचारक और अलोचक वहुधा मैथिली के चरित्र में तेजस्विता की न्यूनता की ओर संकेत करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में नारी-स्वातंत्र्य और तेज-स्विता की जो कल्पना है, सीता के चरित्र में उन्हें वह साकार नहीं दिखाई देती है। इन तथाकथित असीम नारी-स्वातंत्र्य के समर्थकों की दृष्टि में शील-सौजन्य जैसे गुण केवल हार्दिक दुर्वलता मात्र प्रतीत होते हैं। निश्चित रूप से ऐसे लोगों के लिए शूर्पणखा का व्यक्तित्व यथार्थवादी और आकर्षक प्रतीत हो सकता है। किन्तु जिस मर्यादित नारी रूप की कल्पना मानस करता है यह उससे सर्वथा भिन्न है। यदि जीवन का उद्देश्य व्यक्तिगत भोगलिप्सा की मनमानी पूर्तिमात्र है तो इसको प्रकट करने के लिए शूर्पणखा से अधिक उपयुक्त माध्यम और कोई हो भी नहीं सकता है। उसका यह जीवन-दर्शन जिन परिस्थितियों में विकसित हुआ था उसकी पृष्ठ-भूमि इस प्रकार है।

शूर्पणखा यद्यपि विश्रवा मुनि की पुत्री है पर उसका सही परिचय जगद्विजेता रावण की वहिन के रूप में ही दिया जा सकता है। इसलिए रामचरितमानस में भी उसका परिचय परम्परावादी पद्धति से नहीं दिया गया। पारम्परिक दृष्टि से नारी का परिचय पुत्री, पत्नी अथवा माता क रूप में दिया जा सकता है। किन्तु शूर्पणखा का परिचय लीक से हटकर रावण की भगिनी के रूप में दिया गया है :

सूपनखा रावन कै बहिनी।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ॥

परम्परा और लीक से हटकर दिया जाने वाला यह परिचय अपने आप में शूर्पणखा की समग्र विचारधारा को ही समाहित किए हुए है। पुत्री, पत्नी और माता के रूप में नारी अनेक मर्यादा और कर्तव्यों से घिरी हुई है। इस दृष्टि से भाई और वहिन का संवंध इस प्रकार की किन्हीं वाध्यताओं से घिरा हुआ नहीं है। एक ही कुल में एक ही माता-पिता के माध्यम से जन्म लेने पर भी भाई-वहिन का संपर्क एक-दूसरे से क्रमशः कम होता जाता है। कन्या विवाहिता होकर दूसरे कुल

में चली जाती है और इसके पश्चात् दोनों के संबंधों में औपचारिकता ही अधिक रह जाती है। वहिन विशेष अवसरों पर बुलाई जाती है और उसे सम्मानित एवं पुरस्कृत किया जाता है। अपनी सीमाओं को जानने के कारण उसे यह भी ज्ञात रहता है कि यह सब कुछ औपचारिक और ऐच्छिक मात्र ही है। उसका अधिकार तो पतिकुल से ही जुड़ा रहता है। वह जहां जन्म लेती है कुछ वर्षों के वाद वहीं पर केवल कुछ समय के लिए अतिथि के रूप में वुलाई जाती है। उसे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि अव उसके भ्रातृकुल में एक अन्य नारी का अधिकार है। इससे इन दो नारियों में परस्पर टकराहट की संभावना वढ़ जाती है किन्तु जो महिलाएं जीवन की वास्तविकता से परिचित हैं वे इनमें संतुलन स्थापित कर लेती हैं। वहिन तो भाई पर विशेष अधिकार की कल्पना का परित्याग करके ही सुखी हो पाती है। भाई भी जीवन की सीमाओं से परिचित होने के नाते वहिन को स्नेह देते हुए भी उस पर किसी अधिकार की कल्पना नहीं करता है। इसीलिए पिता-पुत्री, पति-पत्नी और माता-पुत्र जैसे संवंधों की प्रगाढ़ता भाई-वहन के संवंध में नहीं देखी जाती। पर शूर्पणखा के जीवन में उन तीनों संवंधों के स्थान पर भाई-वहिन के सम्वन्ध की ही मुख्यता है। उसके जीवन-दर्शन के लिए यही स्वाभाविक भी था। जीवन के प्रारम्भ में शूर्पणखा भी परम्परा के अनुकूल विद्युज्जिह्व से व्याही गई थी। यह दैत्य वड़ा ही शक्तिशाली, तेजस्वी और काल के कुल में उत्पन्न हुआ था। पर यह संवंध प्रारंभ में ही विच्छिन्न हो जाता है। विद्युज्जिह्व रावण के अहंकार और महत्त्वाकांक्षा की वेदी पर वलि चढ़ जाता है। दिग्विजय करता हुआ रावण कालकेयों को भी युद्ध में चुनौती देता है। इसमें वह शूर्पणखा के पति विद्युज्जिह्व को भी अपवाद के रूप में नहीं स्वीकार करता। तेजस्वी विद्युज्जिह्व भी अपनी प्राणरक्षा के लिए किसी संवंध की दुहाई न देकर रावण से युद्ध करता हुआ मारा जाता है। विद्युज्जिह्व की मृत्यु से शूर्पणखा अत्यन्त क्षुब्ध और क्रुद्ध होती है और वह वड़े ही व्याकुलता और आक्रोश भरे स्वर में रावण को उलाहना देती है। रावण भी अपने अविचारपूर्ण कार्य के लिए स्वयं को लज्जित अनुभव करता है और इसके लिए अनुताप प्रकट करता हुआ उसे सान्त्वना देता है। इस तरह अव तक जो हुआ था उसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। सव कुछ परंपरा के अनुकूल था। पर इसके पश्चात् शूर्पणखा का जीवन साधारण परंपरा से हटकर भिन्न दिशा में मुड़ जाता है। उसके समक्ष दो विकल्प खुले हुए थे। एक तो यह कि वह सारे जीवन को पति की व्याकुल स्मृति में विता देती। दूसरा यह कि वह पुनर्विवाह के द्वारा नवीन जीवन का वरण करती। किन्तु शूर्पणखा ने इन दोनों के स्थान पर इनसे सर्वथा भिन्न तीसरे ही प्रकार का जीवन स्वीकार किया। विद्युज्जिह्व को लेकर उसका दुख अत्यन्त क्षणिक सिद्ध हुआ और उसने वहुत शीघ्र उसे भुला दिया। पर साथ ही उसके मन से पुनर्विवाह की इच्छा भी समाप्त हो चुकी थी। उसे इस संवंध में वाध्यता और परतंत्रता का भय सताने लगा था। अव उसे उन्मुक्त जीवन ही प्रिय लगने लगा था। रावण ने भी उसे संतुष्ट करने के लिए पूरी तरह स्वतंत्रता प्रदान

कर दी थी। उसे यथेच्छाचार की सुविधा प्रदान करने के लिए ही लंका में रहने की बाध्यता से मुक्त कर दिया गया। लंका की सीमा से दूर दण्डकारण्य में वह आनन्द-पूर्वक विहार करने लगी। शूर्पणखा से रावण ने दण्डकारण्य में 'खर' राक्षस के निकट रहने का अनुरोध किया। शूर्पणखा का यह मौसेरा भाई सर्वदा उसकी आज्ञा का पालन करता था। शूर्पणखा ने जिस जीवन में प्रवेश किया वह उसकी आन्तरिक रुचि के अनुकूल था। इस तरह उन्मुक्त जीवन व्यतीत करने वाली शूर्पणखा बहुत दिनों तक दण्डकारण्य पर मनमाना शासन चलाती रही। किन्तु अचानक ही उसमें एक विरोध उपस्थित हुआ।

दण्डकारण्य में राघवेन्द्र अपनी प्रिय सीता और अपने अनन्यानुरागी अनुज लक्ष्मण के साथ निवास करने के लिए पधारे। रामभद्र की यह यात्रा सोद्देश्य थी। वे दण्डकारण्य की भूमि को राक्षसों के अभिशाप से मुक्त करना चाहते थे। इसी-लिए चित्रकूट की रम्य वनस्थली को छोड़कर उन्होंने दण्डकारण्य के सघन वन को अपने निवास-स्थान के लिए चुना था। श्री राघव के समक्ष यह प्रश्न था कि राक्षसों को दी जाने वाली चुनौती का क्या स्वरूप होना चाहिए। अचानक शूर्प-णखा के द्वारा युद्ध की वह भूमिका बनी, जो बाद में सारी निशाचर जाति के विनाश का कारण सिद्ध हुई। दण्डकारण्य में विचरण करती हुई शूर्पणखा ने इन दोनों सुन्दर राजकुमारों को देखा और वह उनके सौन्दर्य पर आसक्त होकर प्रणय-निवेदन के लिए आई। यद्यपि वह दोनों भाइयों के सौंदर्य की ओर समान रूप से आकृष्ट हुई थी पर उसने सबसे पहले प्रणय-निवेदन के लिए राम का ही चुनाव किया। इस चुनाव में भी शूर्पणखा के स्वभाव का आभास प्राप्त होता है। उसे यह ज्ञात हो चुका था कि राघव के साथ उनकी परिणीता पत्नी सीता भी हैं। वह उनके नाम से भले ही परिचित न रही हो पर मैथिली और रामभद्र का अनु-राग उसके सामने था। इसलिए यह अधिक स्वाभाविक और औचित्यपूर्ण होता कि वह एकाकी दिखाई देने वाले लक्ष्मण को अपने प्रणय-निवेदन के लिए चुनती पर औचित्य का यह मार्ग शूर्पणखा को प्रिय नहीं था। क्योंकि वह राम के सौंदर्य को तो अपना उपभोग्य बनाना चाहती ही थी साथ ही इस सुन्दरी राजकुमारी के पति पर अधिकार कर अपने अहं को भी तृप्त करना चाहती थी। सरलता से उपलब्ध वस्तु के स्थान पर अपनी अभीप्सित वस्तु को छीन कर लेने में उसकी हिंस्र वृत्ति को अधिक सन्तोष प्राप्त होता। इसीलिए वह लक्ष्मण के स्थान पर मैथिली के प्राणेश्वर को ही वरीयता प्रदान करती है। रूप-परिवर्तन और वेश-विन्यास की कला में शूर्पणखा अत्यन्त कुशल थी। श्री राम के समक्ष जाने से पहले वह अपनी इस कला का पूरा उपयोग करती है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि मैथिली के सौंदर्य को देखकर वह हीन भावना से ग्रस्त हो चुकी थी। इसीलिए वह राघव के समक्ष आने से पहले अपने को विशेष रूप से सुसज्जित करने का प्रयास करती है। परम सुन्दरी रमणी के रूप में राम के समक्ष वह प्रणय-निवेदन करती हुई विवाह का प्रस्ताव करती है। किन्तु इस निवेदन की शैली में भी उसकी अपनी

प्रकृति का पूरा परिचय प्राप्त होता है। मानस की पंक्तियों में इसे इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :

सूपनखा रावन कै बहिनी।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥
पंचवटी सो गइ एक बारा।
देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥
× × ×
रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई।
बोली बचन बहुत मुसुकाई॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी।
यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं।
देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी।
मनु माना कछु तुम्हहिं निहारी॥

वार्तालाप का प्रारंभ होता है शूर्पणखा के होंठों पर दिखाई देने वाली हंसी से। अपने व्यक्तित्व और सौंदर्य को आकर्षक सिद्ध करने के लिए वह हंसी का आश्रय लेती है। इससे उसकी अभिनय-कुशलता पर भी प्रकाश पड़ता है। साधारणतया नारी की ओर से प्रणय-निवेदन उतना उपयुक्त नहीं माना जाता है। यह नारी की लज्जाशीलता के भी विरुद्ध है। शूर्पणखा में सलज्जता का कोई चिह्न नहीं है। फिर भी वह प्रणय-निवेदन के इस अनौचित्य से परिचित थी। अतः वार्तालाप करते हुए वह इस दिशा में सजग थी कि उसके किसी वाक्य में हीनता अथवा दैन्य की झलक न दिखाई दे जाय, इस तरह वह विचित्र विरोधी भावनाओं से पीड़ित थी। एक ओर वह आकांक्षा की पूर्ति के लिए व्यग्र थी तो दूसरी ओर उसका स्वाभिमान आड़े आ रहा था। इन दोनों में सन्तुलन स्थापित करने के लिए ही वह राम के सौन्दर्य के साथ-साथ अपनी सुन्दरता की सराहना करना नहीं भूलती है। इसलिए वह कहती है कि "न तो तुम्हारे समान कोई पुरुष है और न मेरी ही तुलना किसी अन्य नारी से की जा सकती है।" फिर अपने प्रस्ताव को अलौकिकता पुट देने के लिए ब्रह्मा के नाम का उपयोग करती हुई कहती है, "लगता है ब्रह्मा ने ही हम दोनों के मिलन के संकल्प को लेकर निर्माण किया है।" वस्तुतः वासनापूर्ति के लिए प्रयत्नशील उसका आवेग क्षणिक आवेश से ही प्रेरित था। पर इसे छिपाने के लिए वह अपनी कवित्व शक्ति का उपयोग करती है। वह राघव पर यह प्रभाव डालने का प्रयास करती है कि उसके प्रस्ताव को क्षणिक वासना के रूप में न देखा जाय। इसके पीछे मन का आकर्षण मात्र ही नहीं है। इस सारी घटना के पीछे तो विचारशील सृष्टि-रचयिता का महान् संकल्प ही कार्य कर रहा है। "मैं अपने इस प्रस्ताव के द्वारा उनके महान् संकल्प

को साकार करने का ही प्रयास कर रही हूं।" इस प्रकार प्रणय-निवेदन करते हुए भी उसका अहंकार इतना अधिक जागरूक था कि उसने अपने संस्मरण के द्वारा राम की तुलना में अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयास किया। जहां प्रणय-निवेदन के प्रथम वाक्य में वह रामभद्र को अपनी बराबरी का पद देती है वहीं अन्तिम वाक्य में वह उन्हें अपनी तुलना में हीन सिद्ध करने में संकोच का अनुभव नहीं करती। उसके अन्तिम वाक्य थे—"अपनी योग्यता के अनुरूप पति प्राप्त न होने के कारण ही आज तक मैंने विवाह नहीं किया। इस प्रयास में सारे त्रैलोक्य को ढूंढ़ लेने पर भी मुझे असफलता ही मिली। पर अब तुम्हें देखकर मेरे मन में कुछ-कुछ सन्तोष की अनुभूति हो रही है।"

वस्तुतः प्रीति सर्वस्व-समर्पण की वृत्ति है। वह कोई स्वार्थ भरा व्यापार नहीं है जहां व्यक्ति निरन्तर लाभ की भावना से ही प्रेरित होता है। लाभ-हानि की भावना से प्रेरित सम्बन्ध टिकाऊ नहीं हो सकते क्योंकि वहां व्यक्ति कम से कम देकर अधिक से अधिक पाना चाहता है। या यों कहें कि उसे अपना काम ही अधिक दिखाई देता है और दूसरों के द्वारा अधिक दिये जाने में भी उसे न्यूनता की अनुभूति होती है। अतः ऐसे सम्बन्धों में दोनों का एक दूसरे से असन्तुष्ट रहना स्वाभाविक ही है। पर जहां प्रीति के पीछे समर्पण की भावना होती है वहां लाभ-हानि के लेखे-जोखे का कोई प्रश्न ही नहीं होता है। वासना अपनी क्षुधा को मिटाने का प्रयास है। प्रीति दूसरे को खिलाकर सन्तुष्ट होने की प्रवृत्ति से प्रेरित है। इसलिए वहां अधिकार और असन्तोष की प्रेरणा का अभाव होता है। शूर्पणखा में प्रीति का पूरी तरह अभाव है। वह अपने मन और अहं को तृप्त करना चाहती है। मन की तृप्ति के लिए वह राम के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखती है और अहं को तृप्त करने के लिए वह अपनी तुलना में उन्हें हीन सिद्ध करने की चेष्टा करती है। रामभद्र के द्वारा इस प्रस्ताव का अस्वीकार कर दिया जाना उनके स्वभाव, चरित्र और मर्यादा के अनुरूप ही था। यहां पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उनकी अस्वीकृति और उसके साथ कहे जाने वाले वाक्य उपयुक्त माने जा सकते हैं? कुछ आलोचकों को इन दोनों कार्यों में राम के ही व्यवहार का अनौचित्य दिखाई देता है। कुछ की धारणा तो यह है कि राम के द्वारा इस प्रकार का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाना चाहिए था। उनकी दृष्टि में इस विवाह से दो राष्ट्रों और दो संस्कृतियों के मिलन का महान् कार्य सम्पन्न हो सकता था। वस्तुतः केवल विवाह के माध्यम से संस्कृति और देश के मिलन की कल्पना करने वाले विश्व-इतिहास को अनदेखा करके ही ऐसा कह सकते हैं। स्वार्थ और वासना के आधार पर किये जाने वाले विवाह में संस्कृति और देश का मिलन तो दूर स्वयं उन दोनों का मिलन भी सही अर्थों में नहीं हो पाता है। अपने स्वार्थ के कारण निरन्तर उनमें टकराहट होती रहती है। अतः शूर्पणखा से विवाह के माध्यम ने मिलन की यह कल्पना न केवल हास्यास्पद अपितु मूर्खतापूर्ण भी है। यों तो शूर्पणखा के चरित्र को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विवाह प्रस्ताव भी वास्त-

विक नहीं था। उसके लिए यह वासना की पूर्ति का क्षणिक प्रयास मात्र था। उसकी इस मनोवृत्ति को 'देखि विकल भे जुगुल कुमारा' में ही स्पष्ट कर दिया गया है। एक साथ दो राजकुमारों के सौंदर्य के प्रति उसकी आसक्ति किसी निष्ठा अथवा मर्यादा से प्रेरित हो भी कैसे सकती है? विवाह प्रस्ताव तो एक छद्म आवरण मात्र था। इसीलिए किसी विवेकी व्यक्ति के द्वारा तो उसकी स्वीकृति का प्रश्न ही नहीं उठता है। पर यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है कि इस प्रस्ताव को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देने के स्थान पर यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि मेरा छोटा भाई कुमार है :

सीतहिं चितइ कही प्रभु वाता।
अहइ कुआँर मोर लघु भ्राता॥

इस प्रश्न को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। शूर्पणखा के परिणय-प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए श्री राम उसकी वास्तविकता को भी प्रकट कर देना आवश्यक मानते हैं। क्योंकि वे अपने व्यक्तित्व और चरित्र के द्वारा समाज के समक्ष चरित्र का एक मापदण्ड भी उपस्थित करते हैं। शूर्पणखा भी उनकी दृष्टि में केवल एक नारी पात्र ही नहीं है। वह ऐसे भोगवादी जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है जो रूप वदलने की कला में अत्यन्त निपुण होता है। उसके इस छद्म वेश के द्वारा अनगिनत व्यक्ति छले जाते हैं। शूर्पणखा का यह छद्म रूप कैसा है इसे प्रकट करने के लिए ही राघवेन्द्र को वार्तालाप की इस शैली का आश्रय लेना पड़ता है। उसकी शाब्दिक छलना क्षण भर में ही खुलकर सामने आ जाती है। वह स्वयं स्वीकार कर चुकी है कि सारे ब्रह्माण्ड में राम ही एक मात्र ऐसे पुरुष हैं जिनकी ओर वह आकृष्ट हुई है। अतः राम के द्वारा यह सुन लेनेपर कि 'मेरा छोटा भाई कुमार है,' उसे अपने वाक्यों पर दृढ़ रहना चाहिए था। पर वह अपने छद्म आवरण का थोड़ा भी निर्वाह करने में सफल नहीं हो पाती है। लक्ष्मण को कुमार सुनते ही क्षण भर में ही उनके पास जाकर खड़े हो जाना पूर्व वाक्यों की तुलना में इतनी वड़ी असंगति थी कि साधारण वुद्धिमान व्यक्ति के लिए भी उसे समझ लेना कठिन नहीं था। पर वुद्धिमती शूर्पणखा के द्वारा इस प्रकार के व्यवहार से ही यह सिद्ध हो जाता है कि उससे वासना की क्षुधा कितनी प्रवल थी। साधारणतया भोजन करते हुए भी व्यक्ति कहां और क्या का ध्यान रखता है। पर भूख की तीव्रता में वह अपनी सारी विवेक-वुद्धि को गवां वैठता है। और तव उसका उद्देश्य कहीं भी किसी भी वस्तु से अपनी भूख को मिटाना मात्र रह जाता है। शूर्पणखा की स्थिति ठीक इसी प्रकार की थी। तात्कालिक वासना की पूर्ति ही उसका उद्देश्य था। इसीलिए राम का वाक्य सुनते ही वह घोर निर्लज्ज की भांति लक्ष्मण के सामने जा खड़ी होती है। इससे दो वातें और स्पष्ट हो जाती हैं कि वासना प्रवण व्यक्ति में आन्तरिक स्वाभिमान रह ही नहीं सकता। वह अपने आन्तरिक दैन्य को शाब्दिक दम्भ के आवरण में छिपाने की चेष्ट मात्र ही करता है। एक ओर सच्चा प्रेमी स्वाभिमान रहित दिखाई देता है। पर अभिमान का प्रदर्शन न करता हुआ भी

सच्चे स्वाभिमान का अधिकारी है। देकर भी दाता के अहंकार को स्वीकार न करना उसका सच्चा बड़प्पन है। दूसरी ओर वासनाग्रस्त व्यक्ति भीतर से पूरी तरह खोखला होता हुआ भी लोकदृष्टि में अपने को बड़ा दिखाने की चेष्टा करता है। पर वास्तविकता का प्रहार होते ही उसकी कलई खुलते देर नहीं लगती।

शूर्पणखा जिस प्रकार राम का वाक्य सुनते ही तत्काल उनके सामने से हट जाती है उससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह मैथिली के सौंदर्य के समक्ष प्रारम्भ से ही अपने को पराजित अनुभव कर रही थी। स्वयं को विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित करते हुए भी वह मन ही मन इस दावे के खोखलेपन से परिचित थी। रामभद्र ने शूर्पणखा को उत्तर देते समय भी शूर्पणखा की ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखा था। उस समय भी उनकी आंखे मैथिली में ही आवद्ध थीं। इसलिए शूर्पणखा राम को पाने की आशा छोड़ वैठती है। पर उसे यह विश्वास अवश्य था कि उसके प्रस्ताव को कुमार लक्ष्मण अवश्य स्वीकार कर लेंगे। 'अहइ कुआंर मोर लघु भ्राता' से भी उसे वल मिला था। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि राम भले ही सीता के कारण उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर रहे हों पर उन्हें लक्ष्मण से मेरे परिणय में कोई आपत्ति नहीं है। वस्तुत: उसने राम के वाक्य को प्रस्ताव के रूप मेंदेखा जव कि यह श्री राम का व्यंग्यात्मक परिहास था। शूर्पणखा के इतिहास से परिचित होने के नाते वे यह भली भांति जानते थे कि वह विधवा होते हुए भी अपना परिचय कुमारी के रूप में दे रही है। लक्ष्मण को कुमार कहकर केवल उसके कुमारीत्व पर व्यंग्य ही किया था। उनका तात्पर्य यह था कि यदि लंका और तुम्हारी भाषा में कौमार्य की यही परिभाषा है तो लक्ष्मण के कुमार होने में कोई संदेह नहीं है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वह परिहास और व्यंग्य की कला में निपुण नहीं थी; या यह भी हो सकता है कि वासना के उतावलेपन में उसकी बुद्धि इतनी अधिक भ्रान्त हो चुकी थी कि वह इस सीधे से परिहास को भी समझने में समर्थ नहीं हुई। या यह भी सम्भव है कि आज तक किसी ने उससे परिहास करने का साहस ही नहीं किया था। शूर्पणखा यह कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि कोई ऐसा दुस्साहसी व्यक्ति हो सकता है जो जगद्विजेता रावण की भगिनी से परिहास कर सके। इसलिए वह लक्ष्मण का कुमार के रूप में परिचय पाते ही उनके समक्ष पहुंच जाती है। निश्चित रूप से शूर्पणखा ने लक्ष्मण के समक्ष जाकर यह कहा होगा कि "तुम्हारे भाई के अनुरोध पर मैं तुम्हारे समक्ष आई हुई हूं। और उन्होंने मुझसे यह कहा कि तुम कुमार हो, तुम मुझसे विवाह कर अपने जीवन को सार्थक वनाओ।" निश्चित रूप से लक्ष्मण प्रभु की इस परिहास-प्रियता पर मन ही मन मुस्कराए होंगे। जहां तक स्वत: उनके स्वभाव का सम्वन्ध था व्यंग्य और परिहास की कला में निपुण होने पर भी वे नारी जाति के प्रति अत्यन्त सलज्ज थे। यह उसके जीवन में प्रथम अवसर था जब उन्होंने अपने स्वभाव से हटकर प्रभु की प्रसन्नता के लिए एक नारी के प्रति किए गए उनके परिहास का विस्तार कर दिया। वे संकेत से भी यह प्रकट नहीं होने देते हैं कि मैं

विवाहित हूं। अपितु प्रारम्भ में ही शूर्पणखा को सुन्दरी के रूप में सम्बोधित कर क्षण भर के लिए उसके मन में आशा का संचार कर देते हैं। पर लक्ष्मण के अगले वाक्यों को सुनकर शूर्पणखा अत्यन्त हतोत्साहित हो जाती है। क्योंकि उन्होंने यह कहा था कि "सुन्दरी मैं तो उनका सेवक हूं। स्वयं पराधीन होने के नाते तुम्हें उपयुक्त सुख-सुविधा दे पाना मेरे लिए सम्भव न होगा। हां, मेरे प्रभु समर्थ और अयोध्या के राजा हैं। इसलिए वे जो कुछ भी करें उनमें उनकी शोभा ही है :"

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी।
प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी॥
सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।
पराधीन नहिं तोर सुपासा॥
प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा।
जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा॥

लक्ष्मण के वाक्यों में व्यंग्य की जो तीक्ष्णता थी उसे समझ पाना शूर्पणखा के लिए सम्भव नहीं था। उनका प्रत्येक वाक्य 'अरथ अमित अरु आखर थोरे' का प्रत्यक्ष दृष्टांत है। शूर्पणखा ने यह कहा था कि तुम कुमार हो। पर वे इसके वदले में अपना परिचय एक सेवक के रूप में देते हैं। इससे उनका तात्पर्य जहां यह वताना था कि "सम्भवतः तुमने मुझे रामानुज समझकर एक राजकुमार के रूप में देखा है जवकि वास्तविकता यह है कि मैं उनका सेवक मात्र हूं। पर इसके साथ ही साथ उनका व्यंग्य यह भी था कि वस्तुतः तुम्हें पति नहीं सेवक की ही आवश्यकता है जो निरंतर तुम्हारी आशा और आकांक्षाओं की पूर्ति करता हुआ तुम्हारे आदेश का पालन कर सके। इसलिए कुमार अथवा विवाहित होने का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। दुर्भाग्यवश तुम्हें जिस प्रकार के सेवक की आवश्यकता है उसकी पूर्ति मैं न कर सकूंगा। मेरी संगिनी वनकर तो तुम्हें दुहरी परतंत्रता में जीना होगा। फिर इस वनवासी जीवन में पराधीनता के पश्चात् भी तुम्हें दुःख और असुविधा की ही उपलब्धि होगी। ऐसी स्थिति में क्या तुम्हारे लिए यह उपयुक्त नहीं होगा कि तुम अयोध्यानरेश का ही पति रूप में वरण करो? राजा होने के नाते तुम्हें स्वीकार कर लेने में उनके समक्ष कोई अनौचित्य नहीं होगा। वे जो भी करेंगे उसमें उनकी सराहना ही होगी। तुम भी अयोध्या की राजमहिषी बनकर सुख और स्वातंत्र्य का उपभोग करोगी।" शूर्पणखा के स्थान पर कोई दूसरी नारी होती तो वह क्या उत्तर देती? सम्भवतः भावुकता के स्वर में वह यह कहती है कि "मैंने तो आपका समग्र मन से वरण कर लिया है और आप जिस परिस्थिति में भी रहेंगे मैं आपका साथ दूंगी।" ऐसी स्थिति में इसे छोड़कर किसी भिन्न उत्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। पर शूर्पणखा के व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने भावुकता को कहीं अपने पास भी नहीं फटकने दिया था। वह तो एक ऐसे व्यापारी के रूप में सामने आती है जिसे व्यापार में किसी मोल-तोल को करने में संकोच का अनुभव नहीं होता है। या वह उस उग्र स्वभाव वाले ग्राहक के समान है जो

वस्तु की तोल में कमी की कल्पना से ही क्षुब्ध होकर तत्काल दूसरी दुकान में चला जाता है। लक्ष्मण की बातें शूर्पणखा को अत्यन्त उपयुक्त और यथार्थ प्रतीत हुईं। उसे सचमुच यह लगने लगा कि इस विवाह के द्वारा वह कितनी बड़ी भूल करने जा रही थी। उसने अपने जीवन में निरन्तरपूर्ण स्वातन्त्र्य का उपयोग किया था। उसकी आज्ञाओं का सर्वदा पालन किया गया था। यह सोचकर ही वह क्षुब्ध हो उठी कि लक्ष्मण से विवाह होते ही वह सेविका बनकर उस राजकुमारी की सेवा में रहने को बाध्य हो जाती जो वस्तुतः उसकी मुख्य प्रतिद्वन्द्विनी है। यह स्थिति उसके लिए असह्य थी और उसे लगा कि क्यों न मैं लक्ष्मण की बात मानकर राम का ही वरण करूं और अपने कौशल के द्वारा उस सुन्दरी राजकुमारी को पराजित कर राम पर अधिकार करने में सफल हो जाऊं। वह इस उपयुक्त सलाह के लिए लक्ष्मण को धन्यवाद देना भी आवश्यक नहीं मानती। वह तत्काल पुनः रामभद्र के सामने आ पहुंचती है। इस तरह जहां वह राम का वाक्य सुनते ही तत्काल अपने द्वारा कहे गये वाक्यों को भुलाकर लक्ष्मण के पास पहुंच जाती है, वहां लक्ष्मण की बात सुनकर पुनः राम के पास लौट आने में उसे किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं होता है। स्वार्थपरता का ऐसा नग्न और विकृत रूप सारे रामचरित-मानस में किसी अन्य पात्र में नहीं दिखाई देता है। साधारणतया स्वार्थी से स्वार्थी व्यक्ति भी अपनी स्वार्थपरता को दूसरों की दृष्टि से छिपाने की चेष्टा करता है। व्यक्ति अपने द्वारा किये गए वमन को दूसरों की दृष्टि से छिपाने की चेष्टा करे यही स्वाभाविक है। ऐसे बीभत्स व्यक्ति की तो कल्पना करना भी कठिन है जो अपने ही वमन को पुनः उठाकर खाने की चेष्टा करे। पर शूर्पणखा इसी बीभत्सता की प्रतीक है। उसके चरित्र में ऐसा कुछ भी नहीं है कि जो उसके प्रति रंचमात्र सहानुभूति की सृष्टि कर सके। पर बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। वह राम के पास जाती है और उनके कहने पर पुनः लक्ष्मण के पास लौट जाती है। अदम्य वासना और आकांक्षा का ऐसा विकृत रूप शायद ही कहीं देखने को मिले। रामभद्र ने उससे क्या कहा होगा इसकी कल्पना ही की जा सकती है। क्योंकि रामचरित-मानस में केवल इतना ही कहा गया है कि 'प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई'। संभवतः उन्होंने शूर्पणखा को यह समझाने की चेष्टा की होगी कि "लक्ष्मण ने अपनी विनम्रता के कारण ही स्वयं का परिचय दास के रूप में दिया है। वस्तुतः तो वह अयोध्या का यशस्वी राजकुमार है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है मैं अयोध्या के राज्य से वंचित कर दिया गया हूं अतः मेरे साथ विवाह करने पर राजसी सुख सौभाग्य का तो प्रश्न ही नहीं है। हां, सीता के सापत्न्य का दुःख तुम्हें अवश्य भोगना होगा। पर लक्ष्मण से विवाह होने पर तुम उसके हृदय पर शासन करती हुई अकेले ईर्ष्यारहित सुख को प्राप्त करोगी। जगद्विजेता रावण की बहिन होने के नाते तुम्हें किसी समृद्धि की आवश्यकता तो है नहीं। अतः आशा है कि लक्ष्मण से विवाह के पश्चात् वह पूरी तरह तुम्हारा आज्ञानुवर्ती ही होगा।" श्री राम के इन व्यंग्यात्मक तर्कों से शूर्पणखा तत्काल प्रभावित हो जाती है और पुनः लक्ष्मण

के पास आने में उसे किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं होता है। लक्ष्मण शूर्पणखा की निर्लज्जता से चकित रह जाते हैं क्योंकि आज तक उन्होंने ऐसी विकृत और निर्लज्ज नारी को देखा नहीं था। अब उन्हें उससे वार्तालाप असह्य प्रतीत होता है अतः उन्होंने क्षुब्ध होकर स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि "तुमसे विवाह वही कर सकता है जो तृण तोड़कर लज्जा का परित्याग कर चुका हो :"

लछिमन कहा तोहि सो बरई।
जो तृन तोरि लाज परिहरई॥

लक्ष्मण को लगा कि शूर्पणखा की निर्लज्जता को देखकर सम्भवतः निर्लज्जता को भी लज्जा आ जाएगी। लज्जा एक नारी के लिए अवगुण्ठन के समान है जिससे उसकी शालीनता सुरक्षित रहती है। सुन्दरी नारी स्वयं को वस्त्र से आवृत्त रखे यही स्वाभाविक है; पर यदि वही वस्त्र उतार कर फेंक दे तब किसी भी सभ्य व्यक्ति के लिए यही उपयुक्त है कि वह लज्जा से अपनी आंखों को ढक ले। लक्ष्मण का तात्पर्य यह था कि "तुम्हारी निर्लज्जता देखकर मुझे स्वयं लज्जा आ रही है। तुम्हारे लिए तो ऐसा ही व्यक्ति उपयुक्त हो सकता है कि जो तुम्हारे ही समान निर्लज्ज हो।" लक्ष्मण का तात्पर्य यह था कि जब व्यक्ति की दृष्टि में लज्जा वस्त्र की भांति होती है तब उसे अलग करते हुए भी वह उसकी उपयोगिता और मूल्य से परिचित होता है। पर तुम्हें देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारी दृष्टि में लज्जा वस्त्र न होकर तिनके के समान निरर्थक और मूल्यरहित वस्तु है। इसलिए तुम्हें वरण करने वाला व्यक्ति भी इसी प्रकार का होना चाहिये जिसकी दृष्टि में लज्जा का कोई मूल्य न हो। अब कहीं जाकर शूर्पणखा को वस्तुस्थिति का पता चला। अब उसे यह साफ-साफ दिखाई देने लगा कि वस्तुतः यह दोनों भाई मेरी हंसी उड़ा रहे थे। और तब उसके क्रोध की कोई सीमा न रही। उसके सारे नकली आवरण खुल चुके थे। तब वह स्वयं भी सौंदर्य के मिथ्या आवरण को फेंककर अपने भयानक रूप में राम के समक्ष चली जाती है। लक्ष्मण की तुलना में उसका सारा क्रोध राम पर ही अधिक था। क्योंकि उसे यह लगा कि इस परिहास का प्रारम्भ राम की ओर से ही हुआ। इतना ही नहीं, एक बार लौटकर जाने के पश्चात् भी मुझे पुनः लक्ष्मण के पास भेजकर अपमानित कराने का अपराध भी राम ने ही किया है। लक्ष्मण के स्पष्ट भाषण से उसे ऐसा लगा कि कम से कम इस राजकुमार ने मुझे अधिक देर तक भ्रांति में नहीं रखा। साथ ही उसका ध्यान इस बात की ओर भी गया कि पहली बार भी लक्ष्मण ने उत्तर देने से पहले राम की ओर देखा था। इसका तात्पर्य यह है कि यदि उस समय लक्ष्मण ने परिहास किया भी था तो वह राम के संकेत पर था। इस तरह उसका सारा क्रोध राम की ओर ही उमड़ पड़ा। ऐसी स्थिति में यदि शूर्पणखा ने राघव पर आक्रमण करने का प्रयास किया होता तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता था। किन्तु यहां पुनः शूर्पणखा के स्वभाव की विचित्रता सामने आ गई। उसका सारा आक्रोश राम-लक्ष्मण की तुलना में भी मैथिली पर ही उमड़ पड़ा यद्यपि इस पूरे प्रसंग में मिथि-

लेशनन्दिनी पूरी तरह मौन थीं। फिर शूर्पणखा के इस आक्रोश का तात्पर्य क्या था? वस्तुतः शूर्पणखा को अपनी समस्त उपेक्षा के पीछे सीता ही कारण के रूप में दिखाई देती हैं। उसे लगा कि यदि यह राजकुमारी न होती तो इस प्रकार कभी भी राम के द्वारा उसकी उपेक्षा न की जाती। और तव वह राम और लक्ष्मण को छोड़कर सीता को ही विनष्ट करने के लिए व्यग्र हो जाती है। सत्य तो यह है कि अव भी उसने राम पर अधिकार पा लेने की आशा नहीं छोड़ी थी। उसे यह विश्वास था कि मैथिली की मृत्यु होते ही यह राजकुमार मुझसे प्रेम करने के लिए वाध्य हो जाएगा। इससे शूर्पणखा की विचारशैली का सही परिचय प्राप्त होता है। शूर्पणखा की दृष्टि में त्याग, प्रेम, समर्पण आदि जैसे उदात्त भावों का कोई अर्थ नहीं है। वस्तुतः उसकी वृत्ति पूरी तरह पाशविक है। पशुओं में भी वासना पूर्ति की आकांक्षा होती है और वे अपनी अभीष्ट वस्तु पर अधिकार पाने के लिए मुख्यतः अपने वल का आश्रय लेते हैं। प्रतिद्वन्द्वी पराजित होकर दूर चला जाता है और विजेता उसकी प्रिया पर अधिकार पा लेता है। उनसे किसी अनन्यता या निष्ठा की आशा नहीं की जा सकती। शूर्पणखा की मनःस्थिति भी इसी प्रकार की है। उसने स्वयं भी अपने पति को भुलाकर स्वेच्छाचारिता का जीवन स्वीकार लिया है। वह यह कल्पना भी नहीं कर सकती है कि मैथिली और राघव का स्नेह किसी उदात्त भावना और एकान्तनिष्ठा पर आधारित है। उसे तो इतना ही दिखाई देता है कि सीता के प्रति राम की आसक्ति है, और उसे मिटाने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। पर वाल्मीकि शूर्पणखा की भावना को वाणी देते हैं। वह सीता पर आक्रमण करने से पहले स्पष्ट शव्दों में कहती है :

> इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
> वृद्धां भार्यामवष्टभ्य न मां त्वं बहु मन्यसे।
> अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्।
> त्वया सह चरिष्यामि निः सपत्ना यथा सुखम्॥
> इत्युक्त्वा मृगशावाक्षी मलात सदृशेक्षणा।
> अभ्यगच्छत् सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव॥

राम, तुम इस कुरूप, ओछी, विकृत धंसे हुए पेट वाली वृद्धा का आश्रय लेकर मेरा विशेष आदर नहीं करते हो! अतः आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इस मानुषी को खा जाऊंगी। और इस सौत के न रहने पर तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचरण करूंगी। ऐसा कहकर दहकते हुए अंगारों के समान नेत्रों वाली शूर्पणखा अत्यन्त क्रोध में भरकर मृगनयनी सीता की ओर झपटी। मानो कोई वड़ी भारी उल्का रोहिणी नामक तारे पर टूट पड़ी।

आक्रमण के लिए प्रस्तुत शूर्पणखा को देखकर मैथिली भयभीत हो गईं। प्रभु के द्वारा तत्काल लक्ष्मण को शूर्पणखा को दण्ड देने का संकेत किया गया और रामानुज के द्वारा उस आज्ञा का पालन किया गया। नासिका और कान के उच्छेद के द्वारा उसे विरूप वना दिया गया। कुछ लोगों को इस दण्ड में अनौचित्य की

अनुभूति होती है। पर मुझे तो ऐसा लगता है कि सर्वाधिक कठोर अपराध के लिए यह न्यूनतम दण्ड था। जहां तक छेड़खानी का प्रश्न है कुछ लोग इसके लिए भी राम-लक्ष्मण को दोषी ठहराने की चेष्टा करते हैं। पर यह भी सत्य से कोसों दूर है। छेड़खानी का श्रीगणेश भी शूर्पणखा की ओर से ही किया गया था। वह स्वयं ही सज-संवर कर राम के सामने आकर खड़ी हो गई थी। उसने अपनी कुरूपता को भी छिपाने का प्रयास किया था। और इसके बाद भी वह विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी होने का दावा करती है। विधवा होते हुए भी कुमारी के रूप में अपना परिचय देने वाली शूर्पणखा पर किया जागे वाला व्यंग्य किसी तरह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इतना होने पर भी विफल मनोरथ होकर यदि वह लौट गई होती तो सम्भव है उसकी कामुकता भी सहानुभूति का सृजन करती। पर जब वह अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिए मैथिली को ही विनष्ट करने पर तुल जाती है तब उसका अपराध गुरुतर हो जाता है। यदि ऐसी स्थिति में उसे मृत्युदण्ड दे दिया जाता तो यह अपराध की गुरुता के अनुरूप होता। पर उसकी वासना प्रवणता और अपनी ओर से किए गए परिहास को दृष्टिगत रखकर ही राघवेन्द्र उसके लिए अल्पदण्ड की व्यवस्था करते हैं। वाल्मीकि रामायण के अनुकूल तो परिहास को लेकर उन्हें पश्चात्ताप भी हुआ। और उन्होंने लक्ष्मण से यह स्वीकार भी किया कि इस राक्षसी से हम लोगों को परिहास नहीं करना चाहिए :

क्रूरैनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथंचन।
न कार्यः पश्य वैदेही कथंचित सौम्य जीवतीम्॥

सुमित्रानन्दन! क्रूर कर्म करने वाले अनार्यों से किसी प्रकार का परिहास भी नहीं करना चाहिए। सौम्य! देखो न इस समय सीता के प्राण किस प्रकार बड़ी मुश्किल से बचे हैं।

मानस में इस प्रकार के अनुताप का अभाव है। क्योंकि रामचरितमानस की मान्यता के अनुकूल यह शूर्पणखा के अपराध का तात्कालिक दण्ड ही नहीं था। वर्तमान में दिया जाने वाला यह दण्ड भूत और भविष्य से जुड़ा हुआ था। भूतकाल में अपनी क्षुधा शान्ति के लिए शूर्पणखा ने अगणित मुनियों को अपना भोज्य बना लिया था इस तरह पूरे शरीर को विनष्ट कर देने वाली राक्षसी अपने शरीर के दो अंगों पर किये जाने वाले आघात से तिलमिला उठती है। न्याय-अन्याय का यह दोहरा मापदंड रावण के और शूर्पणखा के जीवन-दर्शन के अनुरूप ही हो सकता है। शूर्पणखा पर किया जाने वाला प्रहार इस दोहरे मापदण्ड पर किया जाने वाला प्रहार था। शूर्पणखा को दिए जाने वाले दंड के दूरगामी परिणाम से राम भली भांति परिचित थे। वे यह जानते थे कि रावण इसे चुपचाप पी जाने वाला व्यक्ति नहीं है। इसे वह अपनी सत्ता की चुनौती के रूप में देखेगा। इस प्रकार रावण की ओर से चुनौती का प्रत्युत्तर दिये जाने का प्रयास उन्हें अभीष्ट ही था, क्योंकि वे राक्षस जाति को उसके अपराध का उपर्युक्त दण्ड देने के लिए निश्चय कर चुके थे। इस तरह शूर्पणखा पर किया जाने वाला प्रहार वस्तुतः राम की ओर से दी जाने

वाली चुनौती थी :

लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि ।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ॥

इस प्रसंग में यदि शूर्पणखा के नारी होने की वात पर ही सारा ध्यान केंद्रित न कर तथ्य पर वल दें तो रावण को चुनौती देने के लिए इससे अधिक कोई उपयुक्त पात्र हो ही नहीं सकता था। यद्यपि लंका में अगणित राक्षस और राक्षसी विद्यमान थे, पर इनमें से एक भी ऐसा नहीं था कि जो शूर्पणखा की भांति रावण की विचारधारा का इतना पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकता हो। कुम्भकर्ण और मेघनाद जैसे पात्र भी लंका के जीवन-दर्शन का एकांगी प्रतिनिधित्व करते हैं। रावण की समग्र विचारधारा को पूरी तरह केवल शूर्पणखा ही हृदयंगम और क्रियान्वित कर पाई थी। भोग की अदम्य लालसा का जो स्वरूप रावण में विद्यमान है, जिस तरह अपनी अभीष्ट वस्तु पाने के लिए वह कल, वल, छल का आश्रय लेता है वह सब का सब शूर्पणखा के जीवन में भी घनीभूत दिखाई देता है। इतना ही नहीं, वह लंका के वैभवभरे प्रासादों को छोड़कर दण्डकारण्य में मुनियों को विनष्ट करती हुई रावण के संकल्प को साकार बनाती है। इस दृष्टि से तो रावण की प्रिया मन्दोदरी किसी भी तरह रावण का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। समर्पण प्रीति जैसी सुकुमार भावनाएं उसके जीवन में विद्यमान हैं। इसलिए जैसे राम और रावण प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं उस रूप में मैथिली की तुलना में मन्दोदरी का नाम नहीं लिया जा सकता। उस अर्थ में तो सीता की प्रतिद्वन्द्विता में केवल शूर्पणखा ही आ सकती है। यदि मैथिली में अनन्यता की पराकाष्ठा है तो शूर्पणखा में उसका लेश भी नहीं है। विदेहनंदिनी भी पुष्पवाटिका में राघवेन्द्र का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो गई थीं। पर उनका प्रेम कितना मौन और मर्यादित है। इसका आनन्द जनकपुर के प्रसंगों में लिया जा सकता है। दूसरी ओर है अमर्यादित और मुखर शूर्पणखा। यदि मैथिली में समर्पण की भावना है तो शूर्पणखा अधिकार वृत्ति से प्रेरित है। मैथिली संकोच और लज्जा की घनीभूत रूप हैं। वे अपनी भावनाओं को सखियों के समक्ष भी प्रकट करने में संकोच का अनुभव करती हैं। 'गिरा अलिनि मुख पंकज' जैसी भावपूर्ण पंक्तियों में गोस्वामी जी उनका यही चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनकी तुलना में है निर्लज्जता को भी लज्जित करने वाली शूर्पणखा। जिसके लिए लक्ष्मण ने 'जो तृन तोरि लाज परिहरई' जैसी वाक्यावली का प्रयोग किया है। इसीलिए तो एक विचित्रता पर दृष्टि जाती है। अधिक स्वाभाविक तो यह होता कि रावण को मैथिली के सौन्दर्य के प्रति आसक्त देखकर मंदोदरी के मन में उनके प्रति ईर्ष्या की भावना जागृत होती। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। दूसरी ओर राम से कोई सम्वन्ध और अधिकार न होने पर भी शूर्पणखा की समग्र ईर्ष्या भगवती सीता के प्रति थी। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि भगवान् राम और रावण के युद्ध की केन्द्र विन्दु भी सीता और शूर्पणखा ही हैं। यदि भगवान् राम बंदिनी विदेहजा की रक्षा के लिए शस्त्र उठाते हैं तो रावण भी

शूर्पणखा के सम्मान की रक्षा के नाम पर लड़ाई छेड़ने का दावा करता है। मंदोदरी पतिपरायणा और प्रिया होने पर भी अपनी वाणी के द्वारा रावण को प्रभावित कर पाने में समर्थ नहीं होती। यद्यपि उसकी वाणी में विनम्रता और सच्ची हितकामना विद्यमान थी। दूसरी ओर शूर्पणखा अपनी कटूक्तियों के द्वारा भी रावण को प्रभा-वित करने में सफलता प्राप्त कर लेती है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि रावण को चुनौती देने के लिए रामभद्र ने शूर्पणखा के विरूपीकरण को ही क्यों चुना ?

लक्ष्मण के प्रहार से क्षुब्ध शूर्पणखा तत्काल खर-दूषण के पास आती है। शूर्पणखा का इन दोनों भाइयों पर कितना अधिक प्रभाव था यह तब सामने आया जब दोनों भाई उसके वाक्यों को सुनते ही उबलकर राम से बदला लेने के लिए चल पड़ते हैं। अपनी बहिन के किसी भी कार्य में अनौचित्य का कोई प्रश्न उनके मन में आता ही नहीं है। उनके लिए शूर्पणखा का सम्मान ही सब कुछ है। आक्रमण के लिए सन्नद्ध सेना का मार्गदर्शन शूर्पणखा को देकर अनजाने में ही उन दोनों ने लंका के जीवन-दर्शन को प्रतीकात्मक रूप दे दिया :

सूपनखा आगे करि लीन्ही।
असुभ रूप श्रुति नासा हीनी॥

श्री राम को मानस में 'श्रुति सेतु पालक' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू' कहकर विश्वामित्र ने श्री राम की सराहना की। लंका का जीवन-दर्शन श्रुतिविरोधी है। इसलिए श्रुतिविहीन शूर्पणखा के पीछे चलना राक्षसों के लिए स्वाभाविक ही था। खर, दूषण, त्रिशिरा महान् शक्ति-शाली थे। पर वे एक ऐसी अबला का अनुगमन करते हैं जो वस्तुतः सबला है। निर्बल की रक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग सार्थक है, पर जहां वासना और मिथ्या स्वाभिमान के पीछे शौर्य का प्रयोग किया जाता है वहां विनाश अवश्यम्भावी है। खर, दूषण, त्रिशिरा सहित चौदह हजार राक्षसों का विनाश इसकी स्वाभाविक परिणति के रूप में सामने आया। पर इतने योद्धाओं के विनष्ट हो जाने पर भी शूर्पणखा में किसी प्रकार के अनुताप का उदय नहीं होता है। उसे यह चिन्ता भी नहीं सताती कि वह रावण को अपना मुंह कैसे दिखाएगी। वह क्रोध से कांपती हुई लंका पहुंच जाती है और फिर भरी सभा में उसने जिन शब्दों में रावण को फटकारा और जिस शांत भाव से रावण उसे सहता रहा, उसे पढ़कर कोई संदेह नहीं रह जाता कि अपने समग्र जीवन में ऐसी सहिष्णुता और समादर की भावना का परिचय रावण ने कभी किसी के लिए नहीं दिया। रावण की सभा का यह शब्द-चित्र मानस में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :

धुआँ देखि खर दूषन केरा।
जाइ सुपनखाँ रावन प्रेरा॥
बोली बचन क्रोध करि भारी।
देस कोस कै सुरति बिसारी॥

करसि पान सोवसि दिनु राती।
सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥
राजनीति बिनु धनु बिनु धर्मा।
हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
विद्या बिनु बिवेक उपजाएँ।
श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ॥
संग तें जती कुमंत्र ते राजा।
मान ते ग्यान पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी।
नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥
रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन॥
सभा माझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि अस गति होइ॥

शूर्पणखा का भाषण भी उसके व्यक्तित्व की ही तरह परम्परा से हटकर था। ऐसी स्थिति में साधारणतया जैसे आचरण और भाषण की कल्पना की जा सकती है शूर्पणखा उन सबको पूरी तरह झुंठला देती है। जिस प्रकार शूर्पणखा जगद्-विजेता रावण की बहिन होते हुए भी दोनों राजकुमारों के समक्ष निर्लज्ज प्रणय याचना करती है, उसकी स्मृति किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति को लज्जा और ग्लानि में गाड़ देने के लिए यथेष्ट है। यदि कामावेश में किसी अन्य नारी से यह भूल हुई होती, तो बाद में शायद ही अपनी विरूप आकृति को लेकर भाइयों के समक्ष जाने का साहस वह बटोर पाती। कुम्भकर्ण पुरुष होते हुए भी सुग्रीव के द्वारा नासिका और कान काट लिए जाने पर लंका में लौट कर जाने में लज्जा और ग्लानि की अनुभूति से भर उठता है। यद्यपि उसके लिए लज्जित होने जैसी कोई बात नहीं थी। उसने एक महान् योद्धा की भांति वीरतापूर्वक संघर्ष किया था। सुग्रीव की सारी सेना के महानतम योद्धाओं को पराजित करने में सफलता प्राप्त की थी। सुग्रीव को भी वह बगल में दबा कर ले जा रहा था। यह तो क्षणिक संयोग था कि सुग्रीव उसकी नासिका और कान काट लेने में सफल हो गए। पर कुम्भकर्ण इस क्षणिक पराजय से व्यथित और मर्माहत होकर युद्ध क्षेत्र में लौट आया और अपने पौरुष का प्रदर्शन करता हुआ एक वीर की भांति मारा गया। इसके सर्वथा प्रतिकूल शूर्पणखा का आचरण है। उसकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा लज्जास्पद थी। यह निस्संकोच खर-दूषण के समक्ष चली जाती है। उन्हें उस स्वाभिमान की रक्षा के लिए युद्ध की दिशा में प्रेरित करती है जिसे वह स्वतः ही अपने कार्यों के द्वारा विनष्ट कर चुकी थी। इस तरह चौदह हजार महान् योद्धाओं के विनाश के पश्चात् उसे कैसी अनुभूति होनी चाहिये थी? यदि उसके हृदय में संवेदनशीलता का स्पर्श भी होता तो वह ऐसी परिस्थिति में युद्ध या आत्महत्या के

माध्यम से अपना प्राण दे देती। पर उसका पाषाण हृदय लज्जा और ग्लानिद्रवता से सर्वथा शून्य है। वह सीधे लंका पहुंच जाती है। लंका में भी वह सीधे रावण की राजसभा में उपस्थित हो जाती है। शूर्पणखा को छोड़कर शायद ही कोई नारी इस प्रकार का दुस्साहस कर पाती। फिर ऐसी स्थिति में उसके भाषण का प्रारम्भ कहां से होना चाहिए था? सम्भवतः उसके स्थान पर कोई भी दूसरा व्यक्ति सर्वप्रथम खर-दूषण की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनाता। पर उसकी दृष्टि में यह समाचार इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था कि प्रारम्भ में उसकी चर्चा की जाय। उसमें इतना धैर्य नहीं था कि वह रावण के प्रश्न की प्रतीक्षा करती। इस परिस्थिति में सम्भवतः रावण की दृष्टि उसकी विरूप आकृति पर जाती और वह पूछता कि तुमसे इसप्र कार के व्यवहार की धृष्टता किसने की है? किन्तु इस प्रकार के प्रश्न के पहले ही वह सीधे रावण पर वरस पड़ती है। राजसिंहासनासीन रावण के समक्ष वह एक ऐसी नारी के रूप में उपस्थित होती है जो स्वयं अपराधी होते हुए भी राजा को ही अपराधी के कठघरे में खड़ा कर देती है। वह स्वयं को एक ऐसी जागरूक बहिन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करती है, जिसका सारा जीवन ही भाई की स्वत्व रक्षा के लिए अर्पित है। जिसे भाई का प्रमाद असह्य है, और कटुभाषण का कलंक लेकर भी जो भाई को चेतावनी देने के लिए आकर उपस्थित हुई है। अपनी इस चतुराई से वह सुरक्षा के स्थान पर आक्रमण की भूमिका संभाल लेती है। उससे दण्डकारण्य में घटित होने वाली घटनाओं के विषय में यदि विस्तार से पूछा जाता तो उसके लिए उनका समुचित वर्णन और उत्तर देना कठिन हो जाता। पर वह अपने प्रहारात्मक भाषण से रावण के समक्ष ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि उसके लिए अपनी सफाई देना कठिन हो गया। कुछ समय के लिए वह पूरी तरह हक्का-वक्का हो गया। रावण की बुद्धि वड़ी पैनी थी। वह वार्तालाप और प्रत्युत्तर की कला में अतीव कुशल था। पर लगता है शूर्पणखा की कूटनीतिक बुद्धि के समक्ष उसकी भी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। रावण के समक्ष एक वड़ी कठिनाई यह थी कि वह किसी प्रतिद्वन्द्वी से वार्तालाप नहीं कर रहा था। उसके सामने उसकी प्रिय वहन थी जो उसकी स्वभावगत दुर्बलताओं से भली भांति परिचित थी। उसके द्वारा रावण पर लगाया जाने वाला आरोप ऐसा सटीक था कि रावण उसका कोई उत्तर देने में असमर्थ था।

वस्तुतः अपनी प्रारम्भिक विजयों के पश्चात् आगे चलकर रावण के जीवन में ऐसी निश्चिंतता का उदय हुआ जिसने उसकी जागरूकता को समाप्त कर दिया। वह अपने किसी प्रतिद्वन्द्वी की कल्पना ही नहीं कर पाता था। दण्डकारण्य में अपनी अग्रिम चौकी का निर्माण करने के पश्चात् वह उधर से पूरी तरह निश्चिंत हो गया था। उसका गुप्तचर विभाग इतना निष्क्रिय हो चुका था कि राम-लक्ष्मण जैसे तेजस्वी राजकुमारों की दण्डकारण्य में उपस्थिति का उन्हें पता ही नहीं चला। शूर्पणखा ने ही सर्वप्रथम इन दोनों राजकुमारों को देखा था। पर उस समय उसकी दृष्टि शुद्ध भोगपरक थी। किन्तु इस समय उसने सारी घटनाओं को चतुराई से

राजनैतिक रंग दे दिया। वह रावण की निष्क्रियता की आलोचना करती हुई उसको उद्वोधित करने वाली उपदेशिका का अभिनय करती है। उसके वाक्यों में नीति-शास्त्र और धर्मशास्त्र के उद्धरण थे। उसके पाण्डित्य भरे भाषण से सारी सभा प्रभावित हो जाती है। यद्यपि उसने जो कुछ कहा था उसका उसके जीवन से रंच-मात्र कोई सम्वन्ध नहीं था। सच तो यह है कि उसके मुंह से निकली हुई सारी वातें उसके ही जीवन पर कटाक्ष करती हुई-सी प्रतीत होती हैं। वह राज्य के साथ नीति ही नहीं, धन के साथ धर्म की आवश्यकता का भी प्रतिपादन करती है। इससे भी आगे वढ़कर वह ईश्वर के प्रति सत्कर्मों के समर्पण के ऊंचे सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हुई दिखाई देती है। विवेक के विना विद्या की व्यर्थता का प्रतिपादन सुनकर किसे आश्चर्य नहीं होगा। वह एक साथ राजा और जती के पतन के कारणों का निदान करती हुई दिखाई देती है। वह ज्ञान के साथ अभिमान के त्याग की आवश्यकता का प्रतिपादन करती हुई सुरापान की भी निन्दा करती है। क्योंकि उसकी दृष्टि में सुरापान से लज्जा नष्ट हो जाती है। वह प्रीति के साथ प्रणयगुण की रक्षा के लिए मद के त्याग का भी उपदेश देती है। उसके सारे भाषण का एक भी वाक्य उनके जीवन पर चरितार्थ नहीं होता है। पर केवल शास्त्रीय पाण्डित्य के सहारे वह अपनी प्रतिभा से योगों को प्रभावित करने की चेष्टा करती है। कई पाठक इस प्रसंग में शूर्पणखा के मुख से निकली हुई वातों के लिए तुलसीदास की आलोचना करते हैं। वे यह मान लेते हैं कि मानसकार ने अपने ही विचारों को शूर्पणखा के माध्यम से अभिव्यक्ति दे दी है और तव वे ऐसा कह उठते हैं कि कम से कम यह सव लिखते हुए उन्हें इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए था कि शूर्पणखा के मुख से इस तरह की वातें निकालना कहां तक युक्तिसंगत होगा। तुलसीदास की इस प्रकार की आलोचना उनकी विलक्षण व्यंग्यात्मक शैली को न समझ पाने के कारण ही की जाती है। वे आगे चलकर लंकाकाण्ड में रावण के मुख से सृष्टि की अनित्यता का प्रतिपादन करवाते हुए दिखाई देते हैं। वह 'नस्वर रूप जगत यह देखहु हृदय विचारि' कहकर अपनी रानियों को वैराग्य का उपदेश देता है। उस प्रसंग में कवि की ओर से की जाने वाली टीका रावण और शूर्पणखा पर समान रूप से चरितार्थ होती है। रावण के उपदेश के अन्त में कवि अपनी सम्मति इन शब्दों में देता है :

पर उपदेस कुसल वहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

शूर्पणखा भी इन वहुतेरों में से ही एक है। अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण के अन्त में वह अभिनय कला का प्रदर्शन करती हुई सारी सभा को चकित कर देती है। भाषण देते-देते अन्त में वह जोर-जोर से विलाप करने लगती है। यहां तक कि वह पृथ्वी पर गिर पड़ती है। और भूमि पर लौटती हुई अपने भाषण को इन शब्दों के साथ समाप्त करती है। "अरे रावण! क्या तुम्हारे रहते हुए मेरी ऐसी दशा होनी चाहिए!" सभा के सारे सदस्य व्याकुल हो उठते हैं और उनमें से कुछ आगे बढ़कर

शूर्पणखा की वांहें पकड़कर उसे वैठाने की चेष्टा करते हैं :

सुनत सभासद उठे अकुलाई।
समुझाई गहि बाँह उठाई॥

इस प्रसंग में रावण का व्यवहार वड़ा विचित्र प्रतीत होता है। भूमि पर पड़ी हुई विलाप करती हुई शूर्पणखा को देखकर यदि वह स्वयं शूर्पणखा के समीप आ जाता और उसे आश्वस्त करने की चेष्टा करता तो यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता। पर यह देखकर आश्चर्य हुए विना नहीं रहता कि वह शूर्पणखा की सारी वातें चुपचाप सुनता रहा और सिंहासन पर वैठे ही वैठे शूर्पणखा की दुर्दशा का कारण पूछने लगा। सम्भवत: कुछ लोगों को इसमें शूर्पणखा के प्रति रावण की उपेक्षा-वृत्ति का आभास होगा। पर वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न थी। यह रावण की स्तब्धता और किंकर्तव्यविमूढ़ता का चित्र है। उसके लिए यह ऐसी अभूतपूर्व घटना थी जिसका इससे पहले कोई दृष्टांत तो था ही नहीं; वह कल्पना में भी इस स्थिति के लिए प्रस्तुत नहीं था। रावण के जिस पौरुष और पराक्रम के समक्ष सारा विश्व र्घापित था उसकी भगिनी के नाक-कान काटना तो दूर कोई आंख उठाकर देख भी सकता है, यह वह सोच भी नहीं सकता था। फिर उसे यह पता था कि शूर्पणखा की सुरक्षा और आकांक्षा की पूर्ति के लिए खर-दूषण जैसे योद्धा चौदह सहस्र सैनिकों के साथ नियुक्त थे। ऐसी स्थिति में शूर्पणखा का अकेले आना सर्वनाश की सूचना दे रहा था। फिर जिस तरह शूर्पणखा ने भरी सभा में उसकी भर्त्सना की थी वह भी उसके लिए कल्पनातीत था। ऐसी स्थिति में रावण इतना अधिक हत-प्रभ और स्तव्ध हो गया कि उसके लिए हाथ-पैर हिलाना भी कठिन था। सम्भवत: पूरे रामचरितमानस में रावण का ऐसा दयनीय रूप सामने नहीं आया। उसकी दृष्टि शूर्पणखा की कटी हुई नासिका और कानों पर ही आवद्ध थी। इसलिए वह केवल एक ही प्रश्न दोहरा पाता है। 'केहिं तव नासा कान निपाता'। और तव शूर्पणखा वड़े विस्तार से उन घटनाओं का वर्णन इन शब्दों में करती है :

कह लंकेस कहसि निज वाता।
केहिं तव नासा कान निपाता॥
अवध नृपति दसरथ के जाए।
पुरुष सिंघ बन खेलन आए॥
समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी।
रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥
जिन्ह कर भुजवल पाइ दसानन।
अभय भये बिचरत मुनि कानन॥
देखत बालक काल समाना।
परम धीर धन्वी गुन नाना॥
अतुलित बल प्रताप द्वौ भ्राता।
खल बध रत सुर मुनि सुखदाता॥

सोभा धाम राम अस नामा।
तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥
रूप रासि बिधि नारि सँवारी।
रति सत कोटि तासु बलिहारी॥
तासु अनुज काटे श्रुति नासा।
सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा॥
खर दूषत सुनि लगे पुकारा।
छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा॥
खर दूषन तिसिरा कर घाता।
सुनि दससीस जरे सब गाता॥

इस तरह इस प्रसंग में शूर्पणखा जिस प्रवंचना-चातुर्य का परिचय देती है उसका दूसरा तुलनात्मक ढूंढ़ पाना असम्भव है। अपनी वासना और स्वार्थपरता की बलिवेदी पर चौदह हजार राक्षसों का विनाश करा देने वाली नारी के स्थान पर वह एक ऐसी दिव्य तेजोमयी महिला के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है जिसने अपनी जागरूकता के द्वारा न केवल शक्तिशाली शत्रुओं का पता लगा लिया है अपितु त्रैलोक्य विजेता भाई के सम्मान की रक्षा के लिए ही उसे नाक-कान भी गंवाना पड़ा है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि यह प्रवंचना-कुशल नारी राम-रावण सभी के प्रति समान रूप से इस कला का प्रयोग करती है। यह बात और है कि वह जहां राम को धोखा दे पाने में असमर्थ हो जाती है वहां रावण उससे पूरी तरह ठगा गया। एक अपराधिनी उसकी श्रद्धा की पात्र वन बैठी। शूर्पणखा ने रावण को प्रभावित करने के लिए और भी अधिक चतुराई का परिचय दिया। वह राम-लक्ष्मण के शौर्य की सराहना करती हुई उन्हें अतुलनीय सिद्ध करती है। ऐसा कहते समय वह तथ्य से अधिक रावण के स्वभाव से लाभ उठाने का प्रयास कर रही थी। उसे यह ज्ञात था कि रावण के लिए अपनी प्रशंसा को छोड़कर किसी और की सराहना सुनना असह्य है। राम की अतुलनीयता का प्रतिपादन सुनते ही वह उसे मिथ्या सिद्ध करने के लिए व्यग्र हो जायगा। यही उसे अभीष्ट था। फिर उसने रावण की चारित्रिक दुर्बलता से लाभ उठाने का भी निर्णय किया। सौन्दर्य के प्रति रावण की आसक्ति से वह भली भांति परिचित थी। इसलिए उसने मैथिली के सौन्दर्य की सराहना करते हुए रावण के मन में उन्हें पाने की लालसा जागृत कर दी। रावण अपने बल का वर्णन करता हुआ शूर्पणखा को आश्वस्त करने का प्रयास करता है। आगे घटित होने वाली घटनाओं में शूर्पणखा फिर कभी सामने नहीं आती है। पर इसके पश्चात् लंका के रंगमंच पर जो खूनी नाटक खेला गया उसकी मुख्य सूत्राधार वही थी, यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है।

तुलसीदास नारी के उसी रूप के उपासक हैं जिसकी अभिव्यक्ति मैथिली के चरित्र में होती है। शील, सौजन्य और लज्जा उनकी दृष्टि में पराधीनता और दुर्बलता के चिह्न नहीं हैं। यदि यह पारतंत्र्य भी है तो वह दूसरों के द्वारा आरोपित

नहीं किया गया है। उनकी तेजस्विता प्रदर्शन के लिए नहीं है, पर अवसर आने पर उनकी तेजोमयी गरिमा के सामने रावण जैसे व्यक्ति को भी नत होना पड़ता है। शूर्पणखा के जीवन में जिस स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति होती है वह प्रथम दृष्टि में बड़ी ही आकर्षक जान पड़ती है। पर स्वातंत्र्य के रूप में दिखाई देने वाली यह उच्छृंखलता अन्त में सारे समाज के विनाश का कारण बनती है, यही तुलसी की मान्यता है। वे नारी के इसी रूप की निन्दा करते हैं।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

बालि और सुग्रीव

यह ऐसे दो वन्धुओं की गाथा है जिनके जीवन का प्रारम्भ परस्पर प्रीति से होने पर भी अन्त में दोनों एक दूसरे के महान् शत्रु वन वैठे थे। बालि और सुग्रीव की आकृति में इतना अधिक साम्य था कि श्री राम को यह स्वीकार करना पड़ा कि वे उन दोनों में भेद नहीं कर पाए और परिचय चिह्न के लिए उन्हें सुग्रीव के गले में माला पहनानी पड़ी। किन्तु इन दोनों की आकृति में जितनी अधिक समता थी प्रकृति में उतनी ही भिन्नता भी थी। वालि के स्वभाव में निर्भयता की परिपूर्णता थी, कभी भी किसी परिस्थिति में भयभीत और विचलित न होना उसका सर्वोत्कृष्ट गुण था। दूसरी ओर सुग्रीव शीघ्र भयभीत होने वाले, विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। प्रकृति की इस भिन्नता के होते हुए भी दोनों भाइयों में प्रगाढ़ प्रीति थी। सत्य तो यह है कि प्रकृति के इस अलगाव के कारण ही दोनों में प्रीति सम्भव हुई। वालि में निर्भीकता के साथ-साथ अहंकार-औधत्य भी विद्यमान था। यदि सुग्रीव की प्रकृति भी इसी प्रकार की होती तो दोनों में प्रारम्भ से ही टकराहट हो जाती। किन्तु सुग्रीव की विनम्रता और भय भरे स्वभाव के कारण बालि के अहंकार को तुष्टि प्राप्त होती थी। दूसरी ओर अपनी स्वभावगत दुर्वलता के कारण सुग्रीव को निरन्तर एक आश्रयदाता की अपेक्षा थी। बालि के रूप में एक समर्थ भाई उसे आश्रय दे रहा था इससे वढ़कर सुग्रीव के लिए सन्तोष की क्या वात हो सकती थी।

वालि के अतुलनीय पराक्रम का सवसे वड़ा परिचय प्राप्त हुआ जव उसने जगद्विजेता रावण को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। कहा जाता है कि रावण को परास्त करने के वाद उसे छः महीने तक वगल में दवाए रहा, पर वाद में दोनों में मित्रता हो गई और वालि ने आदरपूर्वक रावण को विदा कर दिया। विजेता और पराजित की यह मित्रता अस्वाभाविक प्रतीत होती है, पर दोनों की मानसिक पृष्ठभूमि में विचार करने पर यह सर्वथा स्वाभाविक लगती है। रावण के चरित्र में असीम महत्त्वाकांक्षाएं विद्यमान हैं, सत्ता और भोग की सर्वग्रासी भूख उसके जीवन में पग-पग पर परिलक्षित होती है। वह इसके लिए अनवरत पुरुषार्थ करता है। तपस्या, वल, शस्त्र आदि के सभी उपायों से वह अपनी आकांक्षा की पूर्ति में संलग्न रहता है। विजेता वनने की तीव्र लालसा भी उसमें विद्यमान है। वालि का चरित्र और स्वभाव इससे सर्वथा भिन्न है। जहां रावण अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अगणित युद्ध करता है वहां अतुलनीय वलशाली होते हुए भी वालि अपनी ओर से कभी किसी से युद्ध नहीं छेड़ता। उसके अन्तःकरण में महत्त्वाकांक्षाओं का विस्तार नहीं है। वह अपने राज्य की सीमाओं में रहकर प्राप्त भोगों से ही संतुष्ट रहने वाला व्यक्ति है। यह अवश्य है कि वह अपनी ओर से

संघर्ष का श्रीगणेश न करने पर भी चुनौती के प्रति अत्यन्त असहिष्णु था। चुनौती देने पर वह पूरी शक्ति से उसका सामना करता है और वह ऐसे किसी भी संघर्ष में पराजित नहीं हुआ। रावण के विरुद्ध उसका संघर्ष भी इसी प्रकार का था। वह रावण को पराजित करने के लिए व्यग्र नहीं था और न तो वह उसे चुनौती देने के लिए लंका की सीमा में प्रविष्ट हुआ। था वह तो महत्त्वाकांक्षी रावण था जो वलात् वालि को परास्त करने की आकांक्षा से उससे टकरा जाता है। इस संघर्ष में रावण को पराजित होना पड़ा। रावण को छः महीने तक वगल में दवाए रहकर वह संतुष्ट हो जाता है। उसके लिए इतना ही यथेष्ट था कि उसने विश्वविजेता रावण को पूरी तरह पराजित कर दिया था। कूटनीतिज्ञ रावण सवल के समक्ष विनम्र हो जाने में संकोच का अनुभव नहीं करता है। प्रशंसाप्रिय वालि को वह उसके वल की सराहना कर सन्तुष्ट कर लेता है। रावण की इस विनम्रता के वदले में वालि भी उदारता का परिचय देता हुआ उसे समानता का पद दे देता है। इस तरह संघर्ष के पश्चात् इन दोनों महान् योद्धाओं में सन्धि की स्थापना हो गई। किन्तु सुग्रीव और वालि के सम्वन्ध में क्रम इससे ठीक उल्टा रहा। वहां प्रारम्भिक प्रीति की परिणति एक ऐसे संघर्ष का रूप ग्रहण कर लेती है जिसकी अन्तिम परिणति वालि का वध था। जिस घटना से इस संघर्ष का सूत्रपात हुआ था सुग्रीव के शब्दों में वह इस प्रकार है :

नाथ वालि अरु मैं द्वौ भाई।
प्रीति रही कछु बरनि न जाई॥
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ।
आवा सो प्रभु हमरें गाऊँ॥
अर्धराति पुर द्वार पुकारा।
बाली रिपु बल सहै न पारा॥
धावा वालि देखि सो भागा।
मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा॥
गिरिबर गुहाँ पैठ सो जाई।
तब बालीं मोहि कहा बुझाई॥
परिखेसु मोहि एक पखवारा।
नहिं आवौं तब जानेसु मारा॥
मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी।
निसरी रुधिर धार तहँ भारी॥
वालि हतेसि मोहि मारिहि आई।
सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥
मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं।
दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥

बाली ताहि मारि गृह आवा।
देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा॥

मायावी दैत्य ने जानबूझ कर अर्ध रात्रि के समय वालि को लड़ने की चुनौती दी थी। वह समय के गौरव से परिचित था और उसे यह ज्ञात था कि वानर रात्रि में उतना सक्रिय नहीं रह पाता। दिन के प्रकाश में ही उसकी क्षमताएं प्रकट होती हैं। 'जातुधान प्रदोष वल पाई' के सिद्धान्तानुसार राक्षसों की क्षमता रात्रि में वढ़ जाती है। अर्धरात्रि के समय चुनौती देते हुए मायावी के मन में मुख्य रूप से यही धारणा कार्य कर रही थी। सत्य तो यह है कि वालि से लड़ने के लिए वह आया भी नहीं था, केवल चतुराई के द्वारा वालि का विजेता कहलाना चाहता था। उसका यह विश्वास था कि अर्धरात्रि के समय चुनौती देने पर स्वत: वालि ही उस से लड़ने के लिए आगे नहीं वढ़ेगा, और तव वह लौटकर वड़े गर्व से यह घोषित कर सकेगा कि वालि भय के कारण उसके सामने नहीं आ सका। पर उसकी यह धारणा सर्वथा मिथ्या सिद्ध हुई। समय की प्रतिकूलता के होते हुए भी वह साहस-पूर्वक मायावी की चुनौती का सामना करने के लिए आगे वढ़ता है। अव मायावी के आतंकित होने की वारी थी। वालि को आते देखकर वह भाग खड़ा हुआ किन्तु वालि इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। उसने अपनी निद्रा में व्यवधान डालने वाले को पूरी तरह विनष्ट कर देने का संकल्प किया। ऐसे अवसर पर सुग्रीव को यह उचित प्रतीत हुआ कि वे भी वालि का साथ दें। 'होहिं कुठावँ सुवंधु सुहाए' के सिद्धान्त का स्मरण आया। वालि के पीछे चलने की भावना में उनके मानसिक शौर्य की कोई प्रेरणा न थी। वे तो बुद्धिपूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए प्रस्तुत थे। इसीलिए संघर्ष के ठीक अवसर पर मानसिक शौर्य के अभाव में उनका भयभीत स्वभाव सामने आ गया।

वालि मायावी का पीछा करता हुआ पर्वत की गुफा के सन्निकट पहुंच जाता है। अचानक मायावी एक विशाल गुफा के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। वालि काल के साथ-साथ देश की प्रतिकूलता की उपेक्षा करके गुफा में प्रविष्ट होने का निर्णय करता है। वालि को अचानक लगा कि सुग्रीव को साथ में भीतर ले जाना उपयुक्त नहीं होगा। वह केवल सुग्रीव की भ्रातृभक्ति और कर्त्तव्यपरायणता से ही संतुष्ट था। न तो उसे सुग्रीव के वल के प्रति कोई आस्था थी और न उसे इस संघर्ष में किसी सहायक की आवश्यकता का अनुभव ही हुआ। इसलिए वह सुग्रीव को वाहर रुकने का आदेश देता है। यद्यपि उसे अपनी विजय में पूरी आस्था थी। पर वह युद्ध के अनिश्चित परिणाम से अपरिचित नहीं था। इसलिए उसने सुग्रीव को गुफा द्वार पर खड़े होकर पन्द्रह दिन तक प्रतीक्षा करने का आदेश दिया। उसे विश्वास था कि समय की इसी अवधि में वह मायावी को विनष्ट करने में सफल होगा और यदि ऐसा नहीं हुआ तो उसी को पराजित होना पड़ेगा। सुग्रीव ने वालि के इस आदेश को स्वीकार कर लिया। यह स्वीकृति उनके दुर्वल स्वभाव के अनु-कूल ही थी। यदि उनमें वीरता और भ्रातृभक्ति की प्रगाढ़ भावना होती तो वह

वालि के आदेश को अस्वीकार कर सकता था। वन-यात्रा के समय हजार आदेश मिलने पर भी लक्ष्मण अयोध्या में रुकने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं। वे उस विपत्ति के समय किसी भी मूल्य पर भाई के साथ चलने का आग्रह करते हैं और अपने संकल्प में सफल होते हैं। किन्तु सुग्रीव भीरु मन के लिए आदेश का वहाना प्रिय लगना स्वाभाविक ही था। वह वाहर रुककर भाई के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा।

वालि की आशा के विपरीत गुफा का युद्ध लम्बा खिंच गया। वस्तुतः वालि के गणित में किसी प्रकार की भूल न थी। यदि मायावी वहां अकेला होता तो इसी अवधि में उसे पराजित करने में वालि सफल हो जाता। पर वहां तो मायावी के अनेक सहायक विद्यमान थे अतः यह संघर्ष एक मास तक चलता रहा और वालि द्वारा मारे गये राक्षसों की रुधिर-धारा गुफा के वाहर प्रवाहित होने लगी। प्रतीक्षा में खड़ा हुआ सुग्रीव रक्त प्रवाह को देखते ही आतंकित हो उठा। उसे लगा कि यह उसके पराजित और उसके मृत भाई वालि का रक्त है और तव उसने तत्काल वहां से भाग जाने का निर्णय किया। उसे लगा कि जहां वालि पराजित हो गया वहां मेरी विजय का प्रश्न ही कहां है? भागने के पहले वह एक विशाल शिलाखण्ड से गुफा के द्वार को ढक देता है। क्योंकि उसकी धारणा थी कि वालि की मृत्यु के पश्चात् मायावी उसका पीछा करने का प्रयास करेगा अतः उसके मार्ग में ऐसा अवरोध खड़ा कर देना चाहिए जिसे दूर करने में मायावी को समय लगे और इस वीच वह सुरक्षित किष्किन्धा में पहुंच जाये। सुग्रीव की इस प्रवृत्ति में भी उनके स्वभाव का एक रूप सामने आता है। आक्रमणात्मक युद्ध में वे निपुण नहीं थे। किंतु वे अपनी सुरक्षा के विषय में अत्यन्त सावधान थे। उनकी बुद्धि भी इस विषय में अत्यन्त पैनी थी। आगे चल कर वालि के विरुद्ध उनके संघर्ष में भी उनकी यही विशेषता उन्हें सुरक्षा प्रदान करती है। गुफा-द्वार पर शिला रखकर वे किष्किन्धा में सुरक्षित भाग आते हैं। वहां लौटकर उन्होंने इस सूचना को किस रूप में प्रस्तुत किया इसका कोई विवरण मानस में उपलब्ध नहीं है। भले ही उन्होंने पूरी तरह असत्य का आश्रय न लिया हो पर अपनी आन्तरिक भीरुता को छिपाने का प्रयास अवश्य किया होगा। वालि की मृत्यु के समाचार को सुनकर मन्त्रियों के सामने राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न आया और उन्होंने सुग्रीव से राज्य सिंहासन पर वैठने का अनुरोध किया। सुग्रीव ने इस प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार कर लिया। यह भी उनके चरित्र की दुर्वलता का ही एक प्रमाण है। भले ही वलपूर्वक राज्य छीनने की आकांक्षा का अभाव उनमें रहा हो पर इतनी सरलता से मिलने वाले राज्य का प्रलोभन वे नहीं छोड़ पाए। उनके लिए यह उचित होता कि वे उत्तराधिकार के लिए अंगद के नाम का प्रस्ताव रखते। यदि ऐसा हुआ होता तो सम्भवतः आगे जिस संघर्ष की भूमिका वनी उसका समापन यहीं हो जाता। पर उनकी राज्य-लिप्साजन्य दुर्वलता आड़े आई। यद्यपि वहां भी उन्होंने यह वताने का प्रयास किया कि मन्त्रियों के अनुरोध के कारण हीं वे ऐसा करने के लिए वाध्य थे। यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है

कि मन्त्रियों के इस अनुरोध का क्या रहस्य था ? वे वालितनय अंगद का नाम प्रस्तावित क्यों नहीं करते ? इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्री वालि से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थे। सम्भव है वालि के उद्धत स्वभाव के कारण मन्त्रियों के स्वाभिमान को चोट लगती रही हो और उन्हें अंगद के स्वभाव में भी इसकी कोई झलक दिखाई देती रही हो। इसलिए उन्होंने तेजस्वी अंगद के स्थान पर विनम्र सुग्रीव को राजा के रूप में देखना अधिक उपयुक्त समझा हो। वालि जब तक वहां से लौटता है तब तक सुग्रीव सिंहासनासीन हो चुके थे। इससे वालि को असह्य आघात लगा। सुग्रीव उसे एक ऐसे प्रपंची भाई के रूप में दिखाई देने लगा कि जो न जाने कितने समय से राज-लिप्सा को मन में छिपाये हुए उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। उसे गुफा-द्वार की शिला का भी भिन्न ही अर्थ प्रतीत हुआ। वालि को इसमें भी सुग्रीव के षड्यन्त्र की ही झलक मिली। उसने यह मान लिया कि यह शिला भी उसी का मार्ग रोकने के लिए रखी गई थी। यहां तक जो कुछ हुआ उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। सुग्रीव के चरित्र में दुर्बलता भले ही रही हो पर वे किसी भी प्रकार षड्यन्त्रकारी नहीं थे। उनके भीरु स्वभाव और भोगाकांक्षा के लिए इतना ही यथेष्ट था कि वालि उन्हें सिंहासन से हटाकर उनकी भर्त्सना कर देता। पर वालि अपने उद्धत और अहंकारी स्वभाव के कारण विवेक की सारी मर्यादाओं को भुला बैठा। उसने न केवल सुग्रीव को सम्पत्ति से वंचित कर दिया अपितु उसकी पत्नी को छीन लेने में भी वह लज्जित नहीं हुआ। इस दण्ड का औचित्य किसी तरह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

भयभीत सुग्रीव किष्किन्धा से भाग खड़े हुए। पर वालि ने तब भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। इससे जान पड़ता है कि प्रतिहिंसा वालि के स्वभाव का एक अंग थी। वह क्षमा करना जानता ही नहीं था। वह दूसरों को सर्वदा झुका हुआ ही देखना चाहता है। सुग्रीव को एक आश्रित के रूप वालि का स्नेह प्राप्त था पर भूल से ही सही जैसे ही उन्होंने वालि के सिंहासन पर बैठने की धृष्टता की वह प्रतिद्वंद्वी और शत्रु मान लिया गया। शत्रुता की भावना से प्रेरित होकर ही वह उसे पूरी तरह विनष्ट करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में सुग्रीव कुटिल स्वभाव का छिपा हुआ शत्रु था। इसलिए वह यह सोचता था कि जीवित रहने पर सुग्रीव उसे या उसके उत्तराधिकारी को कष्ट पहुंचाने का प्रयास कर सकता है। किन्तु लाख प्रयास करने पर भी वह सुग्रीव को विनष्ट करने में सफलता प्राप्त नहीं कर पाता है। इससे सुग्रीव के चरित्र के एक भिन्न अंग पर प्रकाश पड़ता है।

सुग्रीव न तो वालि के समान बलवान थे और न उनके स्वभाव में युद्ध-प्रियता ही थी। पर वालि की तुलना में वह अधिक बुद्धिमान थे। यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है। आक्रमण में न सही पर सुरक्षा की कला में वे अत्यन्त निपुण थे। वालि के समान वे बिना सोचे-समझे भिड़ जाने की प्रवृत्ति में विश्वास नहीं करते हैं। अवसर पर पीछे हटने और भाग जाने में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है। इससे उनकी राजनैतिक सूझ-बूझ का पता चलता है। उनमें

मैत्री गुण भी विद्यमान था। इसलिए सिंहासन से च्युत हो जाने पर भी मित्रों से विहीन नहीं होते हैं, उस कठिन परिस्थिति में भी आंजनेय जैसे महामति मन्त्री उनके साथ थे। व्यक्तियों के परख की अनोखी सूझ-बूझ भी उनमें विद्यमान थी। जीवन में सर्वदा पवननन्दन हनुमान की मन्त्रणा को स्वीकार कर उन्होंने अपनी परख की विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। अपने विनम्र स्वभाव के कारण उन्हें वृद्धजनों का भी स्नेह प्राप्त था। इसका प्रमाण जामवंत के साहचर्य से प्राप्त होता है। अपनी सुरक्षा के लिए वे एक ऐसा स्थान ढूंढ़ने में सफल हो जाते हैं जहां वालि न प्रविष्ट हो सके।

ऋष्यमूक पर्वत एक ऐसा स्थान था जहां पर वालि का प्रवेश असम्भव था। क्योंकि वालि को मुनियों के द्वारा यह शाप हुआ था कि इस पर्वत पर पैर रखते ही वालि मृत्यु का ग्रास वन जाएगा। यह श्राप जिस कारण से प्राप्त हुआ था वह भी वालि के उद्धत और अविचारी स्वभाव का एक प्रमाण है। वालि विशालकाय दुन्दुभि राक्षस को युद्ध में परास्त करता है किन्तु वह केवल दुन्दुभि के वध से ही सन्तुष्ट नहीं होता है अपितु उसकी हड्डियों को घुमाकर दूर फेंक देता है जो जाकर ऋष्यमूक पर्वत में स्थित मुनियों के आश्रम में गिर पड़ती हैं। सारे आश्रम को अपवित्र हुआ देखकर मुनियों के क्षोभ की कोई सीमा न रही और उन्होंने उस अविचारी व्यक्ति को दण्ड देने के लिए उपर्युक्त शाप दे दिया। यदि वालि के चरित्र में वल के साथ विवेक का उचित सन्तुलन होता तो वह इस प्रकार का अनुचित और निरर्थक कार्य न करता। इस तरह वालि का आवेश और अविवेक ही सुग्रीव की सुरक्षा का साधन वन गया। फिर भी सुग्रीव वहां पूरी तरह निश्चिन्त होकर नहीं रह सकते थे, क्योंकि उनके मन में यह आशंका तो वनी ही रहती थी कि वालि अपने किसी शक्तिशाली सहायक के द्वारा यहां भी उसे कष्ट पहुंचाने का प्रयास कर सकता है। फिर एक सीमा में घिरे रहना भी कम कष्टदायी नहीं था। किन्तु इस स्थिति में परिवर्तन तव आया जव सुग्रीव ने पर्वत की तलहटी से दो राजकुमारों को ऋष्यमूक पर्वत की ओर आते देखा। आने वाले दोनों राजकुमार अत्यन्त तेजस्वी और शौर्यसम्पन्न प्रतीत हो रहे थे। सर्वप्रथम सुग्रीव की दृष्टि ही इन राजकुमारों पर पड़ी यह भी उनके चौकन्नेपन का ही एक प्रमाण था। केवल मन्त्रियों या सैनिकों पर ही सुरक्षा का भार छोड़कर वे निश्चिन्त नहीं हो गये थे। वे निरन्तर पर्वत की तलहटी पर सजग दृष्टि रखते थे। इन राजकुमारों को आते देखकर वे अत्यन्त भयभीत हो गए क्योंकि उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि ये दोनों राजकुमार वालि के द्वारा प्रेरित होकर उन्हें विनष्ट करने के लिए आ रहे हैं। पर भय के इन क्षणों में भी धैर्य और विवेक ने उनका साथ नहीं छोड़ा। अत्यधिक आतंकित होकर वे भाग नहीं खड़े हुए, अपितु उन्होंने उचित परीक्षण लेकर ही निर्णय पर पहुंचने का प्रयास किया। इन दोनों राजकुमारों के परीक्षण का भार वे पवननंदन को सौंपते हैं। आंजनेय ने यह कार्य अद्भुत रीति से सम्पन्न किया। हनुमान राम और लक्ष्मण की कृपा प्राप्त करने में सफल होते हैं। उन्हें यह विश्वास हो गया

कि सुग्रीव की समस्या का समाधान इन दोनों राजकुमारों से मित्रता में ही है। वे भाव भरे शब्दों में यह प्रस्ताव प्रभु के समक्ष रखते हैं और रामभद्र के द्वारा यह प्रस्ताव तत्काल स्वीकार भी कर लिया गया। इस तरह उस मित्रता की पृष्ठिभूमि वनी जिसने सुग्रीव के जीवन को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। अग्नि को साक्षी वनाकर राघवेन्द्र और सुग्रीव की मित्रता सम्पन्न हुई :

आगे चले बहुरि रघुराया।
रिष्यमूक पर्वत निअराया॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।
आवत देखि अतुल बल सींवा॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगल बल रूप निधाना॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई॥
पठए बालि होहिं मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह सैला॥

× × ×

नाथ सैल पर कपिपति रहई।
सो सुग्रीव दास तव अहई॥
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।
दीन जानि तेहि अभय करीजे॥
सो सीता कर खोज कराइहि।
जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि॥
एहि बिधि सकल कथा समुझाई।
लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई॥
जब सुग्रीवँ राम कहुँ देखा।
अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥
सादर मिलेउ नाइ पद माथा।
भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥
कपि कर मन बिचार एहि रीती।
करिहहिं बिधि मो सन ए प्रीती॥
तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ॥

यद्यपि आंजनेय के द्वारा रामभद्र को सुग्रीव की जीवन-गाथा सुनने को मिल चुकी थी पर उन्होंने सुग्रीव से पुनः अपनी आत्म-कथा सुनाने का अनुरोध किया। वस्तुतः यह श्री रामभद्र की नीतिमत्ता का परिचायक था। वे आंजनेय की प्रतिभा, पाण्डित्य और नीतिमत्ता जैसे अद्भुत गुणों से पूरी तरह परिचित हो चुके थे।

उनके द्वारा सुग्रीव की जीवन-गाथा का वर्णन उनकी अलौकिक भाषण शक्ति का परिचायक था, पर राघव स्वयं सुग्रीव के मुख से उनकी आत्म-कथा सुनकर उनके मानसिक धरातल को समझना चाहते थे। पवननन्दन के द्वारा कथित जीवन-चरित्र का उद्देश्य सुग्रीव के गुण-दोष का विश्लेषण नहीं था। उसका तात्पर्य तो मैत्री भावना को दृढ़ करना मात्र था। किन्तु राघव सुग्रीव के चरित्र को पूरी तरह समझ कर उनके गुणों का सदुपयोग करना चाहते थे। सुग्रीव ने जिस पद्धति से अपनी आत्म-कथा का वर्णन किया उससे श्री रामभद्र को सुग्रीव के स्वभाव का पूरी तरह पता चल गया। इस संस्मरण के पूर्वार्ध की कुछ पंक्तियां पहले प्रस्तुत की जा चुकी हैं जिनमें वे वालि से अपनी शत्रुता का कारण बताते हैं। पर इसके पश्चात् वे बाद में घटित होने वाली घटनाओं को भी इन शब्दों में प्रस्तुत कर देते हैं :

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।
हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी।।
ताकें भय रघुबीर कृपाला।
सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।।
इहाँ साप बस आवत नाहीं।
तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।।

अपनी इस जीवन-गाथा को सुनाने से पहले वे एक संस्मरण और सुना चुके थे, जिसका सम्बन्ध श्री रामभद्र से था, वह संस्मरण उन्होंने इन शब्दों में प्रस्तुत किया था :

कह सुग्रीव नयन भरि बारी।
मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी।।
मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा।
बैठें रहेऊँ मैं करत बिचारा।।
गगन पंथ देखी मैं जाता।
परबस परी बहुत बिलपाता।।
राम राम हा राम पुकारी।
हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी।।
माँगा राम तुरत तेहिं दीन्हा।
पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।।
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा।
तजहु सोच मन आनहु धीरा।।
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।
जेहि बिधि मिलिहि जानकी माई।।
सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव।
कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव।।

इन दोनों संस्मरणों को मिलाकर देखने पर सुग्रीव की मन:स्थिति का अंतरंग

रूप सामने आ जाता है। मैथिली से सम्बन्धित संस्मरण को सुनाते समय प्रारंभ में ही उनकी आंखों में आंसू आ जाते हैं। इससे उनके कोमल और सहृदय स्वभाव का परिचय प्राप्त होता है। वे दूसरों के दुःख से द्रवित हो जाते हैं। पर सामर्थ्य के अभाव में उनकी सहृदयता सक्रिय नहीं हो पाती। उन्होंने अपनी आंखों के समक्ष वन्दिनी विदेहजा को विलाप करते देखा पर वे उस शक्तिशाली रावण से परिचित थे जो उनका अपरहण कर ले जा रहा था। सुग्रीव यह जानते थे कि रावण के हाथों से सीता को छुड़ा पाना उनकी सामर्थ्य के वाहर है। पर मैथिली के द्वारा फेंके गए वस्त्र चिह्न को उन्होंने पूरी तरह संजोकर रख छोड़ा था। श्री राम के अनुरोध पर उन्होंने वह वस्त्र अर्पित कर दिया। साथ ही वे रामभद्र को यह आश्वासन देते हैं कि आप विश्वास रक्खें कि मैथिली आपको अवश्य प्राप्त होंगी। प्रथम दृष्टि में सुग्रीव का यह वाक्य छोटी मुंह बड़ी वात जैसा प्रतीत होता है। श्री राम के स्थान पर यदि अन्य व्यक्ति होता तो सम्भव है सुग्रीव के जीवन-चरित्र के साथ इस आश्वासन को इतना असंगत समझता कि मन-ही-मन इसका उपहास किए विना न रह पाता। सुग्रीव की आत्म-कथा से ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र है जो विपरीत परिस्थितियों में भाग खड़ा होता है। फिर जो व्यक्ति अपनी ही पत्नी की रक्षा नहीं कर पाया वह मित्र-पत्नी की रक्षा करने में कैसे समर्थ होगा ? वह तो अन्याय का मूक-दर्शक वनकर सीता का अपहरण अपनी आंखों के सामने देखता रहा। किन्तु रामभद्र ने उनके चरित्र को इस रूप में नहीं लिया। उन्हें यही प्रतीत हुआ कि सुग्रीव एक सरल हृदय के व्यक्ति हैं तभी वे इस घटना को सहज भाव से सुना सके। यदि वे मिथ्यावादी और दम्भी होते तो कभी भी अपनी दुर्वलता को इतने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार न कर पाते। रावण के विरुद्ध कुछ न कर पाना उनकी वाध्यता थी। पर प्रतिकूलताओं में वे निराश नहीं होते और उनके जीवन में प्रगाढ़ विश्वास का स्वर कभी मन्द नहीं पड़ता है। उनकी मान्यता यह भी थी कि भले ही विदेहजा का अपहरण हो गया हो और मैं अकेले उनकी रक्षा न कर सका होऊं पर मेरी और रामभद्र की मैत्री के द्वारा यह असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाएगा। वे एक और एक के मिलन को गणित के साधारण नियम के अनुकूल केवल दो के रूप में नहीं देखते। उनका कवि और आशावादी हृदय एक और एक को एकसाथ खड़ा कर देता है और तव वे उसे ग्यारह के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में दशानन को परास्त करने के लिए इसी एकादश की आवश्यकता थी जो राम और उनकी मैत्री के रूप में सम्पन्न हो चुकी है। अतः अव रावण का वध तथा मैथिली और रामभद्र का मिलन ध्रुव सत्य है।

वालि के सम्वन्ध में उन्होंने जो संस्मरण सुनाया उसमें भी यह सिद्ध हो जाता है कि वे द्वेषी प्रकृति के नहीं थे, उन्होंने वालि की निन्दा में एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। उनके स्वर में एक प्रकार की पीड़ा है। वे यह सोचकर दुःखी हो जाते हैं कि किस तरह दीर्घकाल से पलने वाली दोनों भाइयों की प्रीति केवल एक घटना के कारण शत्रुता में परिणत हो गई। फिर भी कहीं न कहीं उनके अन्तःकरण के

कोने में बालि के प्रति कोमल भावना विद्यमान थी। इसका पता तव चलता है कि जव श्री रामभद्र वालि के वध की प्रतिज्ञा करते हैं। प्रतिज्ञा सुनकर प्रारम्भ में तो वे एक ऐसे संशयालु व्यक्ति प्रतीत होते हैं जिसे यह विश्वास ही नहीं हो रहा था कि राम के द्वारा वालि का वध किया जाना सम्भव है। पर इस संशय के पीछे भी अज्ञान के स्थान पर राम के प्रति प्रीति का ही परिचय मिलता है। प्रारम्भ में तो दूर से देखकर उन्हें यही प्रतीत हुआ था कि यह दोनों भाई अतुलनीय वल वाले हैं पर समीप से देखने के वाद उनकी धारणा में परिवर्तन हुआ। राम के सामीप्य और आलिंगन से उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह तो अत्यन्त सुकुमार हैं। सुकुमारता की यह भावना उनके मन पर इतना अधिकार कर लेती है कि उसकी आड़ में राम का वल विस्मृत हो जाता है। इसलिए वे अपने मित्र के वल पर संशय प्रकट करते हैं। दुन्दुभि की अस्थि और तालवृक्ष के वेधन के द्वारा राघवेन्द्र ने उनके संशय का निराकरण कर दिया। इसे देखकर उन्हें यह विश्वास हो गया कि इनके द्वारा वालि का वध सम्भव है। ऐसी स्थिति में उन्हें यह सन्तोष हो जाना चाहिए था कि वालि के वध में अव अधिक विलम्व नहीं होगा पर ऐसा नहीं हुआ। अचानक वालि के प्रति उनकी भावनाओं में परिवर्तन हुआ। उन्हें तो अव सारा संघर्ष ही व्यर्थ प्रतीत होने लगा था और वे यह सोचने लगे कि इन भौतिक प्रपंचों से मुक्त होकर भजन करने में ही जीवन की सार्थकता है। श्री राम भी अव उन्हें एक व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु साक्षात् ईश्वर के रूप में दिखाई देने लगे थे। अतः ऐसी स्थिति में अपने हृदय की उमड़ती भावनाओं को वे प्रकट किए विना नहीं रह पाते :

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब विधि घटब काज मैं तोरें॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा।
बालि महाबल अति रनधीरा॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए।
बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।
बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥
बार बार नावइ पद सीसा।
प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥
उपजा ग्यान बचन तब बोला।
नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥
सुख संपति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब रामभगति के बाधक।
कहहिं संत तब पद अवराधक॥

सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
मायाकृत परमारथ नाहीं।।
बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।।
सपनें जेहि सन होइ लराई।
जागे समुझत मन सकुचाई।।
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजनु करौं दिन राती।।

सुग्रीव की इस वैराग्य भरी वाणी से रामभद्र प्रभावित नहीं होते हैं। उनकी प्रतिक्रिया का परिचय उनके होठों पर खेलने वाली हंसी से चला। न तो राघव उनकी क्षणिक वैराग्य-भावना को स्वीकार करते हैं और न ही उन्होंने किसी प्रकार की झुंझलाहट का प्रदर्शन किया। भले ही सुग्रीव से उनका परिचय कुछ क्षणों पूर्व का ही रहा हो पर इतने में ही वे सुग्रीव के सद्‌गुण और उनकी दुर्बलताओं से भली भांति परिचित हो चुके थे। वे यह भली भांति समझ चुके थे कि बालि के प्रति भावुकता का प्रदर्शन क्षणिक आवेश मात्र है। स्वभाव से भले ही सुग्रीव जिस औदार्य का प्रदर्शन करना चाहते हैं वास्तविकता के एक ही प्रहार से वह चूर-चूर हो जाएगा। फिर भले ही सुग्रीव ने बालि और अपने संघर्ष को व्यक्तिगत स्तर पर देखा हो पर राम इस प्रश्न को सार्वजनिक महत्त्व का मानते हैं। बालि ने जो कार्य किया था उसका सम्बन्ध सामाजिक मर्यादा से जुड़ा हुआ है। ऐसे व्यक्ति को दण्डित न किया जाना अन्याय का मूक समर्थन है। फिर बालि के मन में अपने कृत्यों के प्रति कोई पश्चात्ताप भी नहीं है। ऐसी स्थिति में उसे क्षमा कर देने का भी प्रश्न नहीं उठता है। यदि सुग्रीव अपनी ओर से द्वेष से विरत भी हो जाते तो उद्धत बालि को इसमें सुग्रीव के सद्‌भाव का दर्शन न होता। वह तो इसे सुग्रीव की दुर्बलता और असमर्थता के रूप में ही देखता। ऐसी स्थिति में उसका यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता कि बल ही सब कुछ है। और बलवान व्यक्ति मनमानी करने के लिए स्वतंत्र है। सुग्रीव की दृष्टि इसके व्यापक परिणाम की ओर नहीं जाती है। वे तो अपनी भावना के ही प्रवाह में बह रहे थे। श्री राम ने इस भावना के प्रवाह में डूबने से उन्हें बचा लिया। उन्होंने यही कहा, "मित्र ! तुमने जो कुछ कहा है वह ठीक है पर मेरे वाक्य मिथ्या नहीं होते।" भगवान् राम का तात्पर्य यह था कि तुम्हें यह सोच कर संकुचित नहीं होना चाहिए कि लोग तुम्हें बालि-वध के लिए कलंकित करेंगे क्योंकि मैं यह स्वीकार करता हूं कि बालि-वध मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए आवश्यक है। अब यदि इसमें किसी प्रकार का अपयश होता है तो इसका भागीदार मैं हूं। तुम बड़ी सरलता से यह कह सकते हो कि मैंने बालि को बचाने की चेष्टा की थी पर श्री राम ने प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए इसे अस्वीकार कर दिया :

सुनि बिराग संजुत कपि बानी।
बोले बिहँसि रामु धनु पानी।।

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई।
सखा बचन मम मृषा न होई॥

सुग्रीव राघवेन्द्र के प्रस्ताव से सहमत हो जाते हैं और किष्किन्धा के निकट पहुंचकर गर्जना के द्वारा वालि को चुनौती देते हैं। वालि का आचरण उसके स्वभाव के अनुरूप था। दैन्य और पलायन को उसने कभी स्वीकार नहीं किया था। उसका आचरण किसी राजनीतिज्ञ के समान नहीं केवल योद्धा के रूप में होता है। उसने यह विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी कि सुग्रीव जैसा भयग्रस्त व्यक्ति आज स्वयं अपनी ओर से चुनौती देने का साहस कैसे कर रहा है? यह उसके अपने प्रति अगाध आत्म-विश्वास का परिचायक था जिसका जन्म अहंकार से हुआ था। आत्म-विश्वास उत्कृष्ट वस्तु है पर अपनी सामर्थ्य की सीमाओं को जानना सच्चे विवेक का परिचायक है। अहंकार के अतिरेक में व्यक्ति अपने को असीम शक्तिशाली मान बैठता है। यही त्रुटि वालि में थी। किन्तु उसकी बुद्धि-मती पत्नी तारा इस विषय में बहुत सजग थी। उसने इस बीच घटित होने वाली सारी घटनाओं का पता पा लिया था। इसलिए वह वालि को सचेत करने का प्रयास करती है। उसने स्पष्ट शब्दों में वालि का ध्यान समस्या की गम्भीरता की ओर आकृष्ट किया, "पतिदेव! सुग्रीव की जिनसे मित्रता हुई है वे दोनों भाई तेज और बल की सीमा हैं; अयोध्या नरेश के पुत्र राम और लक्ष्मण काल को भी जीतने में समर्थ हैं :"

सुनत वालि क्रोधातुर धावा।
गहि कर चरन नारि समुझावा॥
सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा।
ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा।
कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥

वालि विनम्रता और विवक से भरी हुई इस वाणी को अस्वीकार कर देता है। तारा को उत्तर देते हुए उसे 'भीरु' कहकर सम्बोधित करता है। इस शब्द के द्वारा वह तारा की भर्त्सना करता हुआ सा प्रतीत होता है। उसका तात्पर्य यह था कि मुझ जैसे अभय व्यक्ति की पत्नी को भीरु नहीं होना चाहिए। वालि की दृष्टि में भय एक दुर्गुण है और अभय सर्वोत्कृष्ट गुण। किन्तु वह अहंकार जन्य अभय और विवेक से उत्पन्न अभय के अन्तर को नहीं जानता है। आत्मा की नित्यता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अभय वृत्ति ही सच्ची अभय वृत्ति है। किन्तु अनित्य शरीर को सर्वशक्तिमान मानकर जिस अभय वृत्ति का जन्म होता है वह वस्तुतः अहंकार मात्र है। वालि के जीवन में यह अहंकार भरपूर मात्रा में विद्यमान था, इसलिए वह तारा को यह समझाने का प्रयास करता है कि उसकी तुलना में मेरा ज्ञान कहीं ऊंचा है। तारा ने राम की अतुलित सामर्थ्य का वर्णन किया था, वालि ने इससे आगे बढ़कर उनके ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया। वह कहता है "भीरु

तारा श्री राम ईश्वर होने के कारण समदर्शी है। इसलिए उनके द्वारा सुग्रीव का पक्ष लिए जाने की कोई सम्भावना नहीं है। पर यदि वे कदाचित् मार ही दें तो मैं सनाथ हो जाऊंगा :"

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहीं तौ पुनि होउँ सनाथ ॥

साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वालि एक उच्चकोटि का ज्ञानी था। किन्तु वालि की मन:स्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका यह ज्ञान भी अहंकारजन्य भ्रान्तियों से भरा हुआ था। केवल किसी सत्य को वाणी से दोहरा देना ही ज्ञान नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि इस ज्ञान का सम्वन्ध अनुभूति से है अथवा यह केवल वाहर से थोप लिया गया है। यदि ज्ञान का सम्बन्ध केवल बुद्धि, तर्क और वाणी से होता तो ज्ञान दीपक प्रसंग में ज्ञानोपलब्धि के जिए जिस लम्वी और कठिन प्रक्रिया का वर्णन किया गया है उसकी आवश्यकता न होती। पर उस प्रक्रिया का तात्पर्य सत्य को अनुभूतिजन्य बनाना है। राम के जिस रूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगियों के द्वारा समाधि में प्रविष्ट होने का प्रयास किया जाता है उस ज्ञान को वालि जीवन में किसी परिवर्तन और साधना के ही पा लेने का दावा करता है। फिर उसका यह ज्ञान भी अधूरा और भ्रान्तियों से भरा हुआ है। ब्रह्म का प्रतिपादन निर्गुण, निराकार और द्रष्टा के रूप में किया गया है, पर जव वह सगुण-साकार ईश्वर के रूप में अवतरित होता है तव वह अनन्त गुण-गण निलय के रूप में स्वीकार किया जाता है। उसमें अनन्त गुण-गणों का निवास तो है ही उसका वर्णन अखिल विरुद्ध धर्माश्रय के रूप में भी किया गया है। अर्थात् समस्त विरोधी गुण और धर्म उसमें एकसाथ निवास करते हैं। किन्तु वालि उनके अगणित गुणों में केवल समदर्शित्व का ही स्मरण करता है। इस स्मृति के पीछे भी वालि की आत्मप्रवंचना ही कार्य कर रही थी। ईश्वर के समदर्शित्व के माध्यम से वह स्वयं को यह सोचकर निश्चिन्त वनाने का प्रयास करता है कि समदर्शी ईश्वर पाप और पुण्य में किस प्रकार भेद कर सकता है। इसलिए पाप करते हुए ईश्वर से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसने यह भुला दिया कि समदर्शित्व ही नहीं न्याय-परायणता और कर्मफलदातृत्व भी उसी के गुण हैं। वह तो केवल ऐसे गुण की चर्चा करता है जिसमें उसे मनमानी करने की छूट रहे। पर श्री राम को समदर्शी कहते हुए भी कहीं न कहीं वह अपने अन्तर्मन में अपनी आत्म-प्रवंचना को समझता है। इसलिए वह समत्व की धारणा में भी अडिग नहीं रह पाता। वह क्षण भर के लिए यह मान लेता है कि कदाचित् राम के हाथों से उसका वध भी हो सकता है, किन्तु उसमें भी वह तारा को लाभ दिखाने की चेष्टा करता है। उसका यह कथन कि वध के द्वारा मैं सनाथ हो जाऊंगा उसकी वास्तविकता से पलायन करने की प्रवृत्ति को ही प्रकट करता है। ईश्वर के स्वरूप को जानने का फल है उसके प्रति भक्ति और प्रीति का उदय होना। किन्तु वह सेवा और प्रीति के मार्ग से भाग खड़ा होता है। वह केवल

स्वयं को यह भुलावा देकर सन्तुष्ट हो जाता है कि मैं इसमें भी घाटे में नहीं रहूंगा। उसके जीवन में न तो ज्ञान का अमानत्व ही था और न ही भक्ति का समर्पण और विश्वास ही। इसलिए वह तारा की प्रेरणा को अस्वीकार करता हुआ सुग्रीव से लड़ने के लिए चल पड़ता है। संघर्ष के प्रथम दौर में वह सुग्रीव को पराजित करने में सफल होता है पर इससे उसका अहंकार और भी अधिक बढ़ जाता है। वह न तो विजेता बनकर किष्किन्धा ही लौटता है और न ही सुग्रीव को मारने की चेष्टा करता है। वह स्थिर भाव से रुके रहकर प्रतीक्षा करता हुआ दिखाई देता है। बालि की इस चेष्टा में उसके अन्तर्मन के अहंकार को पहिचाना जा सकता है। यह श्री राम के लिए चुनौती थी। उसे यह ज्ञात था कि इस युद्ध-क्षेत्र के निकट ही राम सारी घटनाओं का निरीक्षण कर रहे हैं। वह सुग्रीव पर प्रहार के बाद उसे यह चुनौती देता हुआ-सा प्रतीत होता है कि "अब मैं तुमसे क्या लड़ूं ? अब तो तुम उस आश्रय-दाता को ही बुलाकर ले आओ जिसके बल से हमें चुनौती देने का प्रयास कर रहे थे।" युद्ध के पहले दौर में श्री राम का हस्तक्षेप न करना उनकी न्यायवृत्ति का ही परिचायक है। वे बालि तो अपनी उपस्थिति का भान करा देना चाहते थे। वे बालि को समय देते हैं कि वह अपने कार्य पर पुनर्विचार करे। वे यह भी देखना चाहते थे कि प्रथम दौर में विजय के पश्चात् बालि पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है ? इस विजय से बालि का अहंकार और भी अधिक वृद्धिगत हो गया।

दूसरी ओर प्रहार से संत्रस्त सुग्रीव श्री राम के पास लौट जाते हैं। उन्हें आश्चर्य और दुःख था कि इस युद्ध में राघव के हस्तक्षेप क्यों नहीं किया ? बालि-वध की प्रतिज्ञा करते हुए भी वे तटस्थ द्रष्टा क्यों बने रहे ? उन्हें लगा कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि 'गालि परमहित जासु प्रसादा' कहकर मैंने वैराग्य का जो क्षणिक प्रदर्शन किया था उस प्रतिक्रिया के कारण ही राम तटस्थ और उदासीन हो गए हों। इसलिए वे अपने क्षणिक वैराग्य पर पश्चाताप करते हुए अपने शब्दों को वापस ले लेते हैं, वे साफ-साफ शब्दों में यह स्वीकार कर लेते हैं कि बालि उसका बन्धु न होकर साक्षात् काल है :

भिरे उभौ बाली अति तर्जा।
मुठिका मारि महाधुनि गर्जा ॥
तब सुग्रीव बिकल होइ भागा।
मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा ॥
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला।
बंधु न होइ मोर यह काला ॥

इस तरह इस विलम्ब के द्वारा जहां बालि का वास्तविक रूप सामने आ गया वहीं सुग्रीव को भी अपनी वास्तविकता समझने का अवसर मिला। वे अपनी वैराग्य की क्षणिकता से परिचित हो गए और उन्हें यह लगने लगा कि वैराग्य का वह प्रदर्शन मेरा दम्भ मात्र था। यदि प्रथम संघर्ष में ही राम बालि का वध कर देते तो सुग्रीव की आत्म-प्रवंचना की वृत्ति और भी अधिक आगे बढ़ जाती। तब वे यही

सोचते कि मैं पूरी तरह निष्काम था, यह संघर्ष तो मैंने अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु राघव की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए किया है। इस तरह श्री राम सुग्रीव के चरित्र में साधना के तत्त्व का समावेश करते हैं। साधक आत्म-प्रवंचना से मुक्त होकर सजग आत्म-निरीक्षण के द्वारा अपनी त्रुटियों को समझकर उनसे मुक्त होने का प्रयास करता है। सुग्रीव की विनम्रता भरी वाणी सुनकर प्रभु अपने कर कमलों के स्पर्श के द्वारा उन्हें पीड़ा से मुक्त कर देते हैं। उनके शरीर में नये वल का संचार करते हुए उन्हें पुनः युद्ध की दिशा में उन्मुख करते हैं। यह सुग्रीव के जीवन में क्रमिक विकास की प्रक्रिया है। सुग्रीव प्रारम्भ से ही पलायनवादी थे पर उस समय के पलायन के साथ-साथ उनके जीवन में भटकाव था, और वे आश्रय के लिए सारे विश्व में जहां-तहां दौड़ते रहे। पलायनवाद तो उनमें अब भी विद्यमान था किन्तु अब उनके जीवन में आश्रय को लेकर कोई समस्या न थी। उन्हें यह भली भांति ज्ञान हो चुका था कि सारी समस्याओं का समाधान ईश्वर के आश्रय में ही है। इतलिए वालि के प्रहार के पश्चात् भागकर वे राम के आश्रय में चले आते हैं। इसके साथ ही जहां वे केवल अव तक जीवन में सुरक्षा के लिए ही व्यग्र रहते थे वहां अब उनमें अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रवृत्ति का भी उदय हो चुका है। वालि के समक्ष एक बार पराजित होने के पश्चात् भी वालि से पुनः लड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाना उनकी राम के प्रति उदित आस्था का परिचायक है। इस तरह सुग्रीव साधना की दीक्षा में दीक्षित हो गए। उनके कंठ में श्री राम के द्वारा पहिनाई जाने वाली माला में यही प्रतीकात्मक संकेत छिपा हुआ है। प्रारम्भ में राघवेन्द्र ने सुग्रीव से यह कहा था कि तुम दोनों भाइयों की एक जैसी आकृति के कारण ही मैं वालि को पहचानने में असमर्थ रहा। इसीलिए मैंने वाण का प्रहार नहीं किया। इस दृष्टिकोण से यह माला परिचय-चिह्न थी जिसके द्वारा वे दोनों भाइयों में भेद कर सकें। पर तात्त्विक दृष्टि से श्री राम की वाणी में अनेक संकेत छिपे हुए थे। इसके द्वारा जहां सुग्रीव को यह संकेत दिया जाता है कि अनेक दुर्गुण ऐसे हैं जो उनमें और वालि में समान रूप से विद्यमान है ऐसी स्थिति में वे यह कैसे आशा रख सकते हैं कि उनका पक्ष लेकर वालि का वध किया जाएगा। दूसरी ओर यह वालि के भाव के प्रति भी समादर की अभिव्यक्ति थी। वालि ने तारा के समक्ष उनके समदर्शित्व का वर्णन किया था। इस तटस्थता के द्वारा उन्होंने अपने समदर्शित्व का ही परिचय दिया। पर अव सुग्रीव के कण्ठ में पहिनाई गई माला परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रकट करने वाली है। जहां वालि प्रथम विजय के पश्चात् उद्धत अभिमानी और अधिक आत्म-प्रवंचक वन गया है वहां सुग्रीव विनम्र, सरल और ईश्वर के प्रति समर्पित हो चुके हैं। सुमन की यह माला श्लेषात्मक अर्थों में सुग्रीव के सुमन की भी परिचायिका है। इस तरह सुग्रीव और वालि का युद्ध इस पृष्ठभूमि में पुनः प्रारम्भ होता है। सुग्रीव साधना की दिशा में क्रमशः अग्रसर हो रहे थे पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अपनी समस्त मानसिक दुर्बलताओं से मुक्त हो चुके थे। इसका एक प्रमाण तव मिला कि जब वे वालि से पुनः युद्ध करने

लगे। वे ईश्वर से नया बल लेकर युद्ध करने आए पर इस ईश्वरीय बल के साथ अपने छल का मिश्रण करना उन्होंने आवश्यक समझा। यह अपने कर्तृत्व का अहंकार था जिससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। उन्होंने यह मान लिया कि बल के साथ छल के मिश्रण से वे और भी अधिक शक्तिशाली हो जाएंगे। जबकि सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। ईश्वर विश्वास के साथ अहंकार का मिश्रण सम्भव ही नहीं है। प्रकाश और अन्धकार के समान ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं। छल का आश्रय लेते ही बल व्यर्थ हो गया और उन्हें बालि के समक्ष पुनः पराजित होना पड़ा। पर इस बार वे युद्ध-क्षेत्र छोड़कर नहीं भागे। हृदय में उन्होंने पराजय का अनुभव करते हुए ईश्वर का स्मरण किया और इसका परिणाम तत्काल सामने आया, श्री राम के बाण से बालि तत्काल धराशायी हो गया :

एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ।
तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥
कर परसा सुग्रीव सरीरा।
तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥
मेली कंठ सुमन कै माला।
पठवा पुनि बल देइ बिसाला॥
पुनि नाना बिधि भई लराई।
बिटप ओट देखहिं रघुराई॥
बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब हृदय माझ सर तानि॥

बालि पर प्रहार करने के पश्चात् श्री राघवेन्द्र उसके समक्ष जाकर खड़े हो जाते हैं। साधारणतया युद्ध के अन्य प्रसंगों में राम के द्वारा असुरों के सिर काटे जाने का उल्लेख किया गया। इस प्रसंग में भी इसी की पुनरावृत्ति हो सकती थी किन्तु रामभद्र ने ऐसा नहीं किया। वे ऐसे बाण का प्रयोग करते हैं जो बालि के हृदय में बिंध जाता है। उससे बालि की तत्काल मृत्यु भी नहीं होती है। प्राण का परित्याग करने से पहले उसका प्रभु से एक लम्बा वार्तालाप होता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि राघव बालि को रावण और कुम्भकर्ण की श्रेणी में नहीं स्वीकार करते हैं। यद्यपि रावण और कुम्भकर्ण का वध करने के लिए भी वे उत्सुक नहीं थे किन्तु वे अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि रावण और कुम्भकर्ण के जीवन में परिवर्तन कर पाना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्हें कठोर बाणों के प्रहार से विनष्ट करने में वे संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। फिर भी रावण पर प्रहार करने से पहले उसे भी भिन्न-भिन्न माध्यमों से बदलने की चेष्टा की गई थी पर वह ऐसी स्थिति में पहुंच चुका था जहां औषधि नहीं शल्य-चिकित्सा की ही आवश्यकता थी। बालि का चरित्र असुरों की तुलना में भिन्न प्रकार का है : उसे संसार को उत्पीड़ित करने में किसी आनन्द की अनुभूति नहीं होती है। विश्व-विजय की महात्त्वाकांक्षा भी उसमें नहीं है। वह रावण के समान संसार से 'सत्कर्मों

को विनष्ट करने के लिए भी सचेष्ट नहीं था। अतिशय आवेश और वदले की भावना से प्रेरित होकर ही उसने सुग्रीव के प्रति घोर अन्याय किया था। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त अन्यायपूर्ण प्रतीत होता कि जहां रावण को वदलने के लिए इतना लम्वा प्रयास किया गया वहां वालि को विना अवसर दिए ही मृत्युदण्ड दे दिया जाए। राघवेन्द्र समुचित प्रशिक्षण के लिए दण्ड के महत्त्व को स्वीकार करते हैं किन्तु दण्ड की तुलना में वे दया को ही अधिक गौरव प्रदान करते हैं। आगे चलकर यह स्पष्ट हो जाता है कि वालि को मृत्युदण्ड देना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं था। वे तो उसके हृदय में परिवर्तन चाहते हैं। किन्तु इस परिवर्तन की प्रक्रिया के लिए भी उसपर प्रहार करना अत्यन्त आवश्यक था। वह अपने जीवन में कभी असफल और पराजित नहीं हुआ था इसलिए उसके जीवन में अहंकार चरम शिखर पर पहुंच चुका था। इस अहंकार के शिखर पर आरूढ़ होने के कारण ही वह पत्नी के उपदेश की उपेक्षा करता है। सुग्रीव पर प्रथम संघर्ष में विजय प्राप्त करने के पश्चात् उसका अहंकार और भी अधिक वढ़ जाता है। वालि के जीवन में सही समझ लाने के लिए उसे इस अहंकार के शिखर से उतारना आवश्यक था। वालि के हृदय पर किया जानेवाला वाण का प्रहार वस्तुतः उसके अहंकार पर ही प्रहार था। उसके पृथ्वी पर गिरते ही राम का उसके समक्ष आ जाना उसके जीवन दर्शन के अनुकूल ही था। वे यह दिखा देना चाहते थे कि परिवर्तन की प्रक्रिया की कोई सीमा नहीं है। मृत्यु के निकट पहुंचकर भी व्यक्ति पश्चात्ताप के माध्यम से दया का पात्र वन सकता है। इस वार्तालाप का उद्देश्य भी यही था। कभी-कभी व्यक्ति कुछ हीं क्षणों में कैसे परिवर्तित हो जाता है इसका दृष्टान्त वालि और प्रभु का वार्तालाप है।

राघवेन्द्र को अपने सामने देखते ही वालि उन पर आरोपों की झड़ी लगा देता है। वह सवसे पहले यह स्वीकार करता है कि उसकी दृष्टि में राम एक राजकुमार अथवा व्यक्ति नहीं हैं वे धर्म-रक्षा के लिए अवतरित साक्षात् ईश्वर हैं। पर इसके पश्चात् उसका आरोप यह था कि जो स्वयं धर्म की रक्षा के लिए अवतरित हुआ है उसे अपने जीवन में भी धर्माचरण का पालन करना चाहिए। श्री राम के द्वारा छिपकर वाण का प्रहार किया जाना उसकी दृष्टि में धर्म के अनुकूल नहीं था। अतः उसका प्रथम आक्षेप इसी विषय में था। दूसरा आक्षेप उसका राम के व्यवहार की विषमता को लेकर था। सारे शास्त्र ईश्वर के समत्व का प्रतिपादन करते हैं, ऐसी स्थिति में वह राम से ऐसे विषम व्यवहार की आशा नहीं रखता था। इसलिए वह यह जानना चाहता था कि उसमें और सुग्रीव में भेद क्यों किया गया? एक को मित्रता और दूसरे को वध का पात्र क्यों माना गया?

परा बिकल महि सर के लागे।
पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे॥
स्याम गात सिर जटा बनाएँ।
अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ॥

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा।
सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥
हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा।
बोला चितइ राम की ओरा॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं।
मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ते हुए उसके विचित्र विरोधाभास पर दृष्टि जाना स्वाभाविक है। इन आरोपों को लगाते समय वालि की मनःस्थिति का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उससे इन आरोपों की कोई संगति प्रतीत नहीं होती। गोस्वामी जी उसका एक ऐसे भक्त के रूप में चित्रण करते हैं जिसके अन्तर्मन से भगवान् राम के प्रति भक्ति और प्रीति है। कठोरता केवल उसकी वाणी में ही दिखाई देती है। इन पंक्तियों में उसके व्यक्तित्व का द्वैत उभरकर सामने आ जाता है। यह द्वैत उसमें प्रारम्भ से ही विद्यमान है। देवराज इन्द्र के अंश से उद्‌भूत होने वाला वालि पुण्य और सत्कर्म का प्रतीक है। दूसरी ओर बदला लेने के फेर में वह जो आचरण करता है वह धर्म के सर्वथा विपरीत है। एक ओर वह श्री राम को ईश्वर स्वीकार करता है दूसरी ओर भक्ति और समर्पण के स्थान पर आश्रित सुग्रीव के ऊपर प्रहार करने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करता। यही द्वैत उसके वार्तालाप में भी परिलक्षित होता है। हृदय में प्रीति होते हुए भी वह राम पर आरोपों की झड़ी लगा देता है। इसे विवेक और अभ्यास का संघर्ष कह सकते हैं। जिसे उसका विवेक ठीक कहता है उसे भी अभ्यास के कारण वह सरलता से स्वीकार नहीं कर पाता है। वह स्वयं अपने आप में संघर्षरत है। श्री राम के द्वारा दिए गये उत्तर से उसका यह द्वैत विनष्ट हो जाता है। प्रभु का उत्तर इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया :

अनुजबधू भगिनी सुतनारी।
सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई।
ताहि बधें कछु पाप न होई॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करसि न काना॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।
मारा चहसि अधम अभिमानी॥

श्री रामभद्र के द्वारा जो उत्तर दिया गया उसके मूल सूत्र वालि के आरोप में विद्यमान थे। यदि उन्हें एक राजकुमार के रूप में स्वीकार करते हुए आरोप लगाये होते तो उसके आरोप अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध होते। युद्ध धर्म की एक

मर्यादा है और प्रत्येक योद्धा को उसे स्वीकार करना चाहिए। युद्ध में किसी पर छिपकर प्रहार करना मर्यादा के प्रतिकूल है। इसलिए राघवेन्द्र का वालि को छिप कर मारना युद्ध मर्यादा का अतिक्रमण था पर बालि ने उन्हें ईश्वर मानकर, अपने ही तर्कों को अपने विरुद्ध प्रयुक्त किये जाने का अवसर दे दिया। क्योंकि यदि वे ईश्वर हैं तो मानवीय मर्यादाएं उनके लिए बाध्यता नहीं बन सकती हैं। व्यक्ति काल और देश की सीमा में आवद्ध होने के कारण उसके अनुकूल चलने के लिए वाध्य है। वह जिस देश में निवास करता है उसके संविधान से वंधा हुआ है। काल की मर्यादा का अतिक्रमण करने में भी वह असमर्थ है। पर जो सर्वदेश और सर्व-काल में निवास करता हुआ भी देश अथवा कालातीत है उसके आचरण को किस कसौटी पर परखा जा सकता है? इसलिए उसे सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र कहा जाता है। देवर्षि नारद की भाषा में वह 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई' है। अत: ईश्वरत्व की स्वीकृति के वाद वालि का आरोप स्वयं संविधान के प्रतिकूल सिद्ध होता है। ईश्वर सृष्टि का सृजन और पालन ही नहीं संहार भी करता है। उसके द्वारा किया जाने वाला संहार भौतिक युद्ध की मर्यादा के अनुकूल होता भी नहीं है। वह तो सृष्टि का संहार भी निरन्तर छिप कर ही करता है। काल के कोदण्ड पर समय सीमा के वाण चलाता हुआ वह निरन्तर संहार में सन्नद्ध है। अत: अगणित जीवों का छिपकर संहार करने वाला ईश्वर यदि वालि पर छिपकर ही प्रहार करता है तो इसमें भी आश्चर्य की क्या वात है। वालि यह कह सकता है कि ईश्वर को भी अवतरित होने के पश्चात् मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। क्षत्रिय जाति में जन्म लेने के पश्चात् उन्हें भी क्षात्र-धर्म का ही पालन करना चाहिए पर इस तर्क में भी बालि हार गया, क्योंकि वह अवतार के उद्देश्य की व्याख्या करना नहीं भूलता। ईश्वर का अवतार क्यों होता है इसका उत्तर देना सरल नहीं है। मानसाचार्य भगवान् शिव भी दावे से इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थता का ही ज्ञापन करते हैं। देवाधिदेव की दृष्टि में धर्म की रक्षा और अधर्म का विनाश ही ईश्वर के अवतार का मुख्य उद्देश्य है। उनमें एक को बालि भी स्वीकार कर लेता है :

हरि अवतार हेतु जेहि होई।
इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।
मत हमार अस सुनहि सयानी॥
तदपि संत मुनि बेद पुराना।
जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही।
समुझि परइ जस कारन मोही॥
जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥

करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

वालि ने 'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं' कहकर इसी मान्यता को निर्विवाद रूप में स्वीकार कर लिया है। इस मान्यता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् राम के सामने उत्तर देने की कोई समस्या शेष नहीं रह गई। वे स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि मैंने अवतार के उद्देश्य की पूर्ति के लिए तुम्हें मृत्युदंड दिया है। तुम्हारा आचरण धर्म के प्रतिकूल था इसलिए तुम्हें दण्ड देना भी अनिवार्य था। दण्ड और युद्ध में कोई साम्य नहीं है। युद्ध के विधान दण्ड प्रक्रिया पर लागू नहीं होते हैं। जब एक न्यायाधीश किसी को उसके अपराध के लिए मृत्युदण्ड देता है तब एक अपराधी उससे यह आशा नहीं कर सकता कि वह शस्त्र लेकर उसे लड़ने की चुनौती देगा। इसलिए वालि के तर्क के आधार पर 'ताहि वधे कछु पाप न होई' कहकर प्रभु अपने कार्य को युक्तिसंगत सिद्ध कर देते हैं। फिर उन्हें धर्म-रक्षक स्वीकार कर लेने के पश्चात् उनसे यह आशा करना कि वे धार्मिक और अधार्मिक दोनों को ही समदृष्टि से देखेंगे सर्वथा असंगत है। तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर भले ही सम हो पर अवतार काल में व्यावहारिक दृष्टि से यह समत्व सम्भव नहीं है। जब उसका कार्य सन्त संरक्षण और अधार्मिकों को दण्ड देना है तब व्यवहार में विषमता स्वीकार किए बिना वह किसी का वध भी कैसे कर सकता है? वालि ने अपने जीवन और आचरण को भुलाकर सारा ध्यान केवल छिपकर मारने के प्रश्न पर ही केन्द्रित कर दिया था। श्री राम ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि छिपकर मारने का यह आरोप भी वास्तविकता के विपरीत है। छिपकर मारने की वास्तविक सार्थकता तब होती जब वालि को श्री राम की उपस्थिति का भान न होता। वालि को युद्ध के पहले से भी उनकी उपस्थिति का ज्ञान था। इसके बाद भी अपनी उपस्थिति की सूचना देने के लिए ही वे पहले दौर में हस्तक्षेप न करने के बाद सुग्रीव के कण्ठ में पुष्पमाला पहना देते हैं। पर वालि इन सारे संकेतों को अनदेखा कर देता है। देखने का साधन केवल दृष्टि ही नहीं है; व्यक्ति अगणित वस्तुओं को प्रत्यक्ष न देखकर भी अनुमान आदि प्रमाणों से देख लेता है। अग्नि को प्रत्यक्ष न देखकर भी वह दूर से धुआं उठता देखकर अग्नि की उपस्थिति का निर्णय कर लेता है। इस तरह भौतिक जगत् में भी केवल प्रत्यक्ष दर्शन ही प्रमाण नहीं माना जाता है। फिर ईश्वर की सत्ता के विषय में तो कहना ही क्या? प्रत्यक्ष प्रमाणवादी के लिए तो ईश्वर की सत्ता ही अप्रमाणिक है। ईश्वर को देखने के लिए जिस दृष्टि की अपेक्षा है उसका नाम है श्रद्धा और विश्वास 'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्' कहकर मानस में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन

किया गया है। फिर राम के ईश्वरत्व के दावे के बाद यह कहना कि वे छिपे हुए थे और मुझे उनकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं था स्वयं अपने आप में ही असंगत था। इसलिए रामभद्र बालि को यह स्पष्ट शब्दों में बता देते हैं कि तुम्हारा यह कथन केवल प्रवंचना मात्र है। तुम मेरे स्वरूप और मेरी उपस्थिति को तो जानते ही थे। इससे भी आगे बढ़कर तुम्हें भली भांति ज्ञान था कि तुम जिस पर प्रहार कर रहे हो वह मेरी शरणागति ग्रहण कर चुका है। फिर भी,तुमने उसको मार डालना चाहा इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान की तुलना में तुम्हारा अभिमान ही अधिक शक्तिशाली है। तारा के द्वारा दिए गए ज्ञान की अवहेलना भी तुम्हारे अभिमानी स्वभाव का बहुत बड़ा प्रमाण है। अपनी इस अभिमानी प्रकृति के कारण ही तुम अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने के स्थान पर मुझ पर झूठे आरोप लगा रहे हो। रामभद्र की इस उद्बोधक वाणी को सुनते ही बालि का अभिमान विनष्ट हो जाता है। उसे अपने अपराध और अपनी असंगतियों का स्पष्ट दर्शन होता है। और इसके बाद तो वह अत्यन्त विनम्र स्वर में अपनी त्रुटियों को स्वीकार करता हुआ कृपा की याचना करता है :

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अन्तकाल गति तोरि॥

बालि के इन वाक्यों का भगवान राम पर असाधारण प्रभाव पड़ता है और वे द्रवित होकर बालि को जीवन-दान देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। बालि वध की अपनी प्रतिज्ञा को भुलाकर वे उससे यह अनुरोध करते दिखाई देते हैं। बालि के मस्तक पर कर कमल स्थापित करने के बाद वे स्निग्ध स्वर में उससे कहते हैं कि "मैं तुम्हारे शरीर को अचल कर देना चाहता हूं, प्राण-रक्षा की बात तुम स्वीकार करो" किन्तु अब बालि में इतना परिवर्तन आ चुका था कि वह अत्यन्त विनम्रता और भावुकता भरे स्वर में इस लाभ को अस्वीकार कर देता है। यह वह लाभ था जिसकी प्राप्ति के लिए अगणित व्यक्ति व्यग्र रहते हैं। बालि ने इन क्षणों में जिस त्यागवृत्ति का परिचय दिया वह विश्व के अगणित महापुरुषों में से किसी एक विरले व्यक्ति में दिखाई देती है। ईश्वर द्वारा शरीर को अचलता का वरदान प्राप्त करने की लालसा किस व्यक्ति में न होगी? इस प्रकार के वरदान में प्रभु की अनन्त कृपा का भान होगा, पर बालि की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। इस वरदान को देने के लिए प्रस्तुत प्रभु के स्वर में उसे समग्र कृपा की अनुभूति नहीं होती है। उसे तो ऐसा लगता है कि जैसे उसके देहाभिमानी स्वभाव को दृष्टिगत रखकर ही प्रभु ने उससे ऐसा वरदान मांगने के लिए कहा है। पर वह यह स्पष्ट कर देता है कि आज वह इस प्रकार की कामना से मुक्त हो चुका है। उसे ऐसा लगता है कि यह याचना तो वही दुष्ट व्यक्ति कर सकता है जो कल्पतरु को काट-कर बबूल की बाड़ के लिए प्रयुक्त करने में संकोच का अनुभव न करता हो। कम-से-कम वह स्वयं को इस कोटि में नहीं रखना चाहता। वह प्रभु से भाव भरे स्वर में अनुरोध करता है कि "प्रभु अपनी करुणा भरी दृष्टि मुझपर डालें।" और आज

तो वह स्वार्थ की बात भूलकर परमार्थ और मुक्ति की आकांक्षा से भी मुक्त हो चुका है। वह चाहता है कि उसके कर्मों के अनुरूप उसे जन्म प्राप्त होते रहें किन्तु वह कहीं भी जन्म क्यों न ले मन, वचन, कर्म से प्रभु के चरणों में उसकी प्रीति बनी रहे। वह अंगद को भी शरणागति और समर्पण के पथ पर अग्रसर होता देखना चाहता है। इसलिए उसका हाथ पकड़कर प्रभु के कर कमलों में अर्पित करता हुआ यह अनुरोध करता है कि उसे अपने दासत्व में स्वीकार करें :

सुनत राम अति कोमल बानी।
बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना।
बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥
जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं।
अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी।
देत सबहि सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा।
बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥
मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुर तरु बारि करिहि बबूरही॥
अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ।
जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥
यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में वालि की जो भावनाएं अभिव्यक्त हुई हैं उन्हें पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति को उसमें जिस उदात्त भावना का दर्शन होता है उससे वह एक महान सन्त के रूप में प्रतीत होता है। निश्चित रूप से वालि अपने सारे जीवन में सन्तत्व से कोसों दूर था। पर मृत्यु के इन क्षणों में केवल एक छलांग में वह कितनी दूरी पूरी कर लेता है इसे देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। जीवन के प्रारम्भिक भाग में सुग्रीव का जीवन वालि की तुलना में कहीं अधिक निर्दोष है किन्तु साधना की प्रक्रिया में वह क्रमशः बहुत धीमी गति से आगे बढ़ता है। इसके प्रतिकूल अनेक दुर्गुणों के होते हुए भी वालि कुछ ही क्षणों में साधन जगत में सुग्रीव को कोसों पीछे छोड़ता हुआ चरम-सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इसकी व्याख्या कई रूपों में की जा सकती है। सुग्रीव में वालि की तुलना में अत्यल्प अहंकार है। वे प्रारम्भ से ही भीरु थे। इसलिए उनके जीवन में ईश्वर की आवश्यकता का बोध सहज था पर इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी आस्तिकता विवेकजन्य न होकर

भीरुताजन्य थी। इसके प्रतिकूल निर्भय वालि किसी भय अथवा प्रलोभन से प्रेरित होकर ईश्वर को स्वीकार नहीं करता है। ईश्वर के प्रति उसकी प्रीति भी विवेक से ही प्रेरित है, उसके जीवन का अहंकार ही उसके ईश्वर के प्रति भक्ति और समर्पण के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध था जिसे प्रभु ने स्वयं अपने कृपामय प्रहार के द्वारा विनष्ट कर दिया। ऐसी स्थिति में उसका सुग्रीव से वाजी मार ले जाना सर्वथा स्वाभाविक था। दूसरा अन्तर यह था कि जहां जीवन में भोगों को भोगता हुआ वालि उनसे तृप्ति का अनुभव कर चुका था वहां सुग्रीव में भोग-लालसा शेष थी। अपने विनम्र और अनुगामी स्वभाव के कारण वालि के शासन में रहते हुए उन्होंने भोगों को खुल कर भोगा ही नहीं था। वाद में वालि के द्वारा सम्पत्ति और पत्नी से वंचित कर दिए जाने के कारण उनकी भोग-लालसा अवशिष्ट रह गई थी। इसलिए जहां वालि के लिए राग से विराग की भूमि में पहुंचना सरल हो गया वहां सुग्रीव स्वयं को राग की भूमि से मुक्त नहीं कर पाते हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण कारण है 'काल'। वालि में अकस्मात् परिवर्तन मृत्यु के क्षणों में आता है। भोग और वैभव से घिरा हुआ व्यक्ति मृत्यु का अनदेखा करता हुआ प्रमाद की मदिरा पीकर उन्मत्त हो जाता है। पर मृत्यु के अद्‌भुत क्षणों में जीवन के शाश्वत सत्य के सामने आते ही नशा उतर जाता है। बालि ने न केवल मृत्यु का साक्षात्कार किया था अपितु उसके समक्ष पुनर्जीवन का द्वार खुला हुआ था। पर ममता और आसक्ति से मुक्त उसका मन मृत्यु में जिस सार्थकता का अनुभव कर रहा था उसकी तुलना में पुनः जीवित होकर पुरातन जीवन में लौटना उसे व्यर्थ प्रतीत होता है। बहुधा व्यक्ति के समक्ष मृत्यु एक विभीषिका के रूप में आती है। पर उसके समक्ष साक्षात् ईश्वर खड़ा था। मृत्यु का प्रेरक वाण उसी ने चलाया था उसने मृत्यु और जीवन दोनों के पीछे ईश्वर का हाथ देखा। प्रभु ने जिन हाथों से बालि पर वाण प्रहार किया था वे ही हाथ अमरता का आग्रह करते हुए अब वालि के मस्तक पर थे, परन्तु उसे इन दोनों स्थितियों में अन्तर प्रतीत हुआ। बाण का प्रयोग करते समय प्रभु ने दोनों हाथों का प्रयोग किया था पर इस समय तो केवल दाहिना हाथ ही सिर पर था। दक्षिण-वाम दोनों अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रतीक हैं। केवल अनुकूलता में ही ईश्वर की कृपा का अनुभव करना उसकी कृपा की पूर्णता को भुला देना है। वालि को वह पूर्ण दृष्टि प्राप्त हो गई थी। मुक्ति की आकांक्षा का अभाव भी इसी पूर्ण दृष्टि का प्रमाण है। उसे इस सारे विश्व के कण-कण में ईश्वर के साक्षात्कार की अनुभूति होती है। यह संसार उसे प्रभु के लीला-विलास के रूप में दिखाई देने लगा इसलिए वह मुक्ति किससे चाहे। वह यदि इस शरीर की रक्षा के लिए प्रस्तुत नहीं होता तो इसके पीछे भी सुग्रीव के प्रति किए गए अन्याय के परिमार्जन की आकांक्षा ही काम कर रही थी। वह जानता है कि उसकी मृत्यु के बाद ही सुग्रीव सिंहासन पर बैठ पावेंगे, यही उसे अभीष्ट था। वह अंगद के उत्तराधिकार के लिए उत्सुक नहीं था इसलिए वह प्रभु से उन्हें सेवा में रखने का अनुरोध करता है। इस तरह अहंकार मुक्त अनासक्त वालि, प्रभु के चरणों में तल्लीन होकर प्राणों

का परित्याग कर पूर्ण कृतकृत्यता का अनुभव करता है। वह देहाध्यास से ऊपर उठ चुका था। इसलिए उसे शरीर का परित्याग करते हुए अपने त्याग का भी आभास नहीं होता। ठीक उसी तरह जैसे कण्ठ में पड़ी हुई पुष्पमाला के गिर जाने का भान गजराज को नहीं होता :

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

इस तरह महाभाग वालि का उपाख्यान समाप्त हो जाता है पर सुग्रीव की गाथा अभी अवशिष्ट थी। वालि-वध के पश्चात् वे किष्किन्धा के सिंहासन पर आरूढ़ किये जाते हैं। किन्तु सन्तुलन की दृष्टि से राघव युवराजपद अंगद को प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं वे सुग्रीव को यह सीख देना भी नहीं भूलते कि वे राज्य संचालन में अंगद से अवश्य सम्मति लें। इसके साथ-साथ उन्हें यह भी स्मरण दिलाया गया कि मैथिली का पता लगाने के कार्य को वे न भुला वैठें। सुग्रीव राज्य पाकर अत्यन्त प्रसन्न थे। वहुत दिनों से भोगों से वंचित उनका मन विषय-सेवन के लिए अत्यन्त उतावला हो रहा था। वे कुछ समय के लिए पूरी तरह स्वतंत्र रहकर सत्ता और विषयों का आनन्द लेना चाहते थे। अन्तर्मन की इस आकांक्षा के कारण ही वे साधारण शिष्टाचार को भी भुला वैठे। उनका यह कर्तव्य था कि वे रामभद्र से किष्किन्धा में चलकर रहने का अनुरोध करते; पर हृदय की तो बात ही दूर, वे वाणी से भी दूर रहे। किन्तु अत्यन्त उदार दृष्टिवाले राघवेन्द्र इससे रंचमात्र बुरा नहीं मानते हैं। वे स्वयं उदासी व्रत में दीक्षित होने के कारण किष्किधा में नहीं जा सकते थे। साथ ही अपने प्रियजनों से विछुड़े हुए सुग्रीव की इस चेष्टा को अत्यन्त स्वाभाविक मानकर वे प्रसन्न रहे। उन्होंने स्वयं अपनी ओर से सुग्रीव को अपने निवास स्थान की सूचना देते हुए ऋतु परिवर्तन का संकेत दिया। "ग्रीष्म ऋतु व्यतीत हो चुकी है वर्षा ऋतु का आगमन हो रहा है इसलिए मैं प्रवर्षण पर्वत पर निवास करूंगा।" रामभद्र का यह वाक्य वड़ा ही सांकेतिक था। वे सुग्रीव को निरन्तर परिवर्तित होने वाले कालचक्र से सावधान रहने का संकेत देते हैं। ग्रीष्म के वाद वर्षा, और वर्षा के पश्चात् शरद् ऋतु का क्रमशः आना अवश्यम्भावी है इसलिए तुम्हें भी इस वदलते हुए कालचक्र का ध्यान रखना चाहिए :

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा।
पुर न जाउँ दस चारि बरीसा॥
गत ग्रीषम बरषा रितु आई।
रहिहउँ निकट सैल पर छाई॥
अंगद सहित करहु तुम्ह राजू।
संतत हृदयँ धरेहु मम काजू॥
जब सुग्रीव भवन फिरि आए।
रामु प्रबरषन गिरि पर छाए॥

किन्तु सुग्रीव इन सब संकेतों को समझने की मनःस्थिति में नहीं थे। उपवास के पश्चात् भोजन के लिए व्यग्र व्यक्ति की भांति भोगों की ओर उनका मन लगा हुआ था। प्रवर्षण पर्वत पर प्रभु के आवास की व्यवस्था करना भी उनके लिए संभव नहीं हुआ। पर उनकी इन सारी चेष्टाओं को रामभद्र पूरी तरह क्षमा की दृष्टि से ही देखते रहे। किन्तु राघव के इस उदार स्वभाव का अनुचित लाभ उठाकर वे विषय-विलास लीला में मन-प्राण से जुट गए। मन्त्रियों को राज्य सौंपकर वे उस ओर से भी पूरी तरह निश्चिन्त हो गए। पर इसकी भी एक सीमा थी। प्रारम्भ में आंजनेय ने भी इसे उसी रूप में देखा था जिस रूप में उनके आराध्य ने देखा था। किन्तु उनका विश्वास था कि कुछ दिनों के पश्चात् वे पुनः संतुलित होकर उस कार्य की दिशा में अग्रसर होंगे, जिसका वचन उन्होंने राघवेन्द्र को दिया था। किन्तु उन्हें यह देखकर निराशा हुई कि सुग्रीव प्रकृतिस्थ होने के स्थान पर विषय-लालसा के प्रवाह में वहते ही जा रहे हैं। और तव, उन्होंने सुग्रीव को इस प्रवाह से निकालने का दृढ़ निश्चय वना लिया। वे सुग्रीव के चरणों में जाकर प्रणाम करते हैं और अपनी ओजस्वी और सशक्त वाणी के द्वारा भविष्य का जो चित्र उपस्थित करते हैं उसे सुनकर सुग्रीव का सारा नशा हिरन हो जाता है। वे भय से कांप उठते हैं, और स्वभाव से विनम्र होने के कारण वे अपनी त्रुटियों को तत्काल स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें अपनी विषय-परायणता पर पश्चात्ताप होता है जिसने उनके ज्ञान का अपहरण कर लिया था। वे आंजनेय से अनुरोध करते हैं कि मैथिली का पता लगाने के लिए तत्काल बन्दरों को विभिन्न दिशाओं में भेजने का प्रवन्ध करें। अपने अनुभव का लाभ उठाते हुए वे समय की सीमा निर्धारित करने का भी आदेश देते हैं। रामभद्र की ओर से सुग्रीव से सीता का पता लगाने का अनुरोध अवश्य किया गया था पर समय की कोई सीमा उसमें निर्धारित नहीं की गई थी। उसी छूट की आड़ में सुग्रीव भोगों में रम गए थे। बन्दरों के जीवन में भी यह भूल दोहराई जाय यह उन्हें अभीष्ट न था। इसलिए प्रत्येक बन्दर को यह आज्ञा दी गई थी कि वह पन्द्रह दिनों में ही अपने उद्देश्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करें। उनके इस आदेश का तत्काल पालन किया गया :

इहाँ पवनसुत हृदयँ विचारा।
राम काजु सुग्रीव बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा।
चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥
सुनि सुग्रीव परम भय माना।
बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥
अव मारुतसुत दूत समूहा।
पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा॥
कहहु पाख महुँ आव न जोई।
मोरें कर ताकर बध होई॥

इधर वर्षा ऋतु व्यतीत हो जाने पर भी सुग्रीव के द्वारा किसी प्रकार के प्रयास की सूचना न प्राप्त होने पर प्रभु का क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। और उन्होंने लक्ष्मण जी के समक्ष अपने इस संकल्प की घोषणा की कि वे कल उसी वाण से सुग्रीव का वध कर देंगे जिसके द्वारा वालि पर प्रहार किया था। उन्होंने वड़े आश्चर्य से यह कहा, "कितनी अद्‌भुत वात है कि राज्यकोष और नारी प्राप्त करने के वाद सुग्रीव ने मुझे भुला दिया।" उग्र नीति के समर्थक लक्ष्मण राघव के आक्रोश से प्रसन्न हुए। किन्तु उन्होंने प्रभु से यह अनुरोध किया कि इस सही निर्णय को कल तक के लिए टालना उपयुक्त नहीं होगा। इसलिए उन्हें आदेश दिया जाय और वे तत्काल जाकर सुग्रीव को दण्डित करें। किन्तु लक्ष्मण की इस आवेश भरी वाणी का उत्तर प्रभु ने वड़े ही प्रशान्त स्वर में दिया जिसे देखकर लक्ष्मण को यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि कौशलेन्द्र के आवेश प्रदर्शन में अभिनय ही अधिक था। वे लक्ष्मण को आदेश देते हैं, "प्रिय लक्ष्मण! सुग्रीव मेरे मित्र हैं उन्हें मृत्युदंड के स्थान पर केवल भय दिखाने की आवश्यकता है जिससे वे पुनः लौटकर मेरे पास आ सकें :"

बरषा गत निर्मल रितु आई।
सुधि न तात सीता कै पाई॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं।
कालहु जीति निमिष महुँ आनौं॥
कतहुँ रहउ जौं जीवित होई।
तात जतन करि आनउँ सोई॥
सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राजकोस पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥
जासु कृपा छूटहिं मद मोहा।
ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥
जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी।
जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।
धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥
तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुनासींव।
भय देखाई लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥

इस तरह आंजनेय और प्रभु के निर्णय में अद्‌भुत साम्य दिखाई देता है। दोनों ही इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सुग्रीव में भय की सृष्टि की जानी चाहिए। ईश्वर और सन्त जीव को भय से मुक्त वनाते हैं। ईश्वर तो भय मुक्त करने के लिए ही अवतरित होता है। आकाशवाणी में देवताओं को उद्‌वोधित करते हुए आदि और अन्त में इसी महामन्त्र का उच्चारण किया गया था :

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेषा॥
× × ×
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।
निर्भय होउ देव समुदाई॥

पर वही ईश्वर जब किसी को भयभीत करने का आदेश दे, तब यह देखकर अटपटा लगना स्वाभाविक ही है। किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर साधन पथ के मनोवैज्ञानिक रहस्यों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रसंग के द्वारा साधना की विविधता का रहस्य प्रकट हो जाता है। प्रश्न यह है कि यदि साध्य एक ही है तो उसकी उपलब्धि के लिए साधनाओं में इतनी विविधता क्यों है? इसका उत्तर है, 'साधकों की प्रकृतिगत भिन्नता'। इस प्रकृतिगत भिन्नता को दृष्टिगत रखकर ही विविध प्रकार की साधनाओं का रहस्य प्रकट किया जा सकता है। साधनों का सम्बन्ध मुख्य रूप से मन की बनावट से है। पूर्व निर्मित संस्कारों की भिन्नता के कारण प्रत्येक व्यक्ति एक अलग इकाई जैसा प्रतीत होता है। इस भिन्नता को दृष्टिगत रक्खे बिना साधन पथ का उपदेश उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। यद्यपि साधारणतया साधन पथ में भी उत्कृष्टता-अपकृष्टता की कल्पना की जाती है और वे सैद्धान्तिक दृष्टि से उपयुक्त हो सकती हैं, पर साधन पथ की श्रेष्ठता के पहले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वह किसके लिए है? इस प्रकृतिगत भिन्नता के कारण जहां कुछ लोग विवेक के द्वारा संचालित होते हैं, वहां अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में भय और प्रलोभन की वृत्ति ही मुख्य होती है। साधारणतया भौतिक व्यवहार में भी शिशु भय अथवा प्रलोभन के द्वारा ही संचालित होता है क्योंकि उस समय तक उसका विवेक विकसित नहीं होता है। धीरे-धीरे बुद्धि के विकसित होने पर वह विवेक द्वारा औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि विवेक के विकसित हो जाने पर भय और प्रलोभन की वृत्तियां पूरी तरह समाप्त हो जाती हैं। सत्य तो यह है कि भय और प्रलोभन की वृत्ति समाप्त न होकर केवल परिवर्तित मात्र हो जाती है। बाल्यावस्था में यदि मिठाई का प्रलोभन और माता-पिता तथा गुरुजनों के द्वारा ताड़ित होने का भय बना रहता है तो बाद में उसका स्थान भौतिक ऐश्वर्य के प्रलोभन और सत्ता अथवा ईश्वर के भय के रूप में सामने आता है। इनमें बिरले ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो विकसित होने पर स्वयं को पूरी तरह भय अथवा प्रलोभन से मुक्त कर पाते हैं। इस पृष्ठ-भूमि में सुग्रीव के चरित्र पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यतः उनकी प्रकृति भय-प्रधान थी। बाल्यावस्था में वालि के अनुशासन में रहने वाले सुग्रीव बाद में बड़े होकर वालि के भय से संत्रस्त रहने लगे। इसी भय की मनः-स्थिति में उनकी प्रभु से मित्रता हुई और वे वालि के भय से मुक्त हो गए। किन्तु उस भय का स्थान सच्चे विवेक ने नहीं लिया। दूसरी ओर वे राम के स्वभाव की कोमलता को देखकर ईश्वर के भय से भी मुक्त हो गए जो वालि के भय का स्थान

ले सकता था। इसलिए उनके जीवन में पुनः गतिशीलता लाने के लिए ईश्वर के प्रति भय की वृत्ति को चैतन्य करना पड़ा। इसी दृष्टि से आंजनेय और रामभद्र दोनों ने ही उनके प्रकृतिगत भय को चैतन्य करने की आवश्यकता का अनुभव किया। यह अवश्य है कि भय के साथ उनके जीवन में विवेक की भी सृष्टि हुई। सूक्ष्म रूप से देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस भय की भावना में भी वे क्रमशः ऊपर की ओर उठ रहे थे। जहां पहली वार भय से संत्रस्त होकर वे जहां-तहां भागते रहे वहां दूसरी वार वालि के भय से भागने पर सीधे भगवान् के आश्रम में ही चले आते हैं। तीसरी वार लक्ष्मण के आगम की सूचना सुनकर वे भयभीत तो होते हैं पर उनके मन में भागने की वृत्ति का उदय नहीं होता। इस तरह जहां उनमें प्रारम्भ में भय और पलायन दोनों ही विद्यमान थे वहीं अव वे पलायन की वृत्ति से ऊपर उठ चुके हैं। इसलिए वे तारा और आंजनेय से अनुरोध करते हैं कि दोनों लक्ष्मण के समीप जाकर उनका क्रोध शान्त करने की चेष्टा करें। पवनपुत्र इसमें सफल होते हैं और सुग्रीव विनत भाव से लक्ष्मण के साथ आकर प्रभु के चरणों में नत हो जाते हैं। उन्होंने नपे-तुले शव्दों में अपनी त्रुटियों को स्वीकार कर लिया। साथ ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी दृष्टि में केवल साधना के द्वारा काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियों पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। वह तो केवल ईश्वर की कृपा से ही सम्भव है :

सुनु हनुमंत संग लै तारा।
करि बिनती समुझाउ कुमारा॥
तारा सहित जाइ हनुमाना।
चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना॥
करि बिनती मंदिर लै आए।
चरन पखारि पलंग बैठाए॥
तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा।
गहि भुज लछिमन कंठ लगावा॥
नाथ विषय सम मद कछु नाहीं।
मुनि मन मोह करइ छन माहीं॥
सुनत बिनीत बचन सुखु पावा।
लछिमन तेहि बहु बिधि समुझावा॥
पवनतनय सब कथा सुनाई।
जेहि बिधि गए दूत समुदाई॥
हरषि चले सुग्रीव तब अंगदादि कपि साथ।
रामानुज आगें करी आए जहँ रघुनाथ॥
नाइ चरन सिरु कह कर जोरी।
नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी॥

अतिसय प्रबल देव तव माया।
छूटइ राम करहु जौं दाया॥
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥
नारि नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया।
सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥
तब रघुपति बोले मुसकाई।
तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई॥

सुग्रीव के चरित्र का सबसे बड़ा गुण है उनका आत्मावलोकन और अहंकार का अभाव। उन्हें अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने में कभी संकोच का अनुभव नहीं होता है। अपने इसी गुण के कारण वे तत्काल क्षमा के अधिकारी बन जाते हैं। यद्यपि उनके और भरत के चरित्र में कोई साम्य प्रतीत नहीं होता पर अपनी विनम्रता के कारण ही वे श्री रामभद्र को भरत के समान प्रिय प्रतीत होने लगे। श्री राम की उदारता और श्री भरत से उनकी की जाने वाली तुलना ने उनके जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया। उन्हें लगने लगा कि उदारता के कारण ही सही, जब प्रभु ने उन्हें भरत जैसे महापुरुष की श्रेणी में बैठा दिया है तब उनका यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वे किसी न किसी प्रकार इस तुलना की सार्थकता सिद्ध कर सकें। इसके पश्चात् सुग्रीव के चरित्र के जो चित्र मानस में प्राप्त होते हैं उनमें इस परिवर्तन को प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है। विशिष्ट बन्दरों को मैथिली की खोज में दक्षिण दिशा की ओर भेजते हुए उन्होंने जो उद्‌गार प्रकट किए उससे यह सिद्ध हो जाता है कि अब उनका विवेक पूरी तरह प्रवुद्ध हो चुका है। उनकी वाणी में नीति और प्रीति का समन्वय है। वे राम की ईश्वरता का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस कार्य के द्वारा हम सब उनके ऊपर कोई उपकार नहीं कर रहे हैं। यह तो हम सबका सौभाग्य है कि हमें सेवा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ है। अतः इस सेवा और समर्पण से कुछ भी छिपा रखने की आवश्यकता नहीं है। साथ ही वे इसमें भय का समावेश भी कर देते हैं। यह था काल की सीमा का निर्धारण। यह वह दुर्निवार काल था जिसकी सीमा का अतिक्रमण करना किसी के लिए सम्भव नहीं है :

राम काजु अरु मोर निहोरा।
बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा॥
जनकसुता कहुँ खोजहु जाई।
मास दिवस महुँ आएहु भाई॥

अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाएँ।
आवइ बनिहि सो मोहि मराएँ॥
× × ×
सुनहु नील अंगद हनुमाना।
जामवंत मतिधीर सुजाना॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू।
सीता सुधि पूँछेहु सब काहू॥
मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु।
रामचंद्र कर काजु सँवारेहु॥
भानु पीठि सेइअ उर आगी।
स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी॥
तजि माया सेइअ परलोका।
मिटहिं सकल भव संभव सोका॥
देह धरे कर यह फलु भाई।
भजिअ राम सब काम बिहाई॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी।
जो रघुबीर चरन अनुरागी॥

मैथिली के शोध के पश्चात् सुग्रीव का एक और भी चित्र सामने आता है जहां उनकी सहिष्णुता और उदारता का दर्शन होता है। किष्किन्धा के बाहर एक ऐसी वाटिका थी जो विशेष रूप से सुग्रीव के लिए ही सुरक्षित थी। लौटे हुए बंदरों ने अंगद के संकेत पर वाटिका के फलों का मनमाना उपयोग किया। प्रहरियों के द्वारा रोके जाने पर रुकना तो दूर वे उन्हें ही मार-पीट कर भगा देते हैं। प्रहरी क्षुब्ध होकर सुग्रीव के पास जा पहुंचते हैं और सुग्रीव को वाटिका के उजड़ने की सूचना देने के साथ-साथ इसके पीछे अंगद का हाथ बताकर उन्हें और भी अधिक उत्तेजित करने का प्रयास करते हैं। क्योंकि उनकी धारणा यह थी कि सुग्रीव और अंगद में वैमनस्य है। उनको लगता था कि जहां पिता के वध से अंगद क्षुब्ध है वहीं अंगद को युवराज बना दिये जाने से सुग्रीव भी पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं होंगे। अतः इसे पारिवारिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में रखकर पहरेदार अपने अपमान का बदला लेना चाहते हैं। किन्तु इस समाचार को सुनकर सुग्रीव के मुख पर क्रोध की एक रेखा तक नहीं आती। क्रोध की तो बात ही दूर वे परम प्रसन्न हो जाते हैं। उन्होंने यह भी अनुमान लगा लिया कि वन्दर मैथिली का पता लगाकर लौटे होंगे। इसके अभाव में वे इस प्रकार के साहस का प्रदर्शन न करते :

तब मधुबन भीतर सब जाए।
अंगद संमत मधु फल खाए॥
रखवारे जब बरजन लागे।
मुष्टि प्रहार हनत सब भागे॥

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुवराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि करि आए प्रभु काज ।।
जौं न होत सीता सुधि पाई।
मधुबन के फल सकहिं कि खाई ।।

उपर्युक्त प्रसंग में सुग्रीव के कई सद्‌गुण सामने आते हैं। सबये पहली बात तो यही है कि वे किसी समाचार को सुनकर तत्काल उत्तेजित नहीं हो जाते। उसके पूर्वा पर पूरी तरह विचार करते हैं। किस प्रकार कुछ लोग पारिवारिक संघर्ष को बढ़ावा देते हैं इससे वे अपरिचित नहीं हैं। पारिवारिक सद्‌भाव के लिए सहिष्णुता की कितनी अधिक आवश्यकता होती है यदि उन्हें इसका ज्ञान न होता तो वे तत्काल अंगद को बन्दी बनाने का आदेश दे देते। सबसे बड़ी बात यह है कि अंगद को लेकर उनके मन में कोई ग्रन्थि नहीं थी। यही बात अंगद के लिए नहीं कही जा सकती है। अंगद के पूरे जीवन में सुग्रीव के प्रति क्षोभ की भावना विद्यमान थी। सुग्रीव इससे पूरी तरह मुक्त थे। उन्हें इसका भी कोई दुःख नहीं था कि अंगद को युवराज पद क्यों दे दिया गया है। वालि के वध में वे निमित्त बने यह सोचकर उनके मन में अवश्य अन्तर्ग्लानि रही होगी। अंगद को युवराजपद पर अभिषिक्त किया जाना उन्हें इसका परिमार्जन जैसा प्रतीत होता होगा। इसलिए वे अंगद के प्रति सर्वदा सदय रहे। वाटिका के फल अंगद की प्रेरणा से ही खाए गए थे। संभव है इस कार्य के पीछे अंगद के मन में सुग्रीव को उत्तेजित करने की भी भावना रही हो। पर सुग्रीव रंचमात्र उत्तेजित नहीं हुए। वे निर्विकार बने रहे और यह साधारण सफलता नहीं थी।

प्रभु के प्रधानमन्त्री के रूप में निरन्तर उनकी सफलता के लिए कटिबद्ध रहे। आवश्यकता पड़ने पर वे राघव के समक्ष अपना मत प्रकट करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते। पर इससे भी बड़ी बात यह है कि भिन्न निर्णय किए जाने पर भी वे मन में रंचमात्र क्षुब्ध नहीं होते। विभीषण-शरणागति के प्रसंग में ऐसा ही अवसर उपस्थित हुआ था। सुग्रीव विभीषण को शरण में लिए जाने का विरोध करते हैं। राजनैतिक दृष्टि से उनका यह विरोध सर्वथा युक्तिसंगत था। राजनीतिज्ञ सहसा किसी पर विश्वास नहीं करता है। फिर रावण जैसे राजनीतिज्ञ और बलवान शत्रु के विरुद्ध संघर्ष करना कठिन है इसे वे जानते थे। इसलिए वे विभीषण को बन्दी बनाए जाने का प्रस्ताव रखते हैं :

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
आवा मिलन दसानन भाई ।।
कह प्रभु सखा बूझिऐ काहा।
कहइ कपीस सुनहु नर नाहा ।।
जानि न जाय निसाचर माया।
कामरूप केहि कारन आया ।।

भेद हमार लेन सठ आवा।
राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

राघवेन्द्र ने भी सुग्रीव की नीतिज्ञता की सराहना की, पर इसके साथ ही वे शरणागत के संरक्षण के व्रत का वर्णन करते हुए विभीषण को स्वीकार करने का निर्णय करते हैं। इसके पश्चात् सुग्रीव की अस्वीकृति अथवा वैमत्य का कोई वर्णन नहीं आता है। प्रभु के निर्णय पर उनकी अटल आस्था है। उन्होंने तो प्रधानमंत्री के रूप में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह मात्र किया था। युद्ध-क्षेत्र में यद्यपि उन्होंने आंजनेय अथवा अंगद जैसा शौर्य प्रदर्शित नहीं किया किन्तु सबसे कठिन अवसर पर सुग्रीव ने इन दोनों की तुलना में कहीं अधिक चतुराई का परिचय दिया। कुम्भकर्ण ने अपने अद्भुत पौरुष के द्वारा वानरों की सारी सेना को पराजित कर दिया। औरों की तो वात ही क्या थी अतुलित वली आंजनेय भी इसके अपवाद न रहे। यद्यपि महावीर पवननन्दन के प्रथम प्रहार से कुम्भकर्ण मूर्च्छित हो गया था पर वाद में उसके प्रहार से हनुमान जी की भी वही दशा हुई। इस तरह युद्ध-क्षेत्र में अंगद-हनुमान सभी मूर्च्छित और पराजित पड़े हुए थे। सुग्रीव के साथ तो उसने और भी अनोखा व्यवहार किया। वह उन्हें मूर्च्छित करने के पश्चात् वगल में दवाकर लंका की ओर लौट पड़ता है। किन्तु कुछ ही क्षणों के पश्चात् सुग्रीव चैतन्य होकर अपनी परिस्थिति पर विचार करते हैं। कुम्भकर्ण जैसे महान् योद्धा की वगल में दवे होने पर भी वे विचलित नहीं होते हैं, और उसके वाहुपाश से मुक्त हो जाने में सफल हो जाते हैं। इसके लिए उन्होंने सिमटने की कला का प्रयोग करते हुए स्वयं को मृत जैसा वना लिया। कुम्भकर्ण उन्हें मृत मान लेता है। उसके द्वारा वाहुवन्धन शिथिल किए जाते ही वे निकल कर वाहर आ जाते हैं। यदि वे केवल अपनी सुरक्षा के लिए ही सजग होते तो उस समय अपना प्राण वचाकर भाग खड़े होते पर उन्हें तो कुम्भकर्ण का वध अभीष्ट था। इसलिए वे उसे पुनः युद्ध-क्षेत्र में लौटने का निर्णय करते हैं। उन्हें यह भली भांति ज्ञात था कि वे स्वयं अपने वल से कुम्भकर्ण को पराजित करने में सफल नहीं हो सकते। किन्तु वे चाहते थे कि कुम्भकर्ण किसी तरह राघवेन्द्र के समीप पहुंच जाय और इसके लिए उन्होंने उपाय निकाल ही लिया। वे कुछ ही समय में कुम्भकर्ण के अहंकारी स्वभाव से पूरी तरह परिचित हो चुके थे। इसलिए वे उछलकर उसके नाक-कान काट लेते हैं। वे यह जानते थे कि इस प्रकार की आकृति को लेकर कुम्भकर्ण लंका में नहीं लौट सकता है। हुआ भी यही, सुग्रीव की योजना सफल हुई और कुम्भकर्ण जहां विजेता के गौरव से मण्डित होकर लंका में लौटना चाहता था वहां अपने विरूपीकरण से विक्षुब्ध होकर वह पुनः युद्ध-क्षेत्र की ओर लौट आया। इस तरह थका हुआ क्रुद्ध शत्रु लौटकर मृत्यु का ग्रास वना। गोस्वामी जी की इन पंक्तियों में सुग्रीव की विचार-शीलता, धैर्य, रण-कौशल और दूरदर्शिता का परिचय प्राप्त होता है :

अंगदादि कपि मुरुछित, करि समेत सुग्रीव।
कांख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित वल सींव॥

× × ×

सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती।
निवुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती।।
काटेसि दसन नासिका काना।
गरजि अकास चलेउ तेहिं जाना।।
गहेउ चरन गहि भूमि पछारा।
अति लाघवँ उठि पुनि तेहि मारा।।
पुनि आयउ प्रभु पहिं बलवाना।
जयति जतति जय कृपानिधाना।।

लंका विजय के पश्चात् सुग्रीव भी प्रभु के साथ अयोध्या आए। उन्होंने वड़े उत्साह से राज्याभिषेक के उत्सव में भाग लिया। राज्याभिषेक के पश्चात् भी वे छः महीने तक अयोध्या में रुके रहे। युद्ध अभियान से लेकर अव तक की लम्वी अवधि में एक क्षण के लिए भी उन्हें घर की याद नहीं आती। यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था जो सुग्रीव जैसे विषय-परायण व्यक्ति के जीवन में हुआ था। 'बिसरी गृह सपनेहुं सुधि नाहीं, जिमि परद्रोह संत मन माहीं।।' में उनकी इसी मनःस्थिति का वर्णन किया गया है। पर सुग्रीव का सबसे वड़ा त्याग था आंजनेय को सर्वथा के लिए प्रभु की सेवा में अर्पित कर देना। हनुमान जी की बड़ी तीव्र आकांक्षा थी कि प्रभु के सान्निध्य में निवास करें। किन्तु मर्यादा और अनुशासन की दृष्टि से विना सुग्रीव का आदेश पाए वे ऐसा करना उपयुक्त नहीं मानते। अतः वे वड़ी विनम्रता से सुग्रीव के चरणों को पकड़कर कुछ दिनों के लिए उनसे प्रभु की सेवा में रहने का आदेश मांगते हैं। भावुक सुग्रीव पवनपुत्र की विनम्रता और भावुकता से द्रवित हो जाते हैं। उन्होंने गद्‌गद कण्ठ से उन्हें रामभद्र के सन्निकट रहकर उनकी सेवा का आदेश दिया। उन्हें लगा कि अंजनानन्दन को छोड़कर हम सभी लोगों की पुण्य-सम्पदा समाप्त हो चुकी है। दस दिन के वदले वे सर्वदा के लिए सेवा में रहने का आदेश देकर अपने जिस महान् औदार्य और भक्ति-भावना का परिचय देते हैं वह अप्रतिम है :

तव सुग्रीव चरन गहि नाना।
भाँति विनय कीन्हें हनुमाना।।
दिन दस करि रघुपति पद सेवा।
पुनि तव चरन देखिहउँ देवा।।
पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा।
सेवहु जाइ कृपा आगारा।।

अनेक दुर्वलताओं के होते हुए भी सुग्रीव क्रमिक रूप में विकसित होते हुए अन्त में पूर्णता के अत्यन्त निकट पहुंच जाते हैं। उन्होंने वड़ा ही सार्थक जीवन जिया। वालि ने सार्थक मृत्यु का वरण करते हुए पूर्ण कृतकृत्यता का अनुभव किया। इस तरह उन दोनों ही पात्रों ने जीवन के दो छोरों का छूकर जीवन की समग्रता का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह अत्यन्त प्रेरक है।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

जटायु और सम्पाति

मानस में जहां अनेक उत्कृष्ट मानव-चरित्र प्रस्तुत किए गए हैं, वहीं उसमें पशु और पक्षियों के चरित्र का भी समावेश दिखाई देता है। साधारणतया पशु और पक्षियों में चरित्र की कल्पना नहीं की जाती। क्योंकि वे विवेक के स्थान पर प्रकृति के द्वारा संचालित होते हैं। पर मानस के ये तथाकथित पशु और पक्षी कहीं भी विवेक की दृष्टि से न्यून नहीं दिखाई देते हैं। कवि का वास्तविक तात्पर्य यह है कि केवल आकृति के माध्यम से ही मनुष्य और पशु-पक्षियों में विभाजन नहीं किया जाना चाहिए। वस्तुतः विवेक ही जीवन की समग्रता है। विवेकशून्य मनुष्य वास्तविक पशु है। जहां विवेक और सद्भाव के द्वारा हनुमान और जटायु जैसे पशु-पक्षी विश्ववंद्य वन जाते हैं वहीं रावण जैसे मनुष्य उच्च ब्राह्मण-वर्ग में जन्म लेकर भी राक्षस के रूप में निन्दा के पात्र वनते हैं। रावण और जटायु का संघर्ष इसी विचित्र विरोधाभास को साकार कर देता है। रावण के द्वारा विदेहजा का अपहरण और गीधराज जटायु के द्वारा उन्हें वचाने की चेष्टा इसी विचित्र विडम्वना का सवसे वड़ा दृष्टांत है। जहां ब्रह्मण की पशुता और पशु की मानवता साकार हो उठती है। इसके पहले कि गीधराज जटायु के तेजस्वी संघर्ष पर कुछ विचार किया जाय उनके जीवन के पूर्वार्ध पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। जटायु के जीवन का यह पूर्वार्ध सम्पाति के संस्मरण के माध्यम से सामने आता है। यह विचित्र संस्मरण और आत्मकथा वन्दरों को सम्पाति से सुनने को मिली थी।

यह वह अवसर था जब मैथिली के अन्वेषण में निराश वानरों का समूह समुद्र-तट पर हताश भाव से वैठा हुआ मृत्यु की कामना कर रहा था। तभी उसके कानों में ऐसा स्वर गूंज उठा जो उन्हें आतंक की चरम सीमा तक पहुंचा देता है। इन वन्दरों के मृत्यु संकल्प से वूढ़ा सम्पाति प्रसन्न हो उठा था। उसे लगा कि शायद मेरे आहार की व्यवस्था के लिए ही ब्रह्मा ने इन वन्दरों को यहां भेज दिया है। उसकी प्रसन्नता वाणी के माध्यम से फूट पड़ी :

एहि विधि कथा कहहिं वहु भाँती।
गिरि कंदराँ सुनी सम्पाती॥
वाहेर होइ देखि वहु कीसा।
मोहि अहार दीन्ह जगदीसा॥
आजु सबहि कहुँ भच्छन करऊँ।
दिन वहु चले अहार विनु मरऊँ॥
कवहुँ न मिलि भरि उदर अहारा।
आजु दीन्ह बिधि एकहिं बारा॥

डरपे गीध बचन सुनि काना।
अब भा मरन सत्य हम जाना।।

भयभीत वन्दरों को आश्वस्त करने के लिए अंगद के द्वारा जटायु की वीरता भरी गाथा का स्मरण किया गया। अंगद के मुख से अपने भाई जटायु का नाम सुनकर संपाति व्यग्र होकर उसके विषय में अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। अंगद के द्वारा जटायु की यशस्वी गाथा सुनकर सम्पाति भावोद्रेक से विह्वल हो जाता है और एक-एक करके पुरातन स्मृतियां उसे व्याकुल बना देती हैं। और तव उनकी तरुणावस्था का ऐसा चित्र सामने आता है जो एक गाथा मात्र न रहकर दो भिन्न जीवन-दर्शनों का प्रतीक है।

रामचरितमानस में पक्षी शब्द का प्रयोग जहां प्रचलित अर्थों में किया गया है वहीं यह पक्षधरता का भी प्रतीक है। अगणित मान्यताओं और पदार्थों में से कुछ वस्तुओं और सिद्धांतों के प्रति व्यक्ति की पक्षधरता दिखाई देती रहती है। अतः जिनके मन में अपनी मान्यताओं के प्रति आग्रह और पक्षपात है वे पक्षी हैं। लोमश और कागभुशुण्डि के संवाद में इसका वड़ा ही मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भुशुण्डि की जिज्ञासा के उत्तर में महर्षि लोमश उन्हें तत्त्व ज्ञान का उपदेश देने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि जिज्ञासु का प्रश्न भक्ति के विषय में था, पर महर्षि को ऐसा लगा कि संस्कारगत सीमाओं में घिरे होने के कारण ही भुशुण्डि ने भक्ति को परम प्राप्तव्य मान लिया है। महर्षि लोमश की दृष्टि में भक्ति केवल भावुकों की मान्यता मात्र थी जव कि ज्ञान परम सत्य होने के नाते केवल मान्यता न होकर सिद्धांत था इसीलिए वे कुछ क्षणों तक भक्ति का उपदेश देने के वाद अपनी समझ से भुशुण्डि को उससे ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं। भुशुण्डि विनम्रतापूर्वक इस उपदेश को अस्वीकार कर देते हैं। कुछ तर्क-वितर्क भी होता है और महर्षि लोमश इससे क्रुद्ध हो उठते हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति को निष्पक्ष विचारक होना चाहिए। भुशुण्डि में इसका अभाव था इसलिए वे उन्हें पक्षी होने का शाप दे देते हैं। "दुष्ट तेरे हृदय में घोर पक्षपात है इसलिए तू चाण्डाल पक्षी हो जा।"

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला।
सपदि होस पक्षी चण्डाला।।

भुशुण्डि आरोप ही नहीं उसके परिणाम को भी सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें पक्षी कहलाने और दिखाई देने में कोई आपत्ति नहीं है। कुछ क्षणों में ही महर्षि में आत्म-विश्लेषण का उदय होता है और तव उन्हें अपने आप में भी पक्षधरता ही दिखाई देने लगती है। निष्पक्षता का यह अतिशय आग्रह क्या स्वयं पक्षपात का ही परिचायक नहीं है? परिणाम की दृष्टि से उन्हें आज पक्षधरता का ही पक्ष प्रवल दिखाई पड़ा। वहुधा पक्षधर असहिष्णु हो जाता है और निष्पक्ष व्यक्ति से सहिष्णुता की आशा की जाती है। पर यहां ठीक उलटा हुआ। पक्षधर सहिष्णु सिद्ध हुआ और निष्पक्षता का दावा करने वाला असहिष्णु हो उठा। विचित्र प्रतीत होने पर भी यही स्वाभाविक है। पक्षधरता में असहिष्णुता तभी

आती है जब व्यक्ति को अपनी पक्षधरता दिखाई नहीं देती। अपने को पक्षधर समझ लेने के बाद दूसरे की पक्षधरता अस्वाभाविक नहीं लगती। भुशुण्डि को अपनी पक्षधरता का ज्ञान था इसीलिए वे सहिष्णु थे। लोमश में भी ज्ञान के प्रति पक्षधरता ही थी पर वे स्वयं को निष्पक्ष मानने की भूल कर बैठे। आत्मविश्लेषण के द्वारा वे अपनी त्रुटि को समझ लेते हैं। और तब उन्हें पक्षधर को उसकी इच्छा के अनुकूल उपदेश और मन्त्र देकर सच्चे आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिए मानस में कहीं भी निष्पक्षता का ढिंढोरा नहीं पीटा जाता। हां, परस्पर संघर्ष की सृष्टि करने वाली पक्षधरता भी उसका आदर्श नहीं है। मानसकार की दृष्टि में पक्षपात विद्वेष के रूप में परिणत होकर दुष्टता बन जाता है। इसलिए मानस की दृष्टि में भक्त का लक्षण बताते हुए यह कहा गया कि "भक्त का अपने पक्ष में आग्रह होते हुए भी वह दुष्टता से सदैव दूर रहता है।"

भगत पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥

जटायु और सम्पाति दोनों पक्षी ही थे, कहने के लिए दोनों का जन्म न केवल एक जाति में हुआ था अपितु दोनों सगे भाई भी थे। प्रारम्भ में एक दूसरे से अभिन्न प्रतीत होने वाले ये दोनों भाई एक ही लक्ष्य की ओर उड़ते हुए अचानक दो दिशाओं में मुड़ जाते हैं। प्रारम्भ में उन दोनों का लक्ष्य था सूर्य तक पहुंच कर अपनी कीर्ति-पताका को अन्तरिक्ष में फहरा देना। इस अर्थ में वे साधारण गीधों से सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं। साधारण गीध भी आकाश में उड़ता हुआ अपने पौरुष और पैनी दृष्टि का प्रदर्शन करता है। पर उसका यह पौरुष-प्रदर्शन तब सर्वथा हीन प्रतीत होने लगता है जब वह ऊपर की ओर उड़ कर भी नीचे की ओर झांकता है। उसकी दृष्टि शव को खोजती हुई प्रतीत होती है और शव पर दृष्टि पड़ते ही वह तेजी से शव की ओर मुड़ जाता है और शव पर बैठकर अपनी क्षुधा-पूर्ति करता हुआ दिखाई देता है। ऊंची उड़ान का यह अन्त मन में बड़ी वितृष्णा उत्पन्न करता है। पर जीवन का यही यथार्थ है जो समाज में प्रतिक्षण दृष्टिगोचर होता है। प्रतिभा और पौरुष पाकर व्यक्ति ऊपर उठता हुआ दिखाई देता है किन्तु उसका चरम उद्देश्य रह जाता है केवल व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति। चैतन्य के स्थान पर वह जड़ वस्तुओं में परितृप्ति की खोज करता है पर इनमें भी अपवाद होते ही हैं। यदि ऐसे व्यक्ति न हों तो इतिहास और काव्य नायक रहित हो जाएं। जटायु और सम्पाति दो अनोखे नायकों की भांति ऊपर की ओर उठते हुए दिखाई देते हैं। लगा जैसे प्रतिभा और पौरुष के दो पुंज आकाश में अवस्थित होने के लिए उतावले हो रहे हैं। पर उत्थान के साथ ताप की भी अनुभूति होने लगी और इन दो यात्रियों में से एक का संकल्प बदल गया। यह जटायु थे जिन्होंने पुनः नीचे की ओर लौट जाने का निर्णय किया। सम्पाति के समक्ष भी यह प्रस्ताव रक्खा गया पर वे लौटने के लिए सहमत नहीं थे। दोनों अकेले भिन्न दिशाओं की ओर मुड़ चले। साधारण दृष्टि में देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सम्पाति पौरुष और

धीरता का पुन्ज है और जटायु कायरता के कारण नीचे लौट आये। पर आगे यह गणित झूठा सिद्ध हो जाता है। पृथ्वी की ओर लौट आने वाला जटायु कितना शौर्य और धैर्य से सम्पन्न था इसका पता तब चला कि जब वह त्रैलोक्य विजेता रावण से संघर्ष करने के लिए सन्नद्ध हो गया। उस समय वह तरुणाई से वहुत आगे वृद्धावस्था में प्रवेश कर चुका था। दुर्दान्त रावण किसी चुनौती की कल्पना नहीं कर रहा था। चुनौती जिन राम और लक्ष्मण के द्वारा दी जा सकती थी वे आश्रम से दूर थे। वन्दिनी विदेहजा के विलाप को सुनकर भी कोई सामने नहीं आया। पर अचानक अन्तरिक्ष में चुनौती का स्वर गूंज उठा। यह चुनौती का स्वर उस बूढ़े गीध का था जिससे चुनौती की कल्पना रावण स्वप्न में भी नहीं कर सकता था। मैथिली को आश्वस्त करता हुआ एक स्वर गूंज उठा :

गीधराज सुनि आरत बानी।
रघुकुल तिलक नारि पहिचानी॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई।
जिमि मलेछ बस कपिला गाई॥
सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा।
करिहउँ जातुधान कर नासा॥
धावा क्रोधवंत खग कैसे।
छूटइ पवि परबत कहुँ जैसे॥
रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही।
निर्भय चलेसि न जानेहि मोही॥

अभी गीध की आकृति स्पष्ट नहीं थी पर रावण उसे पहिचानने की चेष्टा करने लगा। वह कल्पना करने लगा कि यह कौन हो सकता है? उसका ध्यान मैनाक और गरुड़ की ओर गया। यद्यपि इसे वह इन लोगों के दुस्साहस के रूप में ही देख रहा था, पर उस समय तो उसके आश्चर्य की कोई सीमा ही न रही जब वृद्ध जटायु की आकृति स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। फिर अपने अहंकारी स्वभाव के कारण वह यह कल्पना करने लगा कि शायद यह वृद्ध गीध जीवन से ऊब गया है। और जिस तरह वहुधा व्यक्ति वृद्ध हो जाने पर तीर्थ में जाकर प्राणों का परित्याग करते हैं, उसी तरह यह वृद्ध गीध भी मेरे भुजारूपी तीर्थ में प्राण परित्याग करने के लिए उतावला हो रहा है। सम्भवतः उसने उच्च स्वर में अपना यह अभिमत प्रकट भी कर दिया। जटायु ने उसके इस अहंकार को चुनौती देते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि सीता का परित्याग कर घर लौट जाने में ही उसका कल्याण है। रावण उपेक्षा की हंसी हंसकर इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। और इसके पश्चात् गीधराज जटायु अपनी चोंच और चरणों के प्रहार से शक्तिशाली रावण को क्षत-विक्षत कर देते हैं। कुछ समय के लिए रावण को मूर्च्छित करने में भी सफलता प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा लगा कि जैसे मैथिली की रक्षा हो गई। पर मूर्छा से चैतन्य होते ही रावण अपने शक्तिशाली खड्ग के द्वारा

गीध के पंख पर प्रहार करता है। पंखविहीन होकर जटायु भूमि पर आ गिरे। रावण तत्काल विदेहजा को पुनः बलपूर्वक अपहृत कर ले जाने में सफलता प्राप्त करता है। अभी तक जटायु ने अद्‌भुत शौर्य का प्रदर्शन किया था पर अब उनके धैर्य की कठिन परीक्षा थी। उनके शरीर में असह्य पीड़ा हो रही थी और ऐसा लग रहा था कि जैसे प्राण शरीर का परित्याग करने के लिए व्यग्र हो रहे हैं। हर गीधराज का यह अविचल निश्चय था कि प्रभु को मैथिली के अपहरण का समाचार दिए बिना वे शरीर परित्याग नहीं करेंगे। असह्य पीड़ा को सहन करते हुए वे प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं और रामभद्र के आगमन के पश्चात् उनका और भी उत्कृष्टतम रूप सामने आता है। रामभद्र की कृतज्ञता की कोई सीमा नहीं है और वे सेवा के माध्यम से इस महान् ऋण का किंचित् परिशोध करना चाहते हैं। इसलिए वे बड़ी ही भावुकता से भीगी हुई वाणी में उनसे जीवित रहने का अनुरोध करते हैं। पर अब उनमें जीवित रहने की कोई लालसा शेष नहीं है। वे अपने कार्य का कोई प्रतिदान नहीं चाहते। प्रभु की गोदी में प्राण का परित्याग करते हुए वे सायुज्य मुक्ति के अधिकारी बनते हैं। भगवान् राम सजल नेत्रों से अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करते हुए यह स्वीकार कर लेते हैं कि मुक्ति देकर उन पर कोई कृपा नहीं की गई है। वे तो अपने ही महत्कर्म के द्वारा इस पद के अधिकारी बने हैं। इस तरह केवल एक नन्हे-से प्रसंग में ही गीध की परदुःख-कातरता का परिचय तो प्राप्त होता ही है पर उस पीड़ा के निवारण के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देने में भी उन्हें किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं होता। एक के पश्चात् दूसरे उनके अद्‌भुत गुण सामने आते हैं। शौर्य, धैर्य, भक्ति और मुक्ति का ऐसा एकत्रीकरण अन्यत्र दुर्लभ है :

आवत देखि कृतांत समाना।
फिरि दसकंधर कर अनुमाना॥
की मैनाक कि खगपति होई।
मम बल जान सहित पति सोई॥
जाना जरठ जटायू एहा।
मम कर तीरथ छाँड़िहि देहा॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा।
कह सुनु रावन मोर सिखावा॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू।
नाहिं त अस होइहि बहु बाहू॥
राम रोष पावक अति घोरा।
होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥
उतरु न देत दसानन जोधा।
तबहिं गीध धावा करि क्रोधा॥

धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा।
सीतहि राखि गीध पुनि फिरा॥
चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही।
दंड एक भइ मुरछा तेही॥
तब सक्रोध निसिचर खिसिआना।
काढ़ेसि परम कराल कृपाना॥
काटेसि पंख परा खग धरनी।
सुमिरि राम करि अद्भुत करनी॥
सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी।
चला उताइल त्रास न थोरी॥
× × ×
आगें परा गीधपति देखा।
सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥
कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुवीर।
निरखि राम छवि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥
तब कह गीध बचन धरि धीरा।
सुनहु राम भंजन भव भीरा॥
नाथ दसानन यह गति कीन्हीं।
तेहिं खल जनकसुता हरि लीन्हीं॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं।
बिलपति अति कुररी की नाईं॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना।
चलन चहत अब कृपानिधाना॥
राम कहा तनु राखहु ताता।
मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता॥
जाकर नाम मरत मुख आवा।
अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें।
राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई।
तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं।
तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा।
देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जटायु किसी कायरता के

कारण सूर्य के अभियान से नहीं लौट आए थे, उनकी विचारप्रवणता ही उनके लौटने में हेतु बनी। एक छोटे भाई और अनुगामी के रूप में जटायु प्रारम्भ में सम्पाति के विचारों से प्रभावित हो गए थे। सम्पाति का जीवन-दर्शन क्या था? सूर्य की ओर अभियान में उनका क्या उद्देश्य था? प्रारंभिक दृष्टि में तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह उनकी ऊर्ध्वमुखी चेतना का चिह्न था। धरित्री की सीमा में घिरे रहना ही उन्हें स्वीकार नहीं था। वे क्रमशः ऊपर उठते हुए प्रकाश के उस दिव्य केन्द्र तक पहुंच जाना चाहते हैं जो सृष्टि के समग्र अंधकार को दूर कर देता है। ऐसा लगता है कि वे 'तमसोमाज्योतिर्गमय' के महामन्त्र को लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर चुके हैं। पर अन्तरंग में पैठकर देखने पर कुछ और ही रहस्य सामने आता है। ऐसा लगता है कि इस सारे कार्य के पीछे छद्म रूप में अहंकार ही कार्य कर रहा था। वे केवल प्रकाश के ही उपासक नहीं थे। प्रकाश की उपासना के लिए इतनी लम्बी यात्रा की कोई आवश्यकता नहीं थी। सूर्य के दूर होने पर भी उसका प्रकाश व्यक्ति से दूर नहीं होता है अतः प्रत्येक व्यक्ति प्रकाश के माध्यम से सूर्य से अपने सान्निध्य का अनुभव कर सकता है। अगणित वैदिक विद्वान सन्ध्या करते हुए इस दिव्य प्रकाश का साक्षात्कार करते हैं। वे सूर्य के प्रति अपनी श्रद्धा के अर्घ्य अर्पित करते हुए पवित्रता की भावना में डूब जाते हैं। सम्पाति भी उन अगणित श्रद्धालुओं में से एक हो सकता था। पर सम्पाति को इससे सन्तोष नहीं होता है। उसमें अद्वितीयता की आकांक्षा थी। वह सूर्य की उपासना के स्थान पर उसका विजेता बनकर स्वयं के अहंकार को तृप्त करना चाहता था और यह अहंकार ही उसे यह शक्ति और प्रेरणा प्रदान करता है, जिससे प्रेरित होकर वह क्रमशः, ऊपर की ओर उठता है। अहंकार की इस प्रेरक शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इतिहास के आदिम काल से लेकर अब तक की घटनाओं पर विचार करने पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि उन्नतिशील व्यक्तियों और समाजों का जो लेखा-जोखा प्राप्त है उनमें से अधिकांश इस अहं की प्रेरणा से ही आगे बढ़े हैं। जिनमें प्रतिभा और पुरुषार्थ है, जिन्हें विशाल सीमाएं भी संकुचित प्रतीत होती हैं वे ही असंतुष्ट व्यक्ति और समाज अहंकार की ऊर्जा से शक्ति पाकर क्रमशः उत्थान की ओर बढ़ते हैं। वे विश्व में कुछ भी अशक्य और असम्भव नहीं मानते। जल, थल और नभ में उनका अभियान निरन्तर चलता ही रहता है। आज भी व्यक्ति इसी संकल्प को लेकर चन्द्रमा तक पहुंच चुका है। इसलिए यह कहना अतिशयो-क्तिपूर्ण नहीं होगा कि सम्पाति का जीवन-दर्शन आधुनिक वैज्ञानिक मन के अधिक सन्निकट है। अन्तरिक्ष के इन अभियानों को लेकर आज भी अनेक प्रश्न उठाए जाते हैं। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के अभियानों की उपयोगिता क्या है? उत्तर मिलता है, वैज्ञानिक जिज्ञासा का उपशमन। और आशा यह दिलाई जाती है कि इस विज्ञान के द्वारा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याओं का समाधान होगा। विचारकों का दूसरा पक्ष इन तर्कों से सहमत नहीं है। उसे प्रतीत होता है कि इन अन्तरिक्ष की खोजों में जितने अर्थ, श्रम, सामर्थ्य और ज्ञान का

दुरुपयोग किया जाता है उतने के द्वारा पृथ्वी पर निवास करने वाले अगणित व्यक्तियों की दरिद्रता का समाधान ढूंढ़ा जा सकता है। अतः उनकी दृष्टि में यह कुछ उन्नत राष्ट्रों की होड़ और अपनी क्षमता का प्रदर्शन मात्र हैं। दोनों ही पक्षों के तर्कों में कुछ न कुछ सार्थकता है। शायद व्यक्ति और समाज के मन की यह वाध्यता ही है कि वह ऐसे रहस्यों का ज्ञान भी पाना चाहता है कि जिसका उसके तात्कालिक जीवन की अन्य समस्याओं से निकट का सम्वन्ध नहीं है। सम्पाति भी अपनी इसी अदम्य लालसा से प्रेरित था। और वह भी कहने के लिए प्रकाशमय सूर्य के निकट पहुंचना चाहता था। पर व्यक्ति क्या सर्वदा अपने लक्ष्य को छू सकता है ? इसका उत्तर यही है कि लक्ष्य की सीमाओं का सर्वदा छू पाना संभव नहीं होता है, क्योंकि व्यवित की लालसाओं और उसकी सामर्थ्य की सीमाओं में जो दूरी रहती है उसे पूरी कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। व्यवित शक्तिशाली हैं पर प्रकृति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली है। यद्यपि व्यक्ति वहुधा प्रकृति पर विजय का गर्व पाल लेता है पर निश्चित रूप से अन्तिम विजय प्रकृति की ही होती है। जव तक व्यक्ति स्वयं को शरीर मानता है तव तक वह प्रकृति का एक अंश ही तो है। इसलिए इस ससीम की असीम के समक्ष पराजय अवश्यभावी है। फिर भी व्यक्ति सतत संघर्षशील है। शरीर में प्रकृतिजन्य विकृति उत्पन्न होने पर वह रुग्ण हो जाता है पर वह इस रोग से अपनी हार स्वीकार नहीं कर लेता है। न जाने कितनी वार वह औषधियों से रोगों को पराजित करने में सफल हो जाता है। पर अन्तिम लड़ाई में निश्चित रूप से वह पराजित होता है। उस समय प्रकृति मृत्यु के वेष में सामने आती है और तव उसे पराजित कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं होता। हां, विचार के माध्यम से वह शरीर की परिच्छिन्न सीमाओं ये मुक्त होकर आत्म-ज्ञान के द्वारा अवश्य इस पराजय को विजय के रूप में वदल सकता है। क्योंकि तव उसके लिए शरीर की मृत्यु मृत्यु नहीं रह जाती है। और उस समय आत्मा की असीमता के समक्ष स्वयं प्रकृति ही ससीम होने लगती है।

सम्पाति की इस उड़ान में भी शारीरिक सामर्थ्य की सीमाएं वाधक वनीं और वह तेजी से संतप्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके पंख नष्ट हो चुके थे। उस समय चन्द्रमा मुनि के द्वारा उनकी रक्षा की गई। वे उसे स्नेह से दुलराते हैं और पराजय की उसकी पीड़ा को सत्संग के माध्यम से दूर कर देते हैं। उन्होंने सम्पाति से यह कहा कि "शरीर के पतन को तुम अपना पतन न मान लो इसका पतन और विनाश तो अवश्यम्भावी है। यह तुम्हारी पराजय न होकर क्षुद्र देहाभिमान की पराजय थी। ज्ञान का स्वभाव प्रकाश है और उसकी दाहकता अभिमान को जलाकर नष्ट कर देती है। वस्तुतः ज्ञानरूपी सूर्य ने तुम्हारे देहाभिमान को ही जला दिया है।" सम्पाति को इससे सान्त्वना मिली पर उनके मन में यह प्रश्न शेष था कि फिर इस शरीर की सार्थकता ही क्या है ? ईश्वर इस प्रकार का ससीम और निरर्थक शरीर देता ही क्यों है ? चन्द्रमा मुनि ने सम्पाति को आश्वस्त

किया और इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए समय की प्रतीक्षा करने का आदेश दिया। चन्द्रमा मुनि को भविष्य दिखाई दे रहा था। उनकी दृष्टि के समक्ष वह दृश्य साकार हो उठा जब सीता की खोज में हताश वन्दर समुद्र के किनारे बैठे हुए होंगे। चन्द्रमा मुनि ने सम्पाति को आदेश दिया कि वह इन हताश वन्दरों को मैथिली का पता बता दे। इसके परिणामस्वरूप न केवल वन्दर ही मैथिली का पता लगाने में समर्थ होंगे अपितु उसके विनष्ट पंख भी पुनः निकल आवेंगे। सम्पाति मुनि के वचनों के प्रति आस्था के कारण इस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। आज मुनि का संकल्प साकार हो गया। इस प्रकार सम्पाति की यह आत्मकथा वन्दरों के समक्ष आई :

अनुज क्रिया करि सागर तीरा।
कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा॥
हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई।
गगन गए रवि निकट उड़ाई॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा।
मैं अभिमानी रवि निअरावा॥
जरे पंख अति तेज अपारा।
परउँ भूमि करि घोर चिकारा॥
मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही।
लागी दया देखि करि मोही॥
बहु प्रकार तेंहि ग्यान सुनावा।
देह जनित अभिमान छुड़ावा॥
त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही।
तासु नारि निसिचर पति हरिही॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता।
तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता॥
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता।
तिन्हहिं देखाइ देहेसु तैं सीता॥
मुनि कइ गिरा सत्य भय आजू।
सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू॥

जहां सम्पाति की आत्मकथा के द्वारा वन्दरों को प्रेरणा प्राप्त हुई थी वहीं जटायु की कथा सुनकर सम्पाति को भी जीवन के द्वितीय पक्ष का परिचय प्राप्त हुआ, जिसका प्रतिनिधित्व जटायु ने किया था। सूर्य के अभियान से वे स्वेच्छापूर्वक पृथ्वी की ओर लौट आए थे। पर वे कायर नहीं, सच्चे विचारशील थे। उन्हें सूर्य पर अभियान की निरर्थकता का बोध हो गया था। उन्हें शारीरिक सामर्थ्य की सीमाओं का ज्ञान था, पर उन्होंने उस अनित्य शरीर का भी सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग किया। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हुए जिस प्रकार उन्होंने अपना शरीर अर्पित

कर दिया उससे बढ़कर शरीर की कोई सार्थकता हो ही नहीं सकती थी। अहंकार के स्थान पर उन्होंने परहित को अपना लक्ष्य वनाया। सम्पाति के पंख जहां अहं-कार की पूर्ति में विनष्ट हुए वहां जटायु के पंख परहित के लिए समर्पित हुए। और इसका परिणाम भी साक्षात् ईश्वर के आगमन के रूप में सामने आया। भले ही वे जीवन के पूर्वार्ध में सूर्य तक न पहुंच पाए हों पर आज जीवन के उत्तरार्ध में 'अगणित रवि ससि सिव चतुरानन' का अधिष्ठान ईश्वर उनके सामने खड़ा था। प्रश्न यह नहीं था कि वे रावण को पराजित करने में सफल हुए या नहीं। भौतिक दृष्टि से भले ही वह पराजित हो गए पर वे अन्तःकरण से सर्वथा अपराजित रहे। रावण की अन्तिम पराजय की घटना में उनकी भूमिका के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। श्री राम उनके प्रति कृतज्ञ हैं और वे परोपकार को ही जीवन की चरम सीमा तक सार्थकता के रूप में स्वीकार करते हैं। गीधराज जीवन और मृत्यु दोनों में ही धन्य हो गए। उनकी मृत्यु श्लापा का विषय वन गई :

मुए मरिहि मरिअंहि सकल आजु कालि के बीचु।
तुलसी काहू नंहि लही गीधराजु की मीचु॥

जीवन की चरम उद्देश्य की उपलब्धि में छोटा भाई जटायु सम्पाति से आगे निकल गया। पर सम्पाति को प्रसन्नता थी कि उसे ऐसे महान् भाई को प्राप्त करने का गौरव मिला। उसे नई जीवन-दृष्टि मिली। उसे यह भी ज्ञात हो गया कि अध्यात्म-पथ में निराश होने की कभी आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति के कल्याण का पथ कभी अवरुद्ध नहीं होता है। वह भी अपनी सामर्थ्य के अनुकूल राम कार्य में सहयोगी वन सकता है। ईश्वरीय कार्य की विशेषता भी यही है कि उसमें सभी का सदुपयोग है। इसीलिए तो राम-कार्य में महर्षि अगस्त्य से लेकर शवरी, गीध, बन्दर, भालू सभी समान रूप से उपयोगी हैं। सम्पाति भी दृष्टि और शब्द के माध्यम से राम-कार्य में सहयोगी वना। उसे लंका की अशोक वाटिका में वैठी हुई मैथिली प्रत्यक्ष दिखाई दे रही थीं। वह उनकी ओर वन्दरों का ध्यान आकृष्ट करता है। बन्दर मैथिली को देख पाने में असमर्थ थे। पर यदि वे सम्पाति के वचनों पर विश्वास भी कर लें तो समुद्र-तट से चार सौ कोस लंका की अनु-ल्लंघनीय दूरी का प्रश्न उनके सामने था। इसलिए उस निराशा को दूर करने के लिए सम्पाति उनसे अपनी ओर देखने का अनुरोध करता है क्योंकि इस समय तक उसके नये पंख निकल आए थे। उसने अपनी ओजस्वी वाणी में बन्दरों को पुरुषार्थ पथ पर आरूढ़ होने की प्रेरणा दी। ईश्वर का आश्रय लेकर कर्त्तव्य पथ में आरूढ़ हो जाने का उसका महामन्त्र वन्दरों के लिए ही नहीं शाश्वत सत्य के रूप में सवके लिए समान रूप से उपयोगी है :

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।
तहँ रह रावन सहज असंका॥
तहँ असोक उपवन जहँ रहई।
सीता बैठि सोच रत अहई॥

मैं देखउँ तुम नाहिं गीधहि दृष्टि अपार।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार।।
जो नाघइ सत जोजन सागर।
करइ सो राम काज मति नागर।।
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।
राम कृपाँ कस भयउ सरीरा।।
पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं।
अति अपार भव सागर तरिहीं।।
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई।
राम हृदयँ धरि करहु उपाई।।

सम्पाति और जटायु का पक्षी होना या न होना वहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है पर जहां तक जीवन-दर्शन के दो पक्षों का सम्वन्ध है निश्चित रूप से यहां दोनों पात्र उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि आध्यात्मिक मान्यता की दृष्टि से अन्त में दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुंचते हैं पर जीवन के प्रारम्भिक भाग में सम्पाति के जीवन में भौतिकवादी विचारधारा का ही अधिक प्रभाव है। जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुकूल प्रारम्भ में जटायु भी इससे प्रभावित हुए विना नहीं रह पाते। पर वे वहुत शीघ्र सही निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं। सम्पाति भी जीवन के उत्तरार्द्ध में उसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। इसके लिए उन्हें एक लम्वी प्रक्रिया से पार होना पड़ता है। मानस की दृष्टि में अहं की तृप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। इस अभियान में सम्पाति के समान ऊपर उठकर नीचे गिर पड़ना अवश्यम्भावी है। सत्संग और विचार के माध्यम से ही व्यक्ति इस पतन की पीड़ा से मुक्त हो सकता है। परोपकार और ईश्वर की उपलब्धि ही जीवन का चरम लक्ष्य है। सम्पाति और जटायु का जीवन-दर्शन हमें लक्ष्य निर्धारण की दिशा में प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

अंगद

अंगद का व्यक्तित्व प्रारम्भ में अनेक कुण्ठा और अन्तर्द्वन्द्वों में ग्रस्त था पर क्रमशः वे इनसे मुक्त होकर अपनी महान् भूमिका पूर्ण करते हैं। फिर भी उनका मन सुग्रीव से सम्वद्ध कुंठा से पूरी तरह कभी मुक्त नहीं हो पाया पर इससे अंगद के व्यक्तित्व का मूल्य कम नहीं हो जाता। किष्किन्धा राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में उनके समक्ष कोई वहिरंग समस्या न थी। पर उनके अन्तर्मन के संघर्ष की कुछ झलक तव सामने आई जव राघवेन्द्र के राज्याभिषेक के पश्चात् छः मास व्यतीत हो जाने के वाद बन्दरों को विदा करने का निर्णय किया गया। यह सारे वन्दर एक लम्वी अवधि तक अपने प्रिय परिजनों से दूर थे, इसलिए रामभद्र को यह उचित प्रतीत हुआ कि भले ही बन्दरों में अभी किष्किन्धा लौटने की व्यग्रता न हो पर कभी न कभी तो इस प्रकार की आकांक्षा का उदय होना स्वाभाविक ही था। वहुत वार व्यक्ति स्वयं को दुहरे आकर्षण में घिरा हुआ पाता है और उनमें से एक के प्रति आकर्षण इतना तीव्र जान पड़ता है कि वह दूसरे को भुला वैठता है। उसे लगता है कि अव दूसरे के प्रति उसके मन की आसक्ति समाप्त हो चुकी है। पर यह सत्य नहीं होता। उस समय केवल दूसरा आकर्षण सोता रहता है और कभी अंगड़ाई लेकर उठ वैठता है तव तक पहला आकर्षण अपनी चमक खो वैठता है और तव व्यक्ति वड़ी तीव्रता से दूसरी दिशा में दौड़ पड़ता है। कुछ ऐसी ही स्थिति अयोध्यावासियों के समक्ष तव आई थी जव वे चित्रकूट में श्री राम का दर्शन करने के लिए चल पड़े। उस समय उनके उतावलेपन की कोई सीमा न थी। वे वैभव तथा प्रियजनों को छोड़कर श्री राम के दर्शन के लिए उतावले हो रहे थे। उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था कि केवल श्री राम को छोड़कर उन्हें कुछ नहीं चाहिए। 'जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ' जैसे उद्‌गार उनकी इसी भावना से परिचायक थे। श्री राम के पास पहुंचकर उन्हें असाधारण आनन्द की अनुभूति हुई। पर कुछ दिनों के पश्चात् क्या हुआ ? उनके मन में पुनः घर की याद सताने लगी। 'छिन वन रुचि छिन सदन सुहाहीं' में उनका अन्तर्द्वन्द्व उभरकर सामने आ गया। वन्दरों में भी इसी प्रकार द्वन्द्वात्मक स्थिति का उदय हो, इसके पहले ही श्री रामभद्र उन्हें किष्किन्धा भेजकर संकोच की स्थिति से उवारने का प्रयास करते हैं। फिर व्यवहार कुशल राघवेन्द्र को उन परिजनों की भी वार-वार सुधि आती है जो किष्किन्धा में व्याकुलतापूर्वक अपने प्रियजनों के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसलिए वे आग्रहपूर्वक वन्दरों से किष्किन्धा लौट जाने के लिए कहते हैं। सभीने भारी मन से इसे आदेश मानकर स्वीकार कर लिया। पर अंगद इसके अपवाद थे। अंगद वय की दृष्टि से इन सबमें अपेक्षाकृत छोटे थे। वे किष्किन्धा राज्य के उत्तराधिकारी भी थे। ऐसी स्थिति में युवक

अंगद की किष्किन्धा न जाने की इच्छा के पीछे कौन-से कारण विद्यमान थे जो उन्हें अपने परिजनों से दूर अयोध्या में एक सेवक के रूप में रहने के लिए प्रेरित कर रहे थे। राम के प्रति प्रीति और भक्ति का आकर्षण इसमें विशिष्ट हेतु था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है पर यदि यही सब कुछ होता तो राम के लिए उन्हें अस्वीकार कर पाना सम्भव न होता। इसके पीछे कुछ ऐसी मानसिक ग्रन्थियां थीं जिन्हें समझ लेना राघव के लिए कठिन नहीं था। उन्हें इस मानसिक कुण्ठा से मुक्त करने के लिए ही राम अत्यन्त आग्रहपूर्वक उन्हें किष्किन्धा की ओर भेज देते हैं। अंगद के इस अन्तर्द्वन्द्व को समझने के लिए पीछे की ओर लौटना होगा। जब तक वालि और सुग्रीव में परस्पर प्रीति बनी रही तब तक अंगद के समक्ष कोई बहिरंग अथवा अन्तरंग समस्या नहीं थी। उन्हें दोनों का स्नेह उपलब्ध होना स्वाभाविक ही था। पर दुर्भाग्यवश मायावी को लेकर उनमें एक द्वन्द्व उत्पन्न हो गया और यह द्वन्द्व भी वालि के मानसिक संशय से जुड़ा हुआ था। बदली हुई परिस्थिति में सुग्रीव को सिंहासनासीन देखकर वालि के मन में संशय का उदय होता है और उसके मन में सारी घटनाओं के पीछे सुग्रीव का षड्यन्त्र ही प्रतीत होता है। यदि गुफा से लौटकर सुग्रीव ने अंगद को सिंहासनासीन कर दिया तो वालि के मन में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न न होता पर सुग्रीव की यह भूल उन्हें अत्यन्त महंगी पड़ी और उन्हें किष्किन्धा से बहिष्कृत होना पड़ा। वालि के द्वारा सुग्रीव से किए जाने वाले व्यवहार में अंगद को किसी अनौचित्य की अनुभूति हुई हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। अधिक युक्तिसंगत यही प्रतीत होता है कि उन्होंने भी सारी घटनाओं को वालि की ही दृष्टि से देखा होगा। घटनाओं की अन्तिम परिणति पिता की मृत्यु के रूप में हुई। मृत्यु के इन क्षणों में उनमें जिस अन्तर्द्वन्द्व का उदय हुआ उससे भी जीवन भर मुक्त नहीं हो सके।

पिता की मृत्यु से बढ़कर उनके लिए दुःखद घटना क्या हो सकती थी? फिर उनकी मृत्यु जिन परिस्थितियों में और जिस पद्धति से हुई थी उससे उनका सीमातीत विक्षुब्ध होना स्वाभाविक था। साधारण तर्क की दृष्टि से उन्हें सर्वाधिक क्रोध राम पर होना चाहिए था जिन्होंने दो भाइयों के संघर्ष में हस्तक्षेप करते हुए बहिरंग दृष्टि से अनधिकार चेष्टा की थी। फिर उन्होंने वालि पर छिपकर प्रहार किया था। ऐसी स्थिति में यदि वे राम को चुनौती देते तो यह अस्वाभाविक न होता। पर अन्तिम क्षणों में उन्हें अपने पिता की मनःस्थिति का जो परिचय प्राप्त हुआ उससे उनका द्विविधा में पड़ जाना स्वाभाविक था। उन्होंने अपनी आंखों से यह देखा था कि किस प्रकार से राघवेन्द्र ने वालि के समक्ष जीवित रहने का प्रस्ताव किया जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इसके पहले अपने पिता और रामभद्र के मध्य हुए वार्तालाप को उन्होंने ध्यान से सुना था। पिता के द्वारा लगाए गए आरोप और राघवेन्द्र का तेजस्विता से भरा उत्तर दोनों उनके सामने थे। उस समय उनके लिए औचित्य-अनौचित्य का निर्णय कर पाना सरल न था। पिता के आरोप का पक्षधर होना उनके लिए स्वाभाविक था। पर

राम के द्वारा दिये जाने वाले उत्तर भी ऐसे युक्तिसंगत थे कि उसे सरलता से नकारा नहीं जा सकता था। ऐसी स्थिति में वे यह निर्णय नहीं कर पाते हैं कि राम दयापरायण हैं अथवा अन्यायी। अकस्मात् वे जिसे वधकर्ता के रूप में देख रहे थे वह जीवनदाता के रूप में सामने आया जो बड़ी कोमल वाणी में वालि से जीवित रहने का अनुरोध कर रहा था। पर अगला क्षण और भी आश्चर्यजनक था जब उनके पिता ने विनम्रता से इस वरदान को अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं अंगद को बुलाकर उसका हाथ कौशलेन्द्र के कर कमलों में अर्पित कर दिया और उनसे अंगद को सेवा में रखने का अनुरोध किया। यह विचित्र प्रकार की शरणागति थी जिसमें शरणागत माना जाने वाला व्यक्ति स्वेच्छा से समर्पित नहीं हुआ अपितु दूसरे के द्वारा अर्पित किया गया और अर्पित करने वाला भी उनका ही पिता था जिसके प्रति उनके मन में आदर और स्नेह के प्रगाढ़ प्रभाव विद्यमान थे। समर्पण ऐसे व्यक्ति के हाथों में किया गया था जिसे वह अब तक पूरी तरह समझने में असमर्थ रहे थे। जिसके प्रति उनके मन में न्याय, अन्याय, कोमलता, कठोरता, व्यक्ति और ईश्वरत्व को लेकर परस्पर विरोधी भाव विद्यमान थे। न तो वे इस शरणागति को अस्वीकार ही कर सकते थे क्योंकि वह उनके पिता की अन्तिम आकांक्षा थी, किन्तु समग्र स्वीकृति भी कैसे सम्भव थी जब कि वे सामने वाले के सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाए थे। अन्त में स्वीकृति का पक्ष ही प्रबल रहा क्योंकि उन्होंने अपनी अस्वीकृति का कोई संकेत नहीं दिया।

इसके पश्चात् सुग्रीव को राज्यभिषिक्त करने के बाद उन्हें युवराजपद दिया गया। पर प्रश्न तो यह है कि क्या यह पद पाकर उन्हें पूरी तरह प्रसन्नता हुई होगी? इसका स्पष्ट उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। वे इतने बड़े त्यागी नहीं थे कि इस पद को अस्वीकार कर देते पर इस स्वीकृति में भी सच्चा आनन्द न था। उनके सामने प्रश्न यह था कि इसे वे किस रूप में देखें। यह राम का औदार्य था या उनकी राजनैतिक बुद्धिमत्ता? यदि राम के ईश्वरत्व के प्रति उनके मन में अविचल आस्था का उदय हो गया होता तो निश्चित रूप से उनका अन्तर्द्वन्द्व पूरी तरह समाप्त हो जाता। इस विषय में अनुभूतिजन्य प्रमाण उनके पास नहीं था, केवल पिता के वचनों के प्रति आस्था से प्रेरित होकर ही वे इसे स्वीकार कर सकते थे। उनके मन में पिता के प्रति प्रगाढ़ आदर की भावना अवश्य थी पर वह ऐसी भी नहीं थी कि वे उन्हें तत्त्वद्रष्टा ऋषि के रूप में स्वीकार कर लें। इसलिए युवराजपद स्वीकार करते हुए उनके मन में मिले-जुले भाव विद्यमान थे। उन्हें कभी न कभी यह ग्लानि भी सताती ही होगी कि कहीं उन्हें लोकदृष्टि में ऐसा व्यक्ति न मान लिया जाय जिसने लोभ के कारण पिता की मृत्यु के दुःख को भुला दिया। सुग्रीव के प्रति तो उनके मन में सद्भाव हो ही नहीं सकता था। उनकी दृष्टि में वे एक ऐसे व्यक्ति थे जो उनके पिता की मृत्यु के कारण बने थे। फिर राज्य की उपलब्धि के पश्चात् सुग्रीव के द्वारा किया जाने वाला आचरण

भी ऐसा नहीं था जो अंगद के मन में उनके प्रति श्रद्धा की सृष्टि करता। उनका जीवन आदर्श राजा का जीवन नहीं था। संतत्व और भक्ति की तो बात ही दूर थी। सुग्रीव पूरी तरह एक विषय-परायण व्यक्ति का जीवन जी रहे थे, इसी बीच अंगद को क्रुद्ध लक्ष्मण के नगर में आगमन का समाचार मिला जो सुग्रीव को दण्ड देने के लिए आ रहे थे। अंगद को इससे अप्रसन्नता नहीं होती है, वे तो केवल अपनी सुरक्षा के लिए व्यग्र थे। साथ ही वे लक्ष्मण पर यह प्रभाव डालना चाहते थे कि सुग्रीव के द्वारा होने वाले प्रमाद और अपराध में वे भागीदार नहीं हैं। विनत अंगद को रामानुज के द्वारा अभयदान मिला। वे निश्चिन्त हो गए :

धनुष चढ़ाइ कहा तव जारि करउँ पुर छार।
ब्याकुल नगर देखि तव आयउ बालिकुमार॥
चरन नाइ सिरु बिनती कीन्हीं।
लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्हीं॥

सुग्रीव की सुरक्षा के लिए अंगद कोई प्रयास नहीं करते। यदि सुग्रीव को दण्ड मिलता तो अंगद को इससे प्रसन्नता ही होती। किन्तु आंजनेय का आश्रय लेकर सुग्रीव भी सुरक्षा प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। इसके पश्चात् मैथिली के अन्वेषण का अभियान प्रारम्भ होता है। दक्षिण दिशा में भेजे जाने वाले योद्धाओं का नेतृत्व अंगद को सौंपा गया। यह अंगद के लिए असाधारण सम्मान का परिचायक था। इस समूह में ऋक्ष पति जाम्बवान् जैसे ज्ञानवृद्ध-आयुवृद्ध व्यक्ति भी थे। अतुलित योद्धा ज्ञान-निधान हनुमान के होते हुए अंगद को नेतृत्व सौंप देना साधारण बात नहीं थी। पर अपनी मानसिक ग्रन्थि के कारण अंगद को इसमें भी सुग्रीव की कूटनीति का दर्शन हुआ। इस खोज के लिए एक मास की अवधि दी गई थी। यदि अवधि व्यतीत होने के बाद कोई मैथिली का पता लगाए बिना लौटता तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाता। अंगद को ऐसा लगा कि यह योजना उन्हें ही मृत्युदण्ड देने के लिए बनाई गई है। प्रारम्भ में सफलता की सम्भावना के कारण उनका यह भाव प्रकट नहीं होता है पर बाद में उन्होंने इसे स्पष्ट रूप में कह दिया।

मार्ग में भी ऐसे अवसर आए जहां अंगद के आशंकाग्रस्त मन का दर्शन हुआ। वस्तुत: अन्तर्ग्रन्थि के कारण ही इस यात्रा में उनकी नेतृत्व-क्षमता का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता है। वन्दर वन में भ्रमित होकर प्यासे मरने लगते है पर अंगद इसका कोई उपाय नहीं खोज पाते हैं। आंजनेय ने ही इस कठिन अवसर पर साथियों को उबारा। वे ऐसी गुफा की खोज में सफल हो गए जहां भीतर जल की सम्भावना थी। जल के निकट रहने वाले पक्षी गुफा के भीतर प्रविष्ट हो रहे थे। किन्तु इस अवसर पर अंगद नेतृत्व के लिए आगे नहीं बढ़ते हैं। कभी पीछे हटने वाले बलशाली वालि के पुत्र होते हुए भी अंगद के द्वारा दिखायी जाने वाली कायरता आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। फिर यह कायरता असमर्थताजन्य न होकर केवल आशंकाजन्य थी। वालि की तुलना में वे किसी

प्रकार न्यून बल वाले नहीं थे। किन्तु जहां बालि ने कभी भयभीत होना सीखा ही नहीं था वहां अंगद उस प्रकार की निर्भयता से ही भयभीत दिखाई देते हैं। मायावी की चुनौती पर जहां बालि अकेले ही भयंकर गुफा में प्रविष्ट हो जाता है वहां इतने साथियों के होते हुए भी अंगद इस गुफा में सबसे आगे चलने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं। सम्भवतः बालि के जीवन में निर्भीकता के कारण जो घटनाएं घटी थीं अंगद उन्हें दुष्परिणाम मानकर अत्यन्त सावधान रहते-से प्रतीत होते हैं। गुफा में स्वयं प्रभा की कृपा और सिद्धि का अनुभव करते हुए बन्दर अप्रयास ही समुद्र-तट पर पहुंच जाते हैं। वहां सम्पाति का स्वर उन्हें पुनः भयभीत कर देता है। यही एक ऐसा अवसर है जहां अंगद ने समयोचित बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। सम्पाति ने सारे बन्दरों को खा लेने की घोषणा की थी। उसकी वाणी सुनते ही बन्दर अमंगल की आशंका से कांप उठे। किन्तु अंगद ने उच्च स्वर में जटायु का नाम लेकर न केवल बन्दरों को ही आश्वस्त करने में सफलता प्राप्त की अपितु सम्पाति के मन में भी अपने भाई जटायु के चरित्र को जानने की जिज्ञासा जाग्रत् कर दी :

यहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती।
गिरि कंदराँ सुनी संपाती॥
बाहेर होइ देखि बहु कीसा।
मोहि अहार दीन्ह जगदीसा॥
आज सबहि कहँ भच्छन करऊँ।
दिन बहु चले अहार बिन मरऊँ॥
कबहुँ न मिलि भरि उदर अहारा।
आजु दीन्ह बिधि एकहिं बारा॥
डरपे गीध बचन सुनि काना।
अब भा मरन सत्य हम जाना॥
कपि सब उठे गीध कहँ देखी।
जामवंत मन सोच बिसेषी॥
कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥

इस अवसर पर अंगद की वाणी में जिस धैर्य अथवा विवेक का परिचय प्राप्त होता है वह उनके जीवन में परिवर्तन की प्रक्रिया का सूचक है। इस प्रक्रिया का श्रीगणेश वृद्ध जाम्बवान् के उद्बोधन से होता है।

सुग्रीव के द्वारा एक मास की दी गई अवधि समाप्त हो चुकी थी इसलिए समुद्र-तट पर बन्दर नैराश्य की चरम स्थिति में पहुंच जाते हैं पर इनमें सर्वाधिक निराश और दुःखी अंगद थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था कि सुग्रीव का षड्यन्त्र सफल होने जा रहा है। उनकी तो यह धारणा थी कि बालि-वध के पश्चात् सुग्रीव उन्हें भी समाप्त करना चाहते थे पर न्यायप्रिय उदार राम के कारण यह सम्भव

नहीं हो सका। इसके लिए अंगद पूरी तरह रामभद्र के प्रति कृतज्ञ थे। वे सुग्रीव को थोड़ा भी श्रेय नहीं देना चाहते थे। पर उन्हें अब ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अब राघव भी उनकी रक्षा नहीं कर सकेंगे। क्योंकि इसमें मैथिली के शोध को ही निमित्त बना दिया गया है। अंगद को यह भी भय था कि इस सारी असफलता का कलंक नेतृत्व के नाम पर उन्हें ही दे दिया जाएगा। इस तरह बड़ी चतुराई से सुग्रीव उन्हें मृत्युदण्ड देकर अपने मनोरथ में सफल हो जाएंगे। इस आशंका से उनकी आंखों में आंसू आ गए। इस तरह उनकी अपनी ही कल्पना उन्हें मृत्यु की पीड़ा का अनुभव करा देती है। वृद्ध जाम्बवान् ने उनकी इस पीड़ा को दूर करने का संकल्प किया। उन्हें लगा कि राम के ईश्वरत्व के प्रति समग्र आस्था के अभाव में ही अंगद की यह दशा हो रही है। ईश्वर के प्रति सच्ची आस्था के उदय के द्वारा ही वे अपने कल्पित व्यामोह से मुक्त हो सकते हैं। इसलिए उन्होंने तात्त्विक और विश्वास भरी वाणी में राम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया। उन्होंने अंगद से अनुरोध किया कि "वे राम को एक साधारण मनुष्य के रूप में न देखें। वह तो निर्गुण निराकार अजित ब्रह्म ही लीला के लिए अवतरित हुआ है। हम सब सेवक अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं क्योंकि हमें उस ब्रह्म की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ईश्वर अपनी ही इच्छा से देवता, पृथ्वी, गाय और ब्राह्मणों का दुःख दूर करने के लिए अवतरित होता है। सगुणोपासक भक्त भी उनकी सेवा का सुख प्राप्त करने के लिए साथ ही जन्म लेते हैं :"

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं।
बीती अवधि काजु कछु नाहीं॥
सब मिलि कहहिं परस्पर बाता।
बिनु सुधि लएँ करब का भ्राता॥
कह अंगद लोचन भरि बारी।
दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई।
उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥
पिता बधे पर मारत मोही।
राखा राम निहोर न ओही॥
पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं।
मरन भयउ कछु संसय नाहीं॥
अंगद बचन सुनत कपि बीरा।
बोलि न सकहिं नयन बह नीरा॥
छन एक सोच मगन होइ रहे।
पुनि अस बचन कहत सब भए॥
हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना।
नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना॥

अस कहि लवन सिंधु तट जाई।
बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥
जामवंत अंगद दुख देखी।
कही कथा उपदेस बिसेषी॥
तात राम कहुँ नर जनि मानहु।
निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥
हम सब सेवक अति बड़भागी।
संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥
निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

वस्तुतः जाम्ववान् ने अंगद के रोग का सही निदान किया था। वालि ने अंगद को समर्पित करते समय जो वाक्य कहे थे उसमें स्पष्ट शब्दों में ईश्वरत्व की स्वीकृति थी। किन्तु अंगद चाहकर भी उसे पूरी तरह मान नहीं पा रहे थे। उनके मन में कुछ प्रश्न थे जिनका समाधान वे नहीं ढूंढ़ पाये थे। वालि-वध में राम की सामर्थ्य का परिचय भले ही प्राप्त हुआ हो पर उनके चरित्र में अनेक ऐसे उपाख्यान थे जो उनकी असमर्थता की ओर संकेत कर रहे थे। क्या सर्व समर्थ ईश्वर की शक्ति को रावण चुराने में सफल हो सकता था? क्या सर्वज्ञ ईश्वर को अपनी प्रिया का पता लगाने के लिए दूसरों की सहायता अपेक्षित है? जाम्ववान् उनके मन में छिपे संशय के समाधान के लिए ही अवतारवाद के सैद्धान्तिक सूत्रों का उपदेश देते हैं। वे यह वताना चाहते थे कि ईश्वर के चरित्र में घटित होने वाली घटनाओं का उद्देश्य सेवकों को सेवा का सुअवसर प्रदान करना है। इसलिए हम सवको अपने सौभाग्य पर गर्व करना चाहिए कि हमें इस सेवा के लिए चुना गया है। ऋक्षराज के इस उपदेश से अंगद के अन्तःकरण में छिपे हुए संशय का निवारण हो गया और उनके जीवन में श्री राम के प्रति नई आस्था का उदय हुआ। सम्पाति के प्रसंग में उनके द्वारा किया जाने वाला उद्वोधन वस्तुतः जाम्ववान् के उपदेश की ही प्रतिध्वनि थी। यह अंगद का पुनर्जन्म था।

सम्पाति के द्वारा अशोक-वाटिका में विदेहजा की अवस्थिति का ज्ञान हुआ। किन्तु वहां तक पहुंचने के लिए विशाल महोदधि को पार करना आवश्यक था। इस अवसर पर प्रत्येक योद्धा अपने वल का वर्णन करता है। इनमें भी अंगद सवसे आगे थे। वे शतयोजन विस्तीर्ण जलधि को पार करने के लिए प्रस्तुत थे किन्तु सफलतापूर्वक लौट कर आने में उन्हें संदेह था। अंगद के असमंजस से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी उनमें ईश्वर के प्रति वैसी अविचल आस्था का उदय नहीं हुआ था जैसा मारुतिनन्दन के चरित्र में देखने को मिलता है। अपनी-अपनी आस्था मे तारतम्य तो होता ही है इसलिए मानस में विश्वास के अनेक प्रतीक प्रस्तुत किए गए हैं। कहीं उसे अक्षय-वट तो कहीं उसे ध्रुव तारे के रूप में देखा गया है। उसका वर्णन पात्र के रूप में भी किया गया है। किन्तु विश्वास की

समग्रता के एक मात्र प्रतीक भगवान् शिव हैं। आञ्जनेय उन्हीं शिव के अवतार हैं इसलिए उनकी आस्था की तुलना किसी अन्य से नहीं की जा सकती। अंगद की आस्था की तुलना ध्रुव तारे से की जा सकती है। प्राचीन काल में रात्रि के समय दिग्भ्रम होने पर नाविक ध्रुव तारे के द्वारा दिशा का ज्ञान प्राप्त करते थे। यह ध्रुव तारा अविचल रूप से उत्तर में निवास करता है। ध्रुव तारे के द्वारा सही दिशा का ज्ञान प्राप्त करने के बाद नाविक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता था। संशय के अन्धकार में अंगद की दशा भी ठीक इसी प्रकार की थी। जाम्बवान् के उपदेश में उन्हें ध्रुव विश्वास का दर्शन हुआ और लक्ष्य की दिशा में चलने की प्रेरणा प्राप्त हुई। पर वह लक्ष्य अब भी उनसे दूर था। सम्भव है वन्दरों को विदा करते समय प्रभु के व्यवहार में जो भिन्नता दिखाई पड़ी थी उस पर उनकी दृष्टि पड़ी हो। उस समय आञ्जनेय को अपने पास बुलाकर जिस प्रकार मुद्रिका देते हुए उनके कानों में प्रभु ने कोई सन्देश दिया था उस पर अंगद की दृष्टि न पड़ी हो यह सम्भव प्रतीत नहीं होता है। इसलिए समुद्र-सन्तरण के इन क्षणों में अंगद को उस घटना की स्मृति अवश्य आई होगी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ होगा कि प्रभु ने इस कार्य के लिए पवननन्दन का ही वरण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर के वरण के बाद ही व्यक्ति के विश्वास को प्रमाण-पत्रित माना जा सकता है। इसलिए समुद्र-सन्तरण के प्रसंग में अंगद की हिचकिचाहट के कारण को समझना कठिन नहीं है। वस्तुतः उनमें विश्वास की समग्रता का उदय आञ्जनेय के लंका से लौटकर आने के बाद ही हुआ। बालि ने अंगद के समर्पण के माध्यम से विश्वास का जो बीज डाला वह जाम्बवान् के उपदेश से पुष्पित और पल्लवित हो गया। पर विश्वास का यह वृक्ष तब फलित हो उठा जब लंका से लौटकर पवनपुत्र ने अपनी आत्मकथा सुनाई। अकेले आञ्जनेय का समस्त विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए लंका तक पहुंचना, अगणित राक्षसों के द्वारा रक्षित लंका में प्रविष्ट होना, और बन्दिनी विदेहजा के दर्शन से लेकर लंका-दहन तक के सारे क्रिया कलाप ऐसे थे जिनमें पग-पग पर ईश्वरीय कृपा का साक्षात्कार हो रहा था। अब अंगद को विश्वास के लिए किसी तर्क और उपदेश की आवश्यकता नहीं थी। आञ्जनेय की अनुभूति से अंगद इतने अधिक प्रभावित हुए कि फिर उनके जीवन में राम के ईश्वरत्व और उनकी सामर्थ्य को लेकर कभी संशय का उदय हुआ ही नहीं। और बाद की घटनाओं से तो यह प्रमाणित हो गया कि उनमें पवनपुत्र की तुलना में रंचमात्र विश्वास की न्यूनता नहीं थी। वह अवसर उनके जीवन में शीघ्र ही उपस्थित हुआ।

सुवेल-शैल पर आसीन श्री राघवेन्द्र ने रावण के पास पुनः एक बार सन्देश भेजने का निर्णय किया। शान्ति के पक्षधर राघव युद्ध को यथासम्भव टालना चाहते थे। इस कार्य के लिए ऐसे दूत की आवश्यकता थी जो हर दृष्टि से उपयुक्त हो। मन्त्रिमण्डल के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तब जाम्बवान् के द्वारा अंगद के नाम का सुझाव दिया गया। सभी दृष्टियों से जाम्बवान् का यह

प्रस्ताव दूरदर्शिता से भरा हुआ था। इस बीच अंगद में जिस प्रगाढ़ आस्था का उदय हुआ था ऋक्षराज उससे पूरी तरह परिचित हो चुके थे। पर ऐसी मनः-स्थिति में भी अंगद के अन्तःकरण में एक संशय बचा हुआ था। उनके मन में प्रश्न यह था कि वे तो प्रभु के प्रति विश्वासी बन चुके हैं पर प्रभु उन्हें विश्वास-पात्र मानते हैं या नहीं ? प्रथम यात्रा में यह प्रमाणित हो चुका था कि इस विश्वास-पात्रता के एक मात्र अधिकारी हनुमानजी ही माने गए थे। फिर वालिपुत्र के रूप में उनके समक्ष यह प्रश्न तो था ही कि "क्या मैं प्रभु के साथ-साथ उनके निकटस्थ व्यक्तियों की दृष्टि में भी विश्वास का अधिकारी हूं या नहीं ?" अंगद के मन में उठने वाला यह प्रश्न अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वालि ने सुग्रीव को अपदस्थ करते हुए उन मन्त्रियों को भी अपना शत्रु मान लिया था जिन्होंने सुग्रीव से सिंहासन पर बैठने का अनुरोध किया था। सुग्रीव के साथ इन मन्त्रियों को भी नगर से निकाल दिया गया था। सुग्रीव के राज्याभिषिक्त होने के वाद इन मन्त्रियों का सम्मानित होना स्वाभाविक ही था। सुग्रीव अपने विपत्ति के इन साथियों को कैसे भुला सकते थे ! उसके पश्चात् मन्त्रियों का यह समूह सम्भवतः अंगद से एक प्रकार की दूरी का अनुभव करता रहा हो। भले ही यह वास्तविकता न हो पर अंगद को ऐसा लगना आश्चर्यजनक नहीं था। इसलिए इस समूह के निकट रहकर भी अंगद एक प्रकार की मानसिक दूरी का अनुभव करते हैं। सीता की खोज के प्रारम्भ में जिस प्रकार प्रभु ने हनुमान जी पर विश्वास प्रकट किया था उससे उनका हतप्रभ होना स्वाभाविक ही था। इन्हें इस मानसिक ग्रन्थि से मुक्त करने का सुअवसर इस समय प्राप्त हो गया। अंगद को दूत वनाकर भेजने का प्रस्ताव यदि केवल प्रभु की ओर से किया जाता तो इससे यही सिद्ध होता कि रामभद्र ने उन्हें अपना विश्वास-पात्र मान लिया है; पर अन्य लोगों की उनके विषय में क्या धारणा है यह गुत्थी उनके मन में ज्यों की त्यों वनी रहती। किन्तु ऋक्षराज की ओर से इस प्रस्ताव को रक्खे जाने के वाद प्रभु के द्वारा स्वीकृति से यह प्रमाणित हो गया कि न केवल प्रभु अपितु उनके निकटस्थ सभी व्यक्तियों ने उन्हें अपने विश्वास का पात्र मान लिया है।

ऋक्षराज का यह प्रस्ताव अन्य दृष्टियों से भी वुद्धिमत्ता पूर्ण था। सन्धि का प्रस्ताव वहुधा दुर्वल पक्ष की ओर से ही किया जाता है। जाम्ववान् को लगा कि इस प्रस्तावित सन्धिवार्ता को रावण कहीं राम की दुर्वलता न मान वैठे। इसलिए वालिपुत्र को एक सवल प्रतीक के रूप में चुना गया था। अंगद उस योद्धा के पुत्र थे जो रावण को पराजित कर चुका था। अंगद के माध्यम से उसे यह संकेत देने का प्रयास किया गया, कि यह सन्धि-प्रस्ताव भय के स्थान पर निर्भयता से प्रेरित है। फिर यदि सन्धि कराने के लिए किसी मध्यस्थ व्यक्ति की आवश्यकता थी तो इसके लिए अंगद से वढ़कर कोई उपयुक्त पात्र नहीं हो सकता था। एक ओर जहां वे राम के विश्वास-पात्र थे वहीं रावण के मित्र वालि के पुत्र के रूप में उन्हें उसका भी हितचिन्तक माना जाना चाहिए। इस सन्धि प्रस्ताव के

रूप में उसे पुरातन इतिहास की याद दिलाई जा रही थी जब वालि ने विजेता होते हुए भी उसे मित्रता और बराबरी का पद देना स्वीकार किया था। जाम्बवान् अंगद के माध्यम से यह याद दिलाना चाहते थे कि राघवेन्द्र भी उससे इसी प्रकार का व्यवहार करने के लिए इच्छुक हैं। यह संशयालु रावण के लिए एक राजनैतिक चुनौती भी थी। जहां वह अपने उद्धत और संशयालु स्वभाव के कारण अपने छोटे भाई विभीषण पर भी विश्वास नहीं कर पाता वहीं राम अपनी व्यापक और उदार दृष्टि से शत्रु-पुत्र को भी विश्वास-पात्र बना लेते हैं। यह रावण के राजनैतिक दर्शन की असफलता का सबसे बड़ा प्रमाण था। इस तरह जाम्बवान् का यह प्रस्ताव सभी दृष्टियों से सुसंगत था। उस समय तो अंगद के आनन्द की कोई सीमा ही नहीं रही जब मन्त्रिमण्डल ने सर्वसम्मति के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। स्वयं प्रभु को तो यह अभीष्ट था ही, किन्तु अंगद की मानसिक गुत्थी को समाप्त करने के लिये ही प्रभु यह चाहते थे कि यह प्रस्ताव दूसरों की ओर से रक्खा जाय। पिछली बार आञ्जनेय का चुनाव करते समय वे इस प्रकार की औपचारिकता की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। क्योंकि हनुमान जी के मन में इस प्रकार की कोई गुत्थी न थी। प्रस्ताव की सर्वसम्मत स्वीकृति के बाद प्रभु अत्यन्त प्रेम से अंगद को पास बुला लेते हैं। उन्होंने कहा : "प्रिय अंगद ! तुम मेरे कार्य की सफलता के लिए लंका में जाओ। वालि के पुत्र के रूप में तुम उन्हीं के समान बल, बुद्धि और गुण के निधान हो। इसलिए तुम्हें बहुत समझा कर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। मेरा कार्य और रावण का हित जिससे सम्भव हो तुम उसी प्रकार रावण से वार्तालाप करना।"

इहाँ प्रात जागे रघुराई।
पूछा मत सब सचिव बोलाई॥
कहहु बेगि का करिअ उपाई।
जामवंत कह पद सिरु नाई॥
सुनु सर्बग्य सकल उर वासी।
बुधि बल तेज धर्म गुन रासी॥
मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा।
दूत पठाइअ वालिकुमारा॥
नीक मंत्र सब के मन माना।
अंगद सन कह कृपानिधाना॥
वालितनय बुधि बल गुन धामा।
लंका जाहु तात मम कामा॥
बहुत बुझाइ तुम्हइ का कहऊँ।
परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
काजु हमार तासु हित होई।
रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

प्रभु अग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ।
सोइ गुन सागर ईस राम कृपा जा पर करहु॥
स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियउ।
अस बिचारि जुबराज तन पुलकित हरषित हियउ॥

प्रभु के इस प्रस्ताव को अंगद ने जिस उत्कृष्ट भावना भरे हृदय से स्वीकार किया उससे यह सिद्ध हो जाता है कि आज वे शरणागत, समर्पण और विश्वास के सच्चे अधिकारी बन चुके थे। उनके मन से ग्लानि और अवसाद का संस्कार दूर हो चुका था। इस आदेश को सुनकर उनके मन में किसी प्रकार के अभिमान का उदय नहीं होता है। क्योंकि उन्होंने इसे अपनी योग्यता के रूप में नहीं देखा। उनकी वाणी में हृदय की सच्ची विनम्रता फूट पड़ी। पुरुषार्थसंपन्न अंगद यह स्पष्ट कर देते हैं कि सच्चे गुणों की उपलब्धि तो आपकी कृपा से ही सम्भव है। वस्तुतः आपको अपने कार्य की पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है। आपने तो केवल मुझे गौरव प्रदान करने के लिए ही इस प्रकार का आदेश दिया है। अंगद की यह अनुभूति रोमांच के माध्यम से रोम-रोम से प्रकट हो रही थी। वालि ने अपने मृत्यु के क्षणों में अंगद की शरणागति और समर्पण का जो संकल्प लिया था सच्चे अर्थों में वह आज ही साकार हो पाया। मृत्यु के क्षणों में वालि के द्वारा समर्पण के जो वाक्य कहे गए उसे सुनकर प्रभु मौन रह गए थे। 'मौनं स्वीकृति लक्षणम्' के सिद्धान्तानुसार बालि ने ही इस मौन को ही स्वीकृति मान कर संतोष की सांस ली। पर यह मौन भी रहस्यपूर्ण था। प्रभु यह भली भांति जानते थे कि अंगद इस समय समर्पण और शरणागति की मनःस्थिति में नहीं हैं। जब तक यह संकल्प उनमें स्वयं जाग्रत् नहीं होता तब तक समग्र स्वीकृति का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रसंग की तुलना वैदिक विवाह पद्धति से की जा सकती है। जहां कन्यादान के रूप में विवाह की विधि सम्पन्न की जाती है। स्वतः कन्या का पति से कोई परिचय न होने पर भी पिता के प्रति विश्वास के कारण वह इस विवाह को मौन स्वीकृति दे देती है। वैदिक विवाह पद्धति से कन्या मन्त्रोच्चार के बीच अर्पित की जाती है। शास्त्रीय और लौकिक दोनों दृष्टियों से यह विवाह उसी दिन सम्पन्न हो जाता है। किन्तु इतने मात्र से ही विवाह की सार्थकता सिद्ध नहीं हो जाती। बाजे-गाजे और मन्त्रोच्चार के बीच सम्पन्न होने वाले ऐसे न जाने कितने ही विवाह असफल हो जाते हैं। विवाह वेदी की सारी प्रतिज्ञाओं को भुला कर जीवन भर लड़ते रहने वाले अगणित दम्पति देखे जा सकते हैं। वस्तुतः विवाह की सच्ची सार्थकता तो तब है कि जब पति-पत्नी के मन, बुद्धि और प्राण में एकत्व उत्पन्न हो जाय। विवाह की वेदी पर तो प्रत्येक पति पत्नी के हृदय का स्पर्श करता हुआ 'मम चित्तं ते चित्तं अस्तु' का संकल्प दोहराता है। पर इसकी सार्थकता तो संकल्प के साकार होने पर ही मानी जा सकती है। ठीक यही स्थिति यहां थी। वालि ने भले ही अंगद को अर्पण किया हो और अंगद तथा प्रभु के मौन को ही इसकी स्वीकृति के रूप में मान लिया हो पर वस्तुतः इसकी चरम सार्थकता तो

अंगद और प्रभु के इस वार्तालाप में ही है। इसके पहले तो दोनों के मध्य में कुछ न कुछ दूरी विद्यमान ही थी। प्रभु का यह सोचना स्वाभाविक था कि जब तक अंगद के अन्तःकरण में मेरे प्रति विश्वास का उदय नहीं होता है तब तक पूर्ण स्वीकृति का प्रश्न ही कहां उठता है? दूसरी ओर अंगद के मन में राम की ईश्वरता के प्रति ती संशय था ही। यह भी धारणा बनी हुई थी कि राघवेन्द्र उन्हें पूरी तरह विश्वास पात्र नहीं समझते हैं। किन्तु आज जब दोनों को सामीप्य का बोध हुआ तब वह स्वीकृति दोनों के मुख से वाणी के माध्यम से भी प्रकट हुई।

अंगद के इस अभियान का प्रारम्भ भी एक सच्चे भक्त की ही भांति होता है। वे यात्रा के प्रारम्भ में प्रभु के चरण और उनके प्रभाव का स्मरण करते हैं। अब आत्मपौरुष की स्वीकृति का स्थान प्रभु के स्मरण ने ले लिया था। और रावण की सभा में भी अंगद ने इन दोनों स्मृति के सूत्रों को व्याख्या के रूप में विस्तार से दोहरा दिया। उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप का उद्देश्य प्रभु के प्रभाव और चरणों की महिमा का विज्ञापन ही था। रावण के साथ उनके वार्तालाप का केवल तू-तू-मैं-मैं के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। उनके वार्तालाप में नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ का अद्‌भुत समन्वय विद्यमान था। वे प्रत्येक क्षेत्र में रावण को पराजित करने में सफल होते हैं। उनकी यह उपलब्धि वालि की तुलना में कहीं अधिक महान् थी। जहां वालि ने रावण को केवल शारीरिक बल के क्षेत्र में पराजित किया, वहां अंगद ने उसे बल और बुद्धि दोनों ही क्षेत्रों में पराजित कर दिया। फिर जहां वालि ने उस विजय के द्वारा अपने गौरव की वृद्धि की थी वहां अंगद ने इसका उपयोग केवल प्रभु के गौरव को प्रतिष्ठापित करने के लिए ही किया।

अंगद और रावण के वार्तालाप को बहुधा नोक-झोंक के रूप में देखा जाता है। इस लम्बे वार्तालाप में इसका अभाव भी नहीं है; पर इस प्रकार की शैली के प्रयोग का प्रारम्भ भी पहले रावण की ओर से हुआ। निर्भय अंगद को देखकर रावण परिचय की जिज्ञासा प्रकट करता है। अंगद ने दो भिन्न रूपों में अपना परिचय दिया। वालि के पुत्र के रूप में अपना परिचय देने के साथ-साथ वे स्वयं को रघुवीर के दूत के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। अपितु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उन्होंने प्रभु के दूतत्व को ही प्राथमिकता दी :

कह दसकंठ कवन तैं बंदर।
मैं रघुबीर दूत दसकंधर॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई।
तव हित कारन आयउँ भाई॥
उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।
सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा।
जीतेहु लोकपाल सब राजा॥

नृप अभिमान मोह बस किंबा।
हरि आनिहु सीता जगदंबा॥
अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा।
सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा॥
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी।
परिजन सहित संग निज नारी॥
सादर जनकसुता करि आगें।
एहि बिधि चलहु सकल भय त्यागें॥
प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि॥

इस प्रसंग में आंजनेय और रावण के वार्तालाप का स्मरण आना स्वाभाविक है। दोनों के वार्तालाप की शैली में कुछ भिन्नताएं हैं। हनुमान जी अपना परिचय केवल राम के दूत के रूप में ही देते हैं। उन्होंने पवन के पुत्र के रूप में अपना कोई परिचय देने की आवश्यकता नहीं समझी। इसके विपरीत अंगद 'वालितनय' के रूप में अपना परिचय देना नहीं भूलते हैं। इसे दोनों की स्वभावगत भिन्नता के रूप में तो देखा ही जा सकता है पर इसके राजनैतिक पक्ष की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह अत्यन्त सरलता से कहा जा सकता है कि अंगद की तुलना में आंजनेय कहीं अधिक विनम्र हैं। वे स्वयं आत्म-विज्ञापन से अत्यन्त दूर रहने वाले हैं। पर इसका तात्पर्य यह मान लेना कि अंगद अहंकारी और आत्म-विज्ञापक थे, उनके चरित्र के प्रति अन्याय होगा। वस्तुतः अंगद के द्वारा अपना परिचय 'वालि-तनय' के रूप में दिया जाना राजनैतिक दृष्टि से परमावश्यक था। क्योंकि उनके दूत वनाए जाने के पीछे तो मुख्य हेतु उनका 'वालितनय' होना ही था। इस प्रसंग के प्रारम्भ में जाम्बवान् के इस दृष्टिकोण की चर्चा की जा चुकी है। प्रभु भी अंगद से अपने वार्तालाप का श्री गणेश 'वालितनय' के सम्वोधन के द्वारा ही करते। इसलिए 'मैं रघुवीर दूत दसकंधर' के पश्चात् 'वालितनय' के रूप में वे अपना परिचय देकर भक्ति और नीति में समन्वय की स्थापना करते हैं।

परिचय के तत्काल वाद अंगद अपने आने का उद्देश्य प्रकट कर देते हैं। वे अपने भाषण का श्रीगणेश वालि और रावण की मित्रता के संस्मरण से करते हैं। वे रावण से अनुरोध करते हैं कि उनकी वातों को शत्रुता के सन्दर्भ में न देखें। पिता के नाते वे उसके भी हितैषी ही हैं। रावण के उत्कृष्ट कुल की सराहना करने के साथ-साथ रावण के द्वारा की जाने वाली तपस्या और उपासना का भी स्मरण करते हैं। उसमें अनेक राजोचित धर्म विद्यमान हैं और उसने युद्ध कौशल के द्वारा अनेक सफलताएं प्राप्त की हैं। इस तरह प्रशंसा के उद्‌गार प्रकट करने के वाद वे रावण के द्वारा मैथिली के अपहरण की घटना पर आते हैं। वे इस प्रसंग में भी उसे अधिक लज्जित करने का प्रयास नहीं करते। वे उसके अपराध का बोझ हल्का करने के लिए मान लेते हैं कि क्षणिक अभिमान और मोह की प्रेरणा से ही उससे

ऐसा कार्य हो गया होगा पर अब उस त्रुटि का परिमार्जन होना चाहिए। वे प्रभु की ओर से यह आश्वासन भी देते हैं कि उसके अपराधों को भुला दिया जायगा। इसलिए वे उससे शरणागत होने का अनुरोध करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके भाषण का उद्देश्य रावण से किसी नोक-झोंक में उलझना नहीं था। वे तो 'काज हमार तासु हित होई' के रूप में दिए गए आदेश का ही पालन कर रहे थे। अंगद ने शरणागति की जिस प्रक्रिया का वर्णन किया था उसको पढ़कर अवश्य ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें रावण को अपमानित करने का प्रयास किया गया है पर इसके पीछे भी अंगद की चतुराई ही थी। वे यह जानते थे कि रावण मृदुता को दुर्बलता का पर्यायवाची मानता है। उनके सन्धि प्रस्ताव को कोरी दुर्बलता न मान लिया जाय इसे दृष्टिगत रखकर ही उन्होंने प्रस्ताव में दृढ़ता और कोठरता के सूचक शब्दों का भी समावेश कर दिया था। वह तो रावण ही था जिसने सारे वार्तालाप को नोक-झोंक, व्यंग्य और उपहास की दिशा में मोड़ देने का प्रयास किया। वह इतना बड़ा मूर्ख नहीं था कि अंगद के द्वारा दिए गए परिचय से यह न समझ गया हो कि अंगद वालि के पुत्र हैं। पर वह जानबूझ कर अनजानेपन का अभिनय करता है। कोई उससे मित्रता या बराबरी का दावा करे यह उसके लिए असह्य था। इसलिए वह उपेक्षा प्रदर्शित करता हुआ अंगद से यह प्रश्न करता है कि "तुम किस नाते से मित्रता का दावा करते हो?" अंगद रावण के इस मिथ्या दम्भ पर क्षुब्ध हो जाते हैं और तब उन्होंने यह निर्णय किया कि रावण सुसंस्कृत उत्तर का अधिकारी नहीं है। उससे उसी की शैली में वार्तालाप करना उपयुक्त होगा। इसके पश्चात् तो परस्पर व्यंग्य, कटाक्ष और उपहास का दौर ही प्रारम्भ हो जाता हैं। इस कला में भी वे रावण से वाजी मार ले जाते हैं। वे कहते हैं, "मेरा नाम अंगद है और मैं वालि का पुत्र हूं। क्या आपकी कभी उनसे भेंट हुई थी? उसे तुम्हारे लिए भुलाने की चेष्टा करना स्वाभाविक ही है पर क्या वस्तुतः तुम उसे चाहकर भी भुला सकते हो?" अंगद का यह सटीक प्रहार क्षण भर के लिए रावण को हतप्रभ कर देता है। वह वालि से अपने परिचय को अस्वीकार करने की स्थिति में तो नहीं था फिर भी अपने स्वभाव के अनुरूप उसने वालि को एक साधारण व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया। पर अचानक ही उसकी विचार-धारा दूसरी दिशा में मुड़ी और उसने कूटनीतिक प्रयास करने का निर्णय किया। उसे यह ज्ञात था कि वालि का वध राम के द्वारा हुआ है। ऐसी स्थिति में वह सोचता है कि क्या अंगद ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्ठावान् हो सकता है जिसके हाथों उसके पिता का वध हुआ है? ऐसी स्थिति में मैं क्यों न भेद-नीति के द्वारा अंगद को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करूं? सम्भव है परिस्थितियों की विवशता के कारण अंगद अपनी वास्तविक भावनाओं को छिपाने के लिए वाध्य हुआ हो, पर आज उसकी सुषुप्त भावनाओं को जाग्रत् किया जा सकता है। यदि अंगद मेरे आश्रय से भयमुक्त होकर राम से वदला लेने का प्रयास करे तो यह मेरी बहुत बड़ी कूटनीतिक विजय होगी। इसलिए वह अपने शाब्दिक प्रहार के द्वारा अंगद के

अहंकार को चैतन्य करने का प्रयास करता है।

रे कपिपोत बोलु संभारी।
मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी॥
कहु निज नाम जनक कर भाई।
केहि नाते मानिऐ मिताई॥
अंगद नाम बालि कर बेटा।
तासों कबहुँ भई ही भेटा॥
अंगद बचन सुनत सकुचाना।
रहा बालि बानर मैं जाना॥
अंगद तहीं बालि कर बालक।
उपजेहु बंस अनल कुल घालक॥
गर्भ न गयउ ब्यर्थ तुम्ह जायहु।
निज मुख तापस दूत कहायहु॥
अब कहु कुसल बालि कहँ अहई।
बिहँसि बचन तब अंगद कहई॥

रावण के इस चिन्तन को युक्ति के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। रावण ने जो तीव्र कटाक्ष किए थे उन्हें झेल पाना किसी भी व्यक्ति के लिए सरल नहीं था। ऐसी स्थिति में एक साधारण व्यक्ति भी कुछ क्षणों के लिए उत्तेजित हो सकता है, फिर ये तो तेजस्वी राजकुमार अंगद थे। रावण ने बड़ी ही आक्षेपात्मक भाषा में अंगद पर प्रहार करते हुए यह कहा कि "अरे अंगद क्या तू ही बालि का पुत्र है? क्या अपने वंश को जलाने और विनष्ट करने के लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है? इससे अच्छा तो यही था कि तुम गर्भ में विनष्ट हो जाते। अपने मुख से उस पितृ-घाती तापस का दूत कहलाने में तुम्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता है।" वस्तुतः रावण को इतना कहने के पश्चात् ही चुप हो जाना चाहिए था पर अचानक उसमें उपहास की वृत्ति का उदय होता है और वह अंगद से पूछ उठता है कि "अब तुम यह बताओ कि बालि कहां है और वह कुशलपूर्वक तो है न?" वस्तुतः इस उपहास में ऐसा प्रतीत होता है कि रावण एक असन्तुलित व्यक्ति के समान आचरण कर रहा था। अंगद उसके इस असन्तुलन का लाभ उठाते हैं। रावण के अन्तिम प्रहार को वे उसी की दिशा में लौटा देने में सफल होते हैं। वे उलट कर रावण से कहते हैं कि "दस दिनों के पश्चात् तुम बालि के पास जाकर उन्हें हृदय से लगाकर कुशल-प्रश्न पूछ लेना। राम का विरोध करने में किस प्रकार की कुशलता होती है वे भली भांति तुम्हें सुना देंगे।" अंगद के उत्तर में व्यंग्य की तीक्ष्णता विद्यमान है। पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या रावण को लज्जित करने की चेष्टा में वे अपने ही पिता के गौरव को विनष्ट करने का प्रयास नहीं करते हैं? क्या एक स्वाभिमानी पितृभक्त पुत्र इस प्रकार की भाषा का प्रयोग कर सकता है? क्या यह उत्तर अंगद की गरिमा को विनष्ट करने वाला नहीं है? प्रथम दृष्टि में कुछ ऐसा

ही प्रतीत होता है। पर उनके अन्तिम वाक्य के सन्दर्भ में विचार करने पर उनके तात्त्विक दृष्टिकोण को हृदयंगम किया जा सकता है। अपने वाक्यों का समापन करते हुए उन्होंने रावण से कहा था, "अरे दुष्ट रावण, उसी व्यक्ति के मन में भेद उत्पन्न हो सकता है जिसे अन्तर्यामी रघुवीर की उपस्थिति का भान नहीं है :"

दिन दस गएँ बालि पहिं जाई।
बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥
राम बिरोध कुसल जसि होई।
सो सब तोहि सुनाइहि सोई॥
सुनु सठ भेद होइ मन ताकें।
श्री रघुबीर हृदयँ नहिं जाकें॥

वस्तुतः यह उन अंगद की भाषा है जो इस बीच में घटित होने वाली घटनाओं को केवल मानवीय धरातल पर नहीं देखते। यदि उन्होंने इसे केवल भौतिक धरातल पर देखा होता तो वे निश्चित रूप से राम के प्रति द्वेष भावना से भरे हुए होते। एक स्वाभिमानी व्यक्ति के रूप में वे राम से बदला लेने का प्रयास करते पर वे जब इन घटनाओं को तात्त्विक धरातल पर देखते हैं तब उन्हें अपने पिता की आलोचना करने में भी किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं होता है। विश्व की एक इकाई में देश, जाति, कुल आदि को केन्द्र बनाकर किया जाने वाला विभाजन केवल संघर्ष की ही सृष्टि करता है। जहां न्याय-अन्याय का निर्णय अपने और परायेपन के आधार पर किया जाता है, वहां सच्चे न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रत्येक स्वार्थपरायण व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए इस प्रकार के विभाजनों को कवच के रूप में प्रयुक्त करता है। दूसरों के विरुद्ध विजय प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति भी अहं और ममता की इन भावनाओं को उभाड़ कर अपने पीछे एक संगठित शक्ति एकत्र करने में सफल होते हैं। इन आन्तरिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। इस विकृति को मिटाने का सर्वोत्कृष्ट उपाय ईश्वर के विराट् रूप का चिन्तन है। देश, जाति और कुल आदि उसी विराट् के अंग-प्रत्यंग हैं। इसलिए उनमें परस्पर विरोध सर्वथा असंगत है। ऐसी स्थिति में दण्ड का उपयोग बदले के लिए न होकर समग्र शरीर की सुरक्षा की दृष्टि से होता है। व्यक्ति को अपना प्रत्येक अंग अत्यन्त प्रिय होता है पर किसी अंग में विशेष विकृति उत्पन्न हो जाने पर उसे शरीर से पृथक करने के लिए उसे बाध्य होना पड़ता है। अंगद की दृष्टि में राम उसी विराट् पुरुष के प्रतीक हैं। बालि के प्रति किया जाने वाला उनका प्रहार शत्रुता की भावना से प्रेरित नहीं था। वह तो शल्य-चिकित्सा के द्वारा विकृत अंग को पृथक् करने का प्रयास मात्र था। ऐसी स्थिति में अंगद को उत्तेजित करने के प्रयास की तुलना के लिए एक ही दृष्टान्त दिया जा सकता है। भयानक विकृति के कारण एक व्यक्ति को अपनी एक अंगुली कटवा देनी पड़ी अब अगर यह कह कर बगल वाली अंगुलियों को भड़काने की चेष्टा की जाय कि तुम्हारे अभिन्न साथी को मार डाला गया

है और अब तुम्हें इसका वदला शरीर से लेना चाहिए तो इसे सुनकर अंगुलियों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? क्या वे विद्रोही वनकर शरीर से वदला लेने का प्रयास करेंगी ? या उन्हें इसके लिए कृतज्ञ होना चाहिए कि विकृत अंगुली को काट कर न केवल सारे शरीर को अपितु उन्हें भी सुरक्षा प्रदान की गई है। इसलिए अंगद रावण के उकसाने पर भी विद्रोही बनकर वदला लेने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं। अपितु उन्हें यह आश्चर्य होता है कि वालि की मृत्यु से रावण स्वतः किसी प्रकार की शिक्षा न लेकर उसे भी विनाश के पथ पर ले जाना चाहता है। वालि की मृत्यु के पश्चात् रावण को किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाना चाहिए कि वालि को दण्ड देने में समर्थ ईश्वर के लिए उसका वध कोई कठिन कार्य है। पर जब रावण इस प्रत्यक्ष सत्य को भी नहीं देख पाता तब अंगद को यह मान लेना पड़ता है कि रावण बीस आंख वाला अन्धा है। अंगद की दृष्टि में तो रावण अन्धत्व की सीमा से भी आगे बढ़ा हुआ है। वहुधा यह देखा जाता है कि नेत्र-रहित व्यक्तियों की श्रवण-शक्ति अत्यन्त प्रवल होती है। वे दृष्टि के अभाव को श्रवण के माध्यम से पूरा करने का प्रयास करते हैं। पर जव व्यक्ति में अन्धत्व के साथ वधिरता भी आ जाय तव उसके कल्याण की कल्पना नहीं की जा सकती। रावण की स्थिति भी ठीक इसी प्रकार की है। न तो वह स्वयं सत्य को देखना चाहता है और न वह दूसरों के उपदेश को सुन ही सकता है। अंगद को ऐसा प्रतीत होता है कि रावण अपने कार्यों के द्वारा अपने वीस नेत्र और वीस कानों को निरर्थक और उपहासास्पद सिद्ध कर रहा है। ऐसी स्थिति में वालि की भूलों से शिक्षा न लेने वाला रावण मृत्यु का ग्रास वनने जा रहा है, इसमें उन्हें कोई सन्देह नहीं रह जाता है। इसीलिए वे यह स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं कि कुछ दिनों के पश्चात् वालि से तुम्हारी भेंट अवश्यम्भावी है। वे रावण को स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी भी दे देते हैं कि "तुम भले ही कुलघातक कहकर मेरी निन्दा करो, पर वास्तविक कुलघातक तो तुम्हीं हो, जो अपनी भूलों के कारण सारी राक्षसजाति के विनाश पर तुले हुए हो।"

रावण ने अंगद के दूतत्व पर भी आक्षेप किया था। उसका व्यंग्य यह था कि एक राज्य के उत्तराधिकारी युवराज होते हुए भी तुमने एक राज्यवंचित, वनवासी की सेवकाई स्वीकार करके किस गौरव की वृद्धि की है ? अंगद रावण को यह वता देना चाहते हैं कि तुम जिसे राज्यहीन तपस्वी कह कर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हो वह साक्षात् ईश्वर है। ब्रह्मा और शिव भी उनकी सेवा में सौभाग्य का अनुभव करते हैं। इस वाक्य में अंगद का निहित व्यंग्य यह था कि ये ब्रह्मा और शिव वही हैं जिनके चरणों में गिर कर वरदान पाने के लिए तुम गिड़गिड़ा चुके हो। ऐसी स्थिति में अपने आराध्यजनों के आराध्य को हीन दृष्टि से देखना तुम्हारे अविवेक का ही परिचायक है :

हम कुल घालक सत्य तुम्ह कुल पालक दससीस।
अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस॥

सिव विरंचि सुर मुनि समुदाई।
चाहत जासु चरन सेवकाई।।
तासु दूत होइ हम कुल वोरा।
अइसिहुँ मति उर विहर न तोरा।।

इसके पश्चात् अंगद और रावण का वाक्युद्ध चरम शिखर पर पहुंच जाता है। अंगद को ऐसा लगता है कि रावण सारी मर्यादाओं का उल्लंघन करता हुआ रामभद्र की निन्दा पर इस सीमा तक उतर आया है कि केवल शाब्दिक प्रहार के द्वारा इसका सही उत्तर नहीं दिया जा सकता। और तब वे अपने पौरुष का प्रदर्शन करते हुए क्रोध में भरकर पृथ्वी पर मुक्के से प्रहार करते हैं। उनके प्रहार से पृथ्वी कांप उठी और रावण मुंह के वल सिंहासन से नीचे आ गिरा। रावण के मुकुट उसके सिर से दूर जा पड़े जिनमें से कुछ अंगद के हाथों में पड़ गए और उन्हें प्रभु के पास अंगद ने फेंक दिया। पृथ्वी में पड़े हुए कुछ मुकुटों को रावण पुनः उठा लेने में सफल होता है और तत्काल उन्हें सिर पर धारण कर लेता है :

जव तेंहि कीन्हि राम कै निंदा।
क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा।।
हरि हर निंदा सुनइ जो काना।
होइ पाप गोघात समाना।।
कटकटान कपिकुंजर भारी।
दुहु भुजदंड तमकि महि मारी।।
डोलत धरनि सभासद खसे।
चले भाजि भय मारुत ग्रसे।।
गिरत सँभारि उठा दसकंधर।
भूतल परे मुकुट अति सुन्दर।।
कछु तेहिं लै निज सिरन्हि सँवारे।
कछु अंगद प्रभु पास पवारे।।

अंगद का यह कार्य केवल पौरुष का प्रदर्शनमात्र नहीं था। उनके इस व्यवहार के पीछे अनेक प्रतीकात्मक तात्पर्य छिपे हुए थे। यदि वे चाहते तो अपने मुक्के का प्रहार सीधे रावण पर कर सकते थे किन्तु वे रावण की सारी सभा के सदस्यों को दण्डित करते हुए चेतावनी देना चाहते थे। रावण की सभा के सदस्य प्रारम्भ में अंगद के आने पर उठकर खड़े हो गए थे। इस प्रकार समादर प्रकट करने वालों का यह कर्तव्य था कि वे अपने आदरणीय के सम्मान की रक्षा करने का प्रयास करते। पर उन्होंने तो ऐसी चुप्पी साध ली कि जैसे सवको सांप सूंघ गया हो। रावण की अमर्यादित वातों का विरोध करने की सामर्थ्य उनमें से किसी ने नहीं दिखाई। अंगद उन राक्षसों की उस दुरंगी नीति पर प्रहार करते हैं जो अंगद और रावण दोनों को ही प्रसन्न रखने का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं। अंगद उन्हें यह दिखा देना चाहते हैं कि इस चतुराई के द्वारा वे अपने को वचा पाने में समर्थ

नहीं होंगे। ईश्वर ने व्यक्ति को वाणी इसीलिए दी है कि वह अवसर आने पर अन्याय का विरोध कर सके। पर यदि वे अपने कर्तव्य से च्युत होते हैं तो उनका मुंह के वल गिरना अवश्यम्भावी है। वे मौन रहकर अपने को दंडित होने से नहीं वचा सकते। दूसरी ओर अंगद इस मुष्टि-प्रहार के द्वारा रावण का ध्यान सत्ता की अस्थिरता की ओर आकृष्ट करते हैं। रावण अपनी सत्ता को अचल मान वैठा था। इसीलिए वह आंजनेय के 'लंका अचल राज तुम करहू' के उपदेश को उपहासास्पद मानता है। अंगद इस प्रक्रिया के द्वारा आंजनेय के वाक्य की यथार्थता को प्रमाणित कर देते हैं। वे यह दिखा देते हैं कि तुम्हारी सत्ता इतनी अस्थिर है कि वह एक वन्दर के मुक्के के प्रहार मात्र से धूलि-धूसरित हो गई। फिर ईश्वर के प्रहार से उसकी क्या दशा होगी इसकी कल्पना करने का प्रयास करो। पर रावण इन प्रतीकात्मक संकेतों की उपेक्षा करता हुआ पुनः सत्ता के अधिकार के प्रयास में संलग्न हो जाता है। वह स्वयं को पंडित मानता था और उसे ऐसे अवसर पर उस नीति-वाक्य का स्मरण हो आया होगा जिसमें सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न होने के लिए आधे को वचा लेने के लिए कहा गया है। 'सार्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः।' उसे लगा होगा कि छः मुकुटों के माध्यम से उसने आधे से भी अधिक पर अधिकार पाने में सफलता प्राप्त कर ली है। इसलिए वह पंडित ही नहीं अपितु महापंडित की उपाधि पाने का अधिकारी है। इस तरह पंडित मन्य रावण स्वयं को आत्म-प्रववंचना में डालकर सन्तुष्ट होने का प्रयास करता है। अंगद के हाथ में चार मुकुट आ गए थे, यह अंगद की भी परीक्षा की वेला थी। इससे वे अपने पौरुष और सफलता के प्रति अभिमानी भी हो सकते थे। वे यह सोचकर प्रसन्न हो सकते थे कि रावण के दिव्य तेजोमय चार मुकुट उन्हें प्राप्त हो चुके हैं और ये उनकी चौगुनी सफलता के परिचायक हैं। वे इन चारों मुकुटों को चाहे जब अदल-वदल कर अपने सिर पर धारण कर सकते हैं। पर वे इस प्रकार की किसी भ्रान्ति में नहीं फंसते हैं। वे एक क्षण के लिए भी उस विजय-चिह्न को अपने पास रखने की चेष्टा नहीं करते। वे उन्हें सीधे उठाकर प्रभु के चरणों में प्रेषित कर देते हैं। इस क्रिया के पीछे उनके कवि-हृदय का परिचय प्राप्त होता है। उन्हें लगता है कि सद्‌गुणों के प्रतीक यह मुकुट अव एक क्षण के लिए भी रावण के पास नहीं रहना चाहते। अव इन उतावले गुणों को तत्काल प्रभु के चरणों में पहुंचा देना चाहिए। राजनीति के सन्दर्भ में इसका तात्पर्य यह था कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि वह दूसरों से सत्ता छीन कर स्वयं उसे अपने पास सुस्थिर रख सकता है तो इससे वढ़कर अविवेक का कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिए यदि सत्ता की इस छीना-झपटी में रावण के मुकुटों को छीनकर मैं अपने सिर पर धारण करने की चेष्टा करता हूं तो यह मेरी सवसे वड़ी मूर्खता होगी। सत्ता के प्रतीक इन मुकुटों को तो उन चरणों में अर्पित किया जाना चाहिए जहां पहुंच कर चल भी अचल हो जाते हैं :

जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहत कवहूँ।
हरि पद पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ ।।

एक ओर अंगद जहां भावना की दिव्य अनुभूति में डूबे हुए थे वहां शुष्क हृदय आत्म-प्रवंचना कुशल रावण क्रोध में भरकर अंगद को दण्डित करने का आदेश देता है। उसने कहा कि "इस वन्दर को तत्काल मार डालो और सारी पृथ्वी वन्दरों से शून्य कर दोनों भाइयों को जीवित पकड़ लो।" इस आदेश के द्वारा रावण स्वयं अपने को उपहासास्पद स्थिति में डाल लेता है। अकेले अंगद ने उसे सारे सभासदों के सहित संत्रस्त कर दिया था। अंगद को भी रोक पाने में असमर्थ रावण जव सारी पृथ्वी को वन्दरों से शून्य कर देने का आदेश देता है और राम-लक्ष्मण को जीवित पकड़ लेने की वात करता है तव वस्तुतः वह स्वयं के डरे हुए मन को ही आश्वस्त करने का प्रयास करता है। क्योंकि उसके आदेश को क्रियान्वित करना तो दूर, उसके वाक्य पर ध्यान देने वाला भी कोई नहीं था। अगणित व्यक्तियों पर शासन करने वाला रावण अंगद के पौरुष के द्वारा असमर्थता की चरम स्थिति में पहुंचाया जा चुका था। पर रावण उन व्यक्तियों में से था जो हार कर भी अपनी हार कभी स्वीकार नहीं करते। रावण की इस निर्लज्जता पर अंगद अत्यन्त आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उनके आवेश की कोई सीमा न रही और फिर वे कठोरतम शब्दों में रावण की भर्त्सना करते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे अंगद उस समय तेजस्वी और निर्भीक वालि का प्रतिनिधित्व कर रहे थे :

पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा।
गाल बजावत तोहि न लाजा ।।
मरु गर काटि निलज कुलघाती।
बल बिलोकि बिहरति नहिं छाती ।।
रे त्रिय चोर कुमारग गामी।
खल मल रासि मंदमति कामी ।।
सन्यपात जल्पसि दुर्बादा।
भएसि कालबस खल मनुजादा ।।
याको फलु पावहिगो आगें।
बानर भालु चपेटन्हि लागें ।।
रामु मनुज बोलत असिबानी।
गिरहिं न तव रसना अभिमानी ।।
गिरिहहिं रसना संसय नाहीं।
सिरन्हि समेत समर महि माहीं ।।

सो नर क्यों दसकंध बालि बध्यो जेहिं एक सर।
बीसहुँ लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़ ।।
तव सोनित की प्यास तृषित राम सायक निकर।
तजउँ तोहि तेहि त्रास कटु जल्पक निसिचर अधम ।।

मैं तव दसन तोरिबे लायक।
आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥
असि रिस होति दसउ मुख तोरौं।
लंका गहि समुद्र महँ बोरौं॥
गूलरि फल समान तव लंका।
बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका॥
मैं बानर फल खात न बारा।
आयसु दीन्ह न राम उदारा॥

अंगद के प्रथम भाषण में जहां सौम्य शब्दावली में रावण को शरणागति की प्रेरणा दी गई थी वहां उपर्युक्त भाषण पूरी तरह आक्रामक भाषा में रावण की भर्त्सना के लिए दिया गया है। क्योंकि अंगद यह भली भांति समझ चुके थे कि रावण को विनम्रता और सौम्य भाषा के द्वारा समझाया नहीं जा सकता। इतना ही नहीं वे तो यह भी अनुभव कर चुके थे कि किसी भी नीति के द्वारा रावण के जीवन में परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है। फिर इस प्रकार की शब्दावली और आवेश की क्या आवश्यकता थी? विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस व्यवहार में भी उनकी राजनैतिक दूरदर्शिता छिपी हुई थी। वस्तुतः वे अपने भाषण के द्वारा रावण की सभा में उपस्थित व्यक्तियों को आतंक से मुक्त करने का प्रयास करते हैं। लोगों के मन में रावण का आतंक इतना अधिक था कि बोलना तो दूर वे उससे दृष्टि मिलाने का भी साहस नहीं कर पाते थे। इससे पहले आंज-नेय ने रावण की सभा में न केवल दैत्यों को अपितु देवताओं को भी आतंकित भाव से उसकी भौंहों की ओर कनखियां उठाकर देखते हुए देखा था। महावीर पवनपुत्र अपने निर्भीक व्यवहार और लंका-दहन के द्वारा देवताओं के मन में छाए हुए आतंक को एक सीमा तक समाप्त करने में सफलता प्राप्त करते हैं। इसीलिए अंगद के आगमन पर रावण की सभा में देवताओं की उपस्थिति का कोई संकेत नहीं किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय तक देवता इतने भय-मुक्त हो चुके थे कि अब रावण की सभा में अपनी उपस्थिति की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते हैं। किन्तु राक्षसों की स्थिति भिन्न प्रकार की थी। वे रावण के भय से तो मुक्त हो ही नहीं सके थे, आंजनेय का भय उनके मन में और समा गया था। इस तरह वे भय की दुहरी चक्की में पिस रहे थे। वे रावण के समक्ष मुख खोलने का साहस नहीं कर पा रहे थे। उन्होंने यह भी देख लिया कि विभीषण, माल्यवान और प्रहस्त जैसे लोगों ने यदि मुख खोलने का साहस किया भी तो उन्हें दण्डित या अपमानित होना पड़ा। अंगद के आने पर वे राक्षस विचित्र मनःस्थिति में थे। उन्होंने प्रारम्भ में अंगद को आंजनेय समझ लिया और वे भयभीत होकर स्वागत के लिए खड़े हो गये थे। रावण की दृष्टि में इस प्रकार का व्यवहार अक्षम्य था, पर परिस्थिति को देखते हुए रावण को मौन रह जाना पड़ा। उसे यह ज्ञात था कि आंजनेय के बल से सारे राक्षस आतंकित हैं। अंगद से निर्भीकतापूर्वक बोलता हुआ

जब वह उन्हें हीन और तुच्छ सिद्ध करने का प्रयास करता है तब उसका उद्देश्य अंगद को पराजित करने के साथ-साथ अपने सभासदों को वन्दर के भय से मुक्त करना भी था। पर अपने इस प्रयास में वह बुरी तरह असफल रहा। अंगद के निर्भीक भाषण और व्यवहार से राक्षस इतने आतंकित हो उठे कि एक वार तो वे सभा से उठकर भाग खड़े हुए थे। ऐसी स्थिति में रावण आतंकित लोगों को पुनः सभा में आने की प्रेरणा देने के लिए अपनी निर्भीकता का प्रदर्शन करता है। वन्दरों से पृथ्वी शून्य कर देने का आदेश इसी उद्देश्य को सामने रखकर दिया गया था। राक्षस किसी प्रकार साहस वटोरकर सभा में अपना स्थान ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। ऐसी स्थिति में अंगद उन राक्षसों के अन्तःकरण में विद्रोह की भावना भरने का प्रयास करते हैं। वे राक्षसों को प्रत्यक्ष यह दिखला देना चाहते हैं कि जिस रावण के भय से तुम सव मुंह नहीं खोल पाते हो वह एक वन्दर का भी कुछ नहीं विगाड़ सकता। संसार को संत्रस्त करने वाला रावण भरी सभा में एक वन्दर के द्वारा बुरी तरह फटकारा जा रहा था। रावण राक्षसों पर पड़ने वाले इस विपरीत प्रभाव को समझ लेता है और तव वह अचानक अपनी रणनीति में परिवर्तन कर लेता है। अंगद के क्रोध का उत्तर क्रोध से देने के स्थान पर वह मुस्कराहट का अभिनय करता है। इसके द्वारा न केवल वह अपनी निर्भीकता का प्रदर्शन करता है अपितु लोगों पर यह छाप डालने की चेष्टा करता है कि वन्दर के द्वारा होने वाले सारे क्रिया-कलाप को मैं मनोरंजन की दृष्टि से देखता हूं। मेरी सभा में आज तक जैसे अनेक विदूषक अपने कौशल के द्वारा हंसाते रहे हैं, यह भी उन्हीं में से एक है। इसलिए उसके क्रोध को भी मैं उपहासास्पद ही मानता हूं। अंगद के इस लम्बे भाषण का उत्तर उसने केवल मुस्कराहट और दो वाक्यों के माध्यम से दिया। वह अपने को एक ऐसे वड़े वूढ़े के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है जो वालक के उपद्रवों को देखकर मुस्कराता हुआ उसे थोड़ी-सी डांट वताने का प्रयास कर रहा हो। वह मुस्कराकर अंगद से कहता है, "अरे मूर्ख ! तूने ऐसी झुठाई कहां से सीख ली; वालि तो कभी इस प्रकार गाल नहीं वजाता था किन्तु लगता है कि उन तपस्वियों के साथ रहने के कारण तू भी उन्हीं की तरह लवार हो गया है :"

जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।
मूढ़ सिखिहि कहँ बहुत झुठाई॥
बालि न कबहुँ गाल अस मारा।
मिलि तपसिन्ह तैं भएसि लबारा॥

अंगद यह समझ लेते हैं कि रावण से वार्तालाप करना व्यर्थ है। वह वाक्यों के अर्थ को मोड़ने की कला में निपुण हैं। फिर भी वे प्रभु के प्रताप को प्रमाणित करने के लिए एक प्रयास और करते हैं। अचानक वे रावण की सभा में अपने पैर आगे रखकर खड़े हो जाते हैं और रावण से चुनौती भरे स्वर में कहते हैं, "अरे दुष्ट ! यदि मेरे चरणों को तू हटा दे तो मैं सीता जी को हारता हूं और मैं वचन देता हूं कि राम लौट जायेंगे :"

समुझि राम प्रताप कपि कोपा।
सभा माँझ पन करि पद रोपा॥
जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥

अंगद की इस प्रतिज्ञा में जिस अद्भुत विश्वास और नीतिकुशलता का परिचय प्राप्त होता है वह कई दृष्टियों से मानस में अद्वितीय है। मानस में पग-पग पर विश्वास की महिमा का गायन किया गया है। अनेक भक्तों की वाणी और उनके क्रिया-कलाप में इस प्रगाढ़ विश्वास की झलक मिलती है। इसी विश्वास के वल पर लक्ष्मण ने महाराज जनक की सभा में 'तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप वलनाथ' कहकर प्रभु के प्रताप का विज्ञापन किया। यह वही विश्वास था जिसके वल पर आंजनेय चार सौ कोस के समुद्र को लांघ गए थे। पर अंगद ने अपने विश्वास को जो रूप दे दिया उसकी तुलना इन दोनों प्रसंगों से भी नहीं की जा सकती है। यह तो एक ऐसी प्रतिज्ञा थी कि जिसे पढ़कर आज भी अनगिनत व्यक्तियों का हृदय कांप उठता है। क्योंकि वे यह सोचने लग जाते हैं कि यदि कहीं अंगद का पैर हट जाता तो क्या होता? कई लोगों को इस प्रसंग में अंगद की अनधिकार चेष्टा प्रतीत होती है। उनका कथन है कि अंगद ने जिस प्रकार का दांव लगाया, विश्व के इतिहास में इसका कोई दृष्टान्त नहीं है। स्वयं अपने को अथवा अपनी वस्तु को दांव पर लगाने की वात तो समझ में आती है और इसके दृष्टान्त भी प्राप्त होते हैं, किन्तु इस प्रकार दूसरे की पत्नी को दांव पर लगा देना इतने अविवेक और दुस्साहस का कार्य है कि इसकी जितनी निन्दा की जाय उतनी ही थोड़ी है। बहिरंग दृष्टि से यह सारी बातें युक्ति-संगत प्रतीत होती हैं किन्तु भक्ति और विश्वास के वास्तविक स्वरूप को समझ लेने पर इस प्रकार के सारे तर्क निरर्थक प्रतीत होते हैं। वस्तुतः अंगद न तो जुआरी ही थे और न तो इस प्रकार के वाक्यों के द्वारा उन्होंने कोई दांव ही लगाया था। भाग्यवादी जुआरी पुरुषार्थ से विरत होकर केवल कौड़ी अथवा पांसे के माध्यम से क्षण भर में वड़ा से वड़ा लाभ प्राप्त कर लेना चाहता है। आंखें होते हुए भी वह अन्धा होता है। इसीलिए 'सूझ जुआरिहि आपन दाऊ' कहा गया है। जुए में भविष्य सर्वथा अनिश्चित है। अंगद की मनोवृत्ति में इस प्रकार की वृत्तियों का सर्वथा अभाव है। वे तो एक ऐसे सत्य से परिचित हो चुके हैं जिसका कोई दूसरा विकल्प ही नहीं है। ईश्वर को छोड़कर सारी सृष्टि ही सविकल्प है। लाभ के साथ हानि, जीवन के साथ मृत्यु और जय के साथ पराजय की सम्भावना वनी ही रहती है। पर ईश्वर किसी सम्भावना के आधार पर स्वीकार नहीं किया जाता है। केवल सम्भावना के आधार पर ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाला सच्चा आस्तिक है ही नहीं। वह या तो संशयवादी है या व्यापारी। अंगद की आस्तिकता अव इस परिपूर्णता तक पहुंच चुकी है कि वहां संशय, विपर्यय और विकल्प का लेश भी नहीं रह गया है। इसलिए इसे जुए के रूप में देखना अंगद की भावना और उनके विश्वास का अनादर करना है। अंगद का चरण वस्तुतः उनके सुदृढ़ विश्वास का प्रतीक बन

चुका है जिसे किसी तरह डिगाया नहीं जा सकता। दोहावली रामायण में गोस्वामी जी इस घटना को इसी रूप में प्रस्तुत करते हैं :

तेहि समाज कियो कठिन पन जेहिं तौल्यो कैलास।
तुलसी प्रभु महिमा कहौं कै सेवक बिस्वास॥

पर जहां तक रावण की दृष्टि का सम्वन्ध है उसके लिए निश्चित रूप से यह एक जुआ ही था। उसका आचरण भी उस जुआरी के समान है जो वार-वार हारने के पश्चात् भी दांव लगाना नहीं छोड़ता है क्योंकि उसे यह प्रतीत होता है कि सम्भव है इस वार मैं जीत ही जाऊं। रावण अंगद से इस सभा में अनेक वार पराजित होने पर भी जव पुनः अंगद की प्रतिज्ञा सुनकर दांव लगाने के लिए प्रस्तुत हो जाता है तव इसमें उसके जुआरी रूप का सच्चा परिचय प्राप्त हो जाता है। वल्कि वह यह सोचकर उत्साहित होता है कि यह तो एक ऐसा जुआ है कि इसमें केवल पाने की ही सम्भावना है खोने की नहीं। क्योंकि उसके लिए अव पराजय का कोई अर्थ ही नहीं रह गया। पर यह रावण के जीवन का विचित्र परिवर्तन था। वह प्रारम्भ से ही महान् पुरुषार्थवादी था। उसने अपने प्रयत्न के द्वारा निरन्तर नियति को पराजित करने का प्रयास किया। नियति की प्रतिकूलता को वह हमेशा उपहास की दृष्टि से देखता था। इसलिए जव वह अपने मस्तक में मनुष्य के हाथों से मृत्यु का संकेत पाता है तव वह इससे रंचमात्र भी भयभीत नहीं होता है। वह इसे लिखने वाले ब्रह्मा के मतिभ्रम के रूप में देखता है :

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला।
बिधि के लिखे अंक निज भाला॥
नर के कर आपन बध बाँची।
हसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥
सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरें।
लिखा बिरंचि जरठ मति भोरें॥

पर अंगद की प्रतिज्ञा सुनकर जिस प्रकार की वृत्ति का वह परिचय देता है उससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उसके जीवन में पराजय और पलायनवाद का उदय हो गया था। उसमें यह साहस नहीं था कि वह अंगद से यह कह सके कि सीता तो मेरे अधिकार में है यदि तुम्हारे स्वामी में सामर्थ्य है तो वह युद्ध में मुझे पराजित कर उन्हें पुनः प्राप्त कर लें। इसके स्थान पर वह जुआरी के समान छोटे मार्ग के लोभ में पड़कर दांव खेलने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। ऐसे लोभ में अन्ध-त्व का दृष्टान्त भी कह सकते हैं। एक बुद्धिमान राजा के रूप में उसे यह सोचना चाहिए था कि अंगद को इस प्रकार की प्रतिज्ञा का अधिकार भी है या नहीं ? उसे यह भी सोचना चाहिए था कि यदि अंगद ने यह अनधिकार चेष्टा की है तो उसे स्वीकार करने के लिए राम बाध्य हैं या नहीं ? पर सीता के प्रलोभन के सामने उसकी सारी चतुराई हवा हो गई थी। सत्य तो यह है कि यद्यपि बहिरंग दृष्टि से अंगद ने केवल उसके कुछ मुकुटों पर अधिकार कर लिया था किन्तु वास्तविकता

यह थी कि उन्होंने रावण की ही सभा में उसे पूरी तरह नग्न कर दिया। और उसकी वाह्य दम्भ की आड़ में छिपी हुई आकृति सामने आ गई।

यद्यपि प्रारम्भ में वह स्वतः उठकर अंगद का पैर हटाने का प्रयास नहीं करता है अपितु राक्षसों को यह कार्य करने का आदेश देता है। पर तटस्थता का यह नकली मुखौटा वह केवल कुछ समय के लिए ही लगा पाया। उसकी दशा उस बालक के समान थी जिसे सामने मिठाई का थाल देख करके मुंह में पानी आ रहा हो पर जो इस आशा से अपने को रोके रखने का प्रयास करता है कि सम्भव है कोई दूसरा ही उसे मिठाई उठाकर दे दे; और उसका लालची स्वभाव लोगों के सामने न आ सके। पर ऐसे लालची बालक के धैर्य की भी एक सीमा होती है और दूसरों से निराश होकर स्वतः मिठाई के थाल पर टूट पड़ता है। यही दशा रावण की हुई यद्यपि इसके पहले राक्षस इतने आतंकित हो उठे थे कि अंगद के पास जाने का साहस एकत्र कर पाना उनके लिए कठिन था और इसीलिए वे पहली बार रावण के आदेश पर भी आगे नहीं बढ़े। पर इस बार ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्होंने रावण के आदेश का पालन किया हो। पर वस्तुतः इस आज्ञा-पालन के पीछे भी उनकी कायरता ही कार्य कर रही थी। अंगद ने प्रतिज्ञा स्वयं अपनी ओर से की थी इसलिए उन्हें विश्वास था कि अंगद के पास जाने में इस समय किसी अमंगल अथवा मृत्यु की आशंका नहीं है। जहां तक असफलता का प्रश्न है इसमें उन्हें किसी प्रकार की लज्जा न थी पर साथ ही वे जुआरी के समान यह भी सोचने लगे कि कदाचित् यह कार्य सम्भव हो गया तो हम सब युद्ध के भय से मुक्त हो जाएंगे। इसलिए वे सब मिलकर रावण के आदेश के पालन का अभिनय करते हैं। पर असफलता ही उनके हाथ लगी। अचानक अंगद के व्यंग्यात्मक आवाहन पर रावण उठ खड़ा हुआ। ज्यों ही रावण अंगद के चरणों की ओर झुका उन्होंने अपने कुछ अनोखे वाक्यों से उसे घोर लज्जा की स्थिति में डाल दिया :

सुनहु सुभट सब कह दससीसा।
पद गहि धरनि पछारहु कीसा॥
इंद्रजीत आदिक बलवाना।
हरषि उठे जहँ तहँ भट नाना॥
झपटहिं करि बल बिपुल उपाई।
पद न टरइ बैठहिं सिरु नाई॥
पुनि पुनि झपटहिं सुर आराती।
टरइ न कीस चरन एहि भाँती॥
पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी।
मोह बिटप नहिं-सकहिं उपारी॥
कोटिन्ह मेघनाद सम सुभट उठे हरषाइ।
झपटहिं टरै न कपि चरन पुनि बैठहिं सिर नाइ॥

भूमि न छाँड़त कपि चरन देखत रिपु मद भाग।
कोटि विघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग॥
कपि वल देखि सकल हियँ हारे।
उठा आपु कपि के परचारे॥
गहत चरन कह वालि कुमारा।
मम पद गहे न तोर उवारा॥
गहसि न राम चरन सठ जाई।
सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥

अंगद ने कहा, "अरे रावण मेरे चरणों को पकड़ने से तेरा कल्याण न होगा। अरे दुष्ट, तू श्री राम के चरणों को क्यों नहीं पकड़ लेता है।" अंगद के इन वाक्यों सुनते ही रावण लज्जित होकर सिंहासन पर जा बैठता है। उस समय उसे देखकर ऐंसा प्रतीत हो रहा था कि जैसे वह सारी सम्पत्ति को गवां बैठा हो। अंगद के इन वाक्यों का मूल्यांकन केवल इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए कि किस प्रकार उन्होंने अपनी चतुराई और वाक्य-रचना कौशल से रावण को भरी सभा में लज्जित और पराजित कर दिया। वस्तुतः इस प्रसंग का असाधारण मूल्य है। अंगद ने इस प्रसंग में जिस असाधारण त्यागवृत्ति का परिचय दिया वह विश्व इतिहास में दुर्लभ है। यह था लोकैषणा की वृत्ति का परित्याग। पुत्रैषणा और विकैषणा की तुलना में भी लोकैषणा का त्याग अत्यन्त कठिन है। रावण के विजेता के रूप में अपनी कीर्तिपताका को फहराने का यह अद्वितीय अवसर था। यदि अंगद ने व्यंग्य भरे वाक्यों से रावण को चरण उठाने से न रोक दिया होता तो यह सिद्ध हो जाता कि उनके चरणों में कैलाश पर्वत की अपेक्षा भी अधिक गुरुता है। पर आत्म-विज्ञापन के मोह से मुक्त अंगद ने इस अवसर का उपयोग, रावण को भक्ति की दिशा में प्रेरित करने के लिए, करके ऐसे महान् भक्त के रूप में अपना परिचय दिया जिसे 'छूटी त्रिविध ईषना गाढ़ी। राम चरन रज रति अति वाढ़ी।' कहकर मानस में स्मरण किया गया है। इतना ही नहीं, इस कार्य के द्वारा उन्होंने रामभद्र के गौरव को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। वे यह नहीं चाहते थे कि भविष्य में कोई यह कहे कि राघवेन्द्र ने उसी रावण को पराजित किया था जो अंगद के चरणों को भी उठाने में असमर्थ रहा था। भगवान राम ने बालितनय को जिस विश्वास से रावण की सभा में भेज दिया था अंगद ने उसे पूरी तरह सार्थक सिद्ध कर दिखाया। श्री रामभद्र ने अंगद के प्रति जिस विश्वास का प्रदर्शन किया था वह भी विश्व के इतिहास में अतुलनीय है। जिस व्यक्ति के पिता का उनके द्वारा वध हुआ था उसी को शत्रु की सभा में सर्वाधिकार सम्पन्न राजदूत बनाकर भेज देना उनके लिए ही सम्भव था। और अंगद ने भी प्रभु की महिमा के विश्वास के आधार पर जो महती प्रतिज्ञा कर डाली वह भी सर्वथा अतुलनीय है।

अंगद सन्धि का जो प्रस्ताव लेकर आए थे वह भले ही सार्थक न हुआ हो पर वे अनेक उद्देश्य पूर्ण करने में सफल हुए। उन्होंने अपने तेजस्विता से भरे हुए सन्धि

प्रस्ताव के द्वारा उपस्थित सभासदों के मन में राम की सदाशयता की अमिट छाप छोड़ दी। प्रत्येक राक्षस को यह प्रतीत होने लगा कि जिन राम के पास अंगद और हनुमान जैसे अनुचर हैं उसके सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है फिर भी अपनी स्वभावगत उदारता के कारण वे राक्षस जाति सहित रावण को विनाश से वचाना चाहते हैं। रावण ने उसे अस्वीकार कर अपने दुराग्रही स्वभाव का परिचय दिया है। अव यदि राक्षस-जाति का विनाश होता है तो इसका सारा दोष स्वतः रावण के ऊपर है। अंगद के वल-प्रदर्शन का परिणाम यह हुआ कि युद्ध से पहले ही राक्षस अपने को पराजित अनुभव करने लगे। यदि इस बार भी आंजनेय ही दूत वनाकर भेजे जाते तो इससे लंका में यह धारणा फैल जाती कि राम की सेना में एकमात्र यही महान योद्धा है इसलिए इन्हीं को वार-वार भेजा जा रहा है। अंगद के आगमन से इस प्रकार की भ्रान्ति का भी निराकरण हो गया। इस तरह अनेक सफलताओं के साथ अंगद अपने प्रभु के पास लौट आते हैं।

प्रभु ने भी स्नेह और आश्चर्य भरे स्वर में उनका अभिनन्दन किया। उनके द्वारा अंगद से किया जाने वाला प्रश्न भी प्रशंसा करने की ही कवित्वमयी विधा है। वे अंगद की खुली प्रशंसा करते हुए यह कह सकते थे कि तुमने वहुत वड़ी सफलता प्राप्त की है। पर अभिनन्दन की इस शली का आनन्द ही कुछ दूसरा था जव उन्होंने प्रश्न किया कि रावण तो राक्षस-जाति का सिरमौर है तुमने उसके चार मुकुटों को प्राप्त करने में कैसे सफलता प्राप्त कर ली? मानो वे यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि यह तुम्हारी सफलता ऐसी है जिस पर विश्वास करना कठिन है। आंजनेय ने भी लंका जलाकर अद्‌भुत कार्य कर दिखाया था। रावण की उपस्थिति में लंका जला डालना हंसी-खेल नहीं था पर उसके शिर से मुकुट उतार लेना तो उससे भी अधिक अद्‌भुत और आश्चर्यजनक कार्य है:

रिपु बल धरषि हरषि कपि बालितनय बल पुंज।
पुलक सरीर नयन जल गहे राम पद कंज॥

× × ×

इहाँ राम अंगदहि बोलावा।
आइ चरन पंकज सिरु नावा॥
अति आदर समीप बैठारी।
बोले बिहँसि कृपाल खरारी॥
बालितनय कौतुक अति मोही।
तात सत्य कहु पूछउँ तोही॥
रावनु जातुधान कुल टीका।
भुजबल अतुल जासु जग लीका॥
तात मुकुट तुम्ह चारि चलाए।
कहहु तात कवनी बिधि पाए॥

प्रश्न करते हुए प्रभु अंगद से कहते हैं, 'प्रिय सच-सच कहना।' यह अंगद की

सत्यवादिता पर सन्देह न होकर प्रशंसा करने की ही एक विधा है। अर्थात् "यद्यपि दूसरों के मुख से यह सुन चुका हूं कि मुकुट तुम्हारे द्वारा ही फेंके गए थे पर यह इतना असंभव कार्य है कि विश्वास करने का मन नहीं होता। पर तुम्हारी सत्य-निष्ठा पर मुझे पूरा विश्वास है। यदि तुम कह दोगे तो मैं इस पर भरोसा कर लूंगा।" अंगद के द्वारा दिया गया उत्तर उनकी भावना और अद्भुत कवित्वशक्ति का परिचायक है। ऐसी ही स्थिति में जब आंजनेय की सराहना रामभद्र के द्वारा की गई थी तो उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमें भक्त-हृदय की सहज स्वीकृति थी। वे कहते हैं 'सो सब तव प्रताप रघुराई, नाथ न कछुक मोर मनुसाई।' अंगद भी इसी वाक्य को दोहरा सकते थे पर तब वह घिसा-पिटा अनुकरण मात्र होता। अंगद के उत्तर में कवित्व और मौलिकता है। वे प्रशंसा की अद्भुत विधा का उत्तर भी उतना ही विलक्षणता से देते हैं। उनका तात्पर्य था, प्रभु आपका आश्चर्य और अविश्वास ठीक ही है। यह कार्य मेरी सामर्थ्य का था भी नहीं। वस्तुतः इन मुकुटों को मैंने भेजा भी नहीं है। ये तो स्वतः ही आप तक चलकर आए हैं। यदि मुकुटों को मैंने भेजा होता तो दस के दस भेजता, पर उनमें से चार का आना ही यह सिद्ध करता है कि उनमें से जिनकी आपके श्री चरणों में आने की आकांक्षा थी वे ही आए। शेष छः वहीं रुक गए। फिर यह मुकुट केवल मुकुट न होकर राजनीति के चार चरण के ही प्रतीक हैं। रावण का आचरण धर्म के प्रतिकूल है। वह आपके चरणों से विमुख है और ऐसा लगता है कि उसकी मृत्यु सन्निकट है। इसलिए ये चारों गुण उसे छोड़कर आपके श्री चरणों में आ गए हैं :

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी।
मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥
साम दाम और दंड बिभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥
नीति धर्म के चरन सुहाए।
अस जियँ जानि नाथ पहिं आए॥

धर्महीन प्रभु पद बिमुख काल दिवस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस।
परम चतुरता श्रवन सुनि बिहँसे रामु उदार॥
समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालि कुमार॥

यदि अंगद में आत्मप्रशंसा की भूख होती तो प्रभु के इस प्रश्न का लाभ उठा-कर वे विस्तार से अपने मुक्के के प्रताप का वर्णन करते कि "किस प्रकार पृथ्वी पर मुक्के के एक ही प्रहार से रावण सिंहासन से मुंह के बल गिरा। कैसे मैंने उन मुकुटों को उठाकर आपके पास फेंक दिया।" पर उनके उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे आत्मगोपन में विश्वास रखने लगे हैं। वे विवेक के माध्यम से इस सत्य को हृदयंगम कर चुके हैं कि व्यक्ति तो निमित्त मात्र हैं। अहंकारग्रस्त विमूढ़ ही स्वयं को कर्ता मानते हैं। 'अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते'। अंगद

विमूढ़ नहीं हैं। मानस की भाषा में वे चतुर हैं। इसीलिए उनकी चतुराई पर राघव उन्मुक्त भाव से हंस पड़ते हैं। बहुत कम ऐसे सौभाग्यशाली थे जिनकी वाणी पर रीझकर प्रभु इस प्रकार विहंस पड़े हों। इस तरह के सौभाग्यशालियों की पंक्ति में हैं, वन्दनीया मैथिली, सखा, निषाद, अनन्यानुरागी सुतीक्ष्ण। इन सबकी वाणी और चिन्तन में प्रीति-रस का पूर्ण परिपाक परिलक्षित होता है। महाभाग अंगद भी अपनी वाणी के द्वारा इसी श्रेणी में आ गए। यह उनका वाचिक दम्भ न होकर सत्य का अनुभव जन्य ज्ञान था। इस प्रसंग में प्रभु के उन्मुक्त हास्य से सम्बन्धित कुछ पंक्तियों की तुलना की जा सकती है :

गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि।
मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।।

× × ×

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन।।

× × ×

देखि कृपानिधि मुनि चतुराई।
लिए संग बिहसे द्वौ भाई।।

× × ×

लंका के युद्ध में भी अंगद ने जिस पराक्रम का परिचय दिया उसकी तुलना केवल आंजनेय के अतुलनीय पराक्रम से ही की जा सकती है। कठिन अवसरों पर वे सर्वदा हनुमान के पास ही दिखाई देते हैं। जब अंगद और आंजनेय मिल कर युद्ध करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे दो मन्दराचल एक साथ समुद्र का मन्थन कर रहे हैं :

लंका दोउ कपि सोहहिं कैसे।
मथत सिन्धु दुइ मन्दर जैसे।।

आंजनेय के प्रति उनका विशेष स्नेह और सद्भाव था इसलिए उन्हें युद्ध-क्षेत्र से जब कभी यह सुनाई देता है कि पवनपुत्र अकेले हैं तो वे तत्काल उनकी सहायता के लिए पहुंच जाते हैं :

अंगद सुना पवनसुत गढ़ पर गयउ अकेल।
रन बाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल।।
जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध द्वौ बन्दर।
राम प्रताप सुमिरि उर अंतर।।
रावन भवन चढ़े द्वौ धाई।
करहिं कोसलाधीस दोहाई।।

आंजनेय के प्रति उनकी इस सहानुभूति का असाधारण महत्त्व है। व्यावहारिक दृष्टि से उनके मन में यदि हनुमान के प्रति कुछ गांठ होती तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता था। क्योंकि प्रभु से सुग्रीव की मित्रता और बालि-

वध में मुख्य प्रेरक तो वे ही थे। किन्तु अंगद के मन में पवनपुत्र के कार्य को लेकर कभी कोई भ्रम नहीं हुआ। उनका यह विश्वास था कि हनुमान में ममता, आसक्ति, पक्षपात का सर्वथा अभाव है। उन्होंने वालि का नहीं अन्याय का विरोध किया है। वस्तुतः आंजनेय के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ आदर और श्रद्धा की भावना थी। सत्य तो यह है कि वे आंजनेय को अपना आचार्य मानते थे, क्योंकि उनकी अनुभूति और चरित्र से प्रेरणा प्राप्त कर ही उनमें सच्चे भगवद् विश्वास का उदय हुआ था। पर यही वात सुग्रीव के सन्दर्भ में नहीं कही जा सकती।

यदि अंगद किसी के प्रति कुण्ठामुक्त नहीं हो सके तो वे थे एक मात्र सुग्रीव। अयोध्या में वे जब श्री राम से चरण सेवा में रखने का अनुरोध करते हैं तब उसमें यह कुण्ठा भी कारण के रूप में कहीं न कहीं विद्यमान थी। किन्तु इसके लिए अंगद को दोष नहीं दिया जा सकता है। वस्तुतः सुग्रीव के चरित्र में ऐसी अनेक दुर्बलताएं विद्यमान थीं जिनके कारण उनके प्रति अश्रद्धा का उदय आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। फिर इन घटनाओं में एक तो ऐसी थी ही जिसे अंगद कभी क्षमा नहीं कर पाए। वह थी तारा के प्रति सुग्रीव की आसक्ति। वालि ने सुग्रीव की पत्नी को वलात् छीन लिया था। सुग्रीव ने तारा का अपहरण या बलात् उस पर अधिकार भले ही न किया हो पर उन्होंने तारा को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। अंगद के लिए यह अत्यन्त दुःखदायी था। अंगद को इसमें सुग्रीव की विषय-परायणता ही नहीं वदले की भावना भी दिखाई देती है। इसलिए सुग्रीव का साहचर्य उन्हें असह्य प्रतीत होता है। अतः जब वे भावुकता भरे स्वर में प्रभु से पास में रखने का अनुरोध करते हैं तव उसे पढ़कर सहृदय भक्तों का द्रवित हो जाना स्वाभाविक है। पर इससे भी अधिक आश्चर्य और दुःख होता है प्रभु की अस्वीकृति से। इन पंक्तियों को सुनकर या पढ़कर कौन भावुक हृदय रससिक्त नहीं हो जाएगा :

तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।
अति विनीत बोलेउ बचन मनहुँ प्रेम रस बोरि॥

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो।
दीन दयाकर आरत बंधो॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली।
गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥
असरन सरन बिरदु संभारी।
मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरे तुम्ह प्रभु गुर पितु माता।
जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नर नाहा।
प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥

बालक ग्यान बुद्धि बल होना।
राखहु सरन नाथ जन दीना ॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ ।
पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही।
अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ॥

इन पंक्तियों में विनम्रता है, प्रीति और भक्ति है, सेवा की ललक है। पर इतनी भावुकता से भरी वाणी भी अंगद को प्रभु के निकट रखने की प्रेरणा उन्हें नहीं दे पाती। सत्य तो यह है कि इसे सुनकर राघव का द्रवित न होना असम्भव ही था। वे इतने सहृदय हैं कि प्रीति की थोड़ी-सी झलक भी उनके मन में अपूर्व प्रीति का संचार कर देती है। फिर यहां तो प्रेमरस-सराबोर अंगद आंसुओं से उनके चरण भिगो रहे थे। पर वे अंगद को उसके ही हित में पास रखना स्वीकार नहीं करते हैं। वे चाहते थे युवराज के रूप में अंगद को जो गुरुतर भार दिया गया है समाज के हित में वे उसका वहन करें। प्रभु उन्हें शारीरिक सान्निध्य के स्थान पर मानसिक सामीप्य की स्थिति में पहुंचाना चाहते थे। वे जानते थे अयोध्या से दूर रह कर ही वह अधिकाधिक उनके मन के समीप रह सकेंगे। सुग्रीव के प्रति उनकी मानसिक कुण्ठा को दूर करने के लिए ही वे उनको विशेष पद्धति से विदा करते हैं। उन्होंने वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित करने के साथ-साथ अपने कण्ठ की माला भी उन्हें पहिना दी। हृदय से लगाकर उन्हें देर तक समझाते रहे :

अंगद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुनासीव।
प्रभु उठाइ उर लायउ सजल नयन राजीव ॥
निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ ॥

अंगद के मन में सुग्रीव को लेकर एक गहरी कुण्ठा यह थी कि अब भी वे बदले की भावना से मुक्त नहीं हैं। उसके निराकरण के लिए ही यह माला पहि-नाई गई थी। इसमें अंगद के लिए आश्वासन था कि यदि कोई ऐसी भावना सुग्रीव के मन में होगी भी तो इसे देखकर शान्त हो जावेगी। इस माला के महत्त्व को सुग्रीव से अधिक कोई नहीं जानता। यही वह चिह्न था जिसे सुग्रीव के कण्ठ में पहिनाकर बालि को चेतावनी दी गई थी। इसी उपेक्षा का परिणाम बालि-वध के रूप में सामने आया। आज वही चिह्न अंगद के गले में डाल कर सुग्रीव को सावधान रहने की प्रेरणा दी गई। इस तरह स्नेह से पुचकारे गए अंगद भारी मन से विदा लेकर किष्किन्धा की ओर चल पड़ते हैं। आंजनेय के सौभाग्य को देखकर वे पुनः एक बार भाव-विह्वल हो उठे और अयोध्या की ओर उन्हें लौटते देखकर उनसे बड़े स्नेह भरे स्वर में यह अनुरोध करते हैं कि "प्रभु के चरणों में मेरा दण्ड-वत प्रणाम कहें और उन्हें बार-बार मेरा स्मरण दिलाते रहें :"

कहेहु दंडवत प्रभु सें तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥

पवननन्दन ने लौट कर जब यह प्रीति भरा प्रसंग सुनाया तब सुनते ही राघव भाव-विह्वल हो उठे। इस तरह अंगद का प्रसंग बड़े ही करुणा, स्नेह और भावुकता के वातावरण में समाप्त होता है। अंगद अत्यन्त संवेदनशील भावुक हृदय-पात्र हैं। उनके अतुलनीय पराक्रम ने भी उनकी भावुकता के स्रोत को कभी सुखाने में सफलता प्राप्त नहीं की।

।। श्री रामः शरणं मम ।।

विभीषण

विभीषण के व्यक्तित्व और चरित्र के सम्बन्ध में सर्वथा भिन्न प्रकार की दो धारणाएं प्रचलित हैं। वे साधारणतया लोकोक्तियों में 'घर का भेदी लंका ढाहे' के रूप में स्मरण किए जाते हैं। इस लोकोक्ति के पीछे यह धारणा कार्य कर रही है कि उनका कार्य अनौचित्यपूर्ण था और लंका के विनाश के कारण वे ही वने। इसलिए कुछ लोग उन्हें देशद्रोही या भ्रातृद्रोही कहने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। दूसरी ओर परमभक्त के रूप में उनका स्मरण किया जाता है। वे राम के अनन्यानुरागी और शरणागत के रूप में स्मृति के विषय माने जाते हैं। देवर्षि नारद उन्हें भक्त के महानतम आचार्यों में से एक मानते हैं।

"इत्येवं वेदन्ति जन जल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यास शुक शाण्डिल्य गर्ग विष्णु कौण्डिन्य शेषोद्धवारुणि बलि हनुमद् विभीषणादयो भक्ताचार्याः"। ।।८३।।

रामचरितमानस में इस द्वितीय पक्ष को ही स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गोस्वामी जी के किसी ग्रन्थ में प्रथम पक्ष की कोई झलक नहीं है। दोहावली रामायण के दो दोहों में प्रथम धारणा के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। लंका-विजय के पश्चात् राघवेन्द्र सपरिवार अयोध्या में आते हैं वहां प्रभु श्री भरत से उनका परिचय कराते हैं। इन लोगों में सुग्रीव और विभीषण भी थे। श्री राम के द्वारा की गई सराहना से प्रभावित भरत इन दोनों से मिलने के लिए व्यग्र हो आगे वढ़ते हैं। मिलन हुआ भी किन्तु भरत से मिलते हुए सुग्रीव और विभीषण ग्लानि का अनुभव करते हैं। महान् भ्रातृभक्त भरत की तुलना में वे स्वयं अपने को अत्यन्त क्षुद्र पाते हैं। उनकी मनःस्थिति की तुलना उस चोर से की गई जो प्रसन्नतापूर्वक चोरी करके लौटता हुआ धनी के द्वारा पकड़ लिया गया हो :

सधन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यों फेंट।
ज्यों सुग्रीव विभीषनहि भई भरत की भेंट ।।२०७।।
राम सराहे भरत उठि मिले राम सम जानि।
तदपि विभीषण कीसपति तुलसी गरत गलानि ।।२०८।।

यद्यपि उपर्युक्त दोहों में प्रथम पक्ष का संकेत उपलब्ध होता है फिर भी इन्हें ठीक उसी रूप में नहीं लिया जा सकता, जिस रूप में साधारण व्यक्ति इसे लेता है। वस्तुतः यह प्रसंग निन्दा के रूप में न होकर आत्मनिन्दा की शैली में सामने आता है। यदि विभीषण और सुग्रीव का परिचय सुनकर भरत के मन में इन दोनों के प्रति अनादर भावना का उदय हुआ होता तो ऐसी स्थिति में यह इन दोनों के चरित्र को कठोर समालोचना के रूप में स्वीकार किया जाता। पर यह तो सुग्रीव और विभीषण के आत्म-निरीक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है जहां वे स्वयं को श्री भरत की तुलना में अत्यन्त हीन अनुभव करते हैं। इस तरह से उनकी यह आत्म-

ग्लानि साधकवृत्ति से मेल खाती है।

निश्चित रूप से विभीषण की तुलना श्री भरत से नहीं की जा सकती। श्री भरत सर्वथा अप्रतिम हैं। किन्तु विभीषण का चरित्र उस प्रकार की आलोचना का अधिकारी नहीं है जिस रूप में उसे लोकोक्ति में स्मरण किया गया है। गोस्वामी जी ने विभीषण का परिचय भी अपनी उस शैली में दिया है जिसमें ऐतिहासिक शैली के स्थान पर साधना मूलक दृष्टि की प्रधानता है। वे विभीषण के वंशानुगत ऐतिहासिक परिचय के स्थान पर उनके पूर्वजन्म के चरित्र का परिचय देते हैं।

रावण अपने पूर्व जन्म में प्रतापभानु नाम का सुयोग्य राजा था। विभीषण उस समय प्रतापभानु के मन्त्री धर्मरुचि के रूप में सामने आते हैं। वे महान् नीति-निष्णात थे और निरन्तर प्रतापभानु के हित-चिन्तन में संलग्न रहते थे। उस समय भी उनके अन्तःकरण में भगवद्भक्ति के संस्कार विद्यमान थे। उनका परिचय मानस में इन शब्दों में किया गया है :

> **सचिव धरम रुचि हरि पद प्रीती।**
> **नृप हित हेतु सिखव निति नीती॥**

प्रतापभानु यों तो अपने इस मंत्री का समादर करते थे किन्तु कपटमुनि और उनके मध्य में जो गुप्त योजना बनी थी उसमें उन्होंने प्रधानमंत्री धर्मरुचि को सम्मिलित नहीं किया। यदि प्रतापभानु ने धर्मरुचि से सम्मति ली होती तो संभवतः यह अनर्थ रुक जाता। इसका दुष्परिणाम सर्वनाश के रूप में सामने आया। प्रतापभानु को सपरिवार न केवल मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा अपितु अगले जन्म में राक्षस होने का शाप भी मिला। धर्मरुचि इस षड्यन्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ थे। ऐसी स्थिति में शाप का प्रभाव उन पर नहीं पड़ना चाहिए था किन्तु धर्मरुचि भी विभीषण के रूप में जन्म लेते हैं। 'जो जस करइ सो तस फल चाखा' के सिद्धांतानुसार यह पुनर्जन्म अटपटा प्रतीत होता है। पर लगता है कि 'अंते या मतिः सा गतिः' के अनुसार अन्तिम क्षण के चिन्तन के कारण ही उन्हें राक्षस-जाति में जन्म लेना पड़ा। प्रधानमन्त्री धर्मरुचि की प्रतापभानु के प्रति अत्यन्त आसक्ति थी। प्रतापभानु के जीवन के अन्तिम भाग में जो घटनाएं घटित हुई थीं उनमें भले ही उनका कोई हाथ न रहा हो पर आत्म-विश्लेषण की अपनी दृष्टि के कारण धर्मरुचि स्वयं को पूरी तरह निर्दोष नहीं समझ पाते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि राष्ट्र में घटित होने वाली घटनाओं का सही परिज्ञान उन्हें होना ही चाहिए था। साथ ही यदि वे राजा के समग्र विश्वासपात्र होते तो उन्होंने इस प्रसंग में उनकी सम्मति अवश्य ली होती। यह आत्मग्लानि ही उन्हें मुक्त नहीं होने देती है। प्रतापभानु के प्रति हित और आसक्ति के कारण उनका जन्म विभीषण के रूप में होता है। सामीप्य की आकांक्षा के कारण वे इस बार मन्त्री के स्थान पर भाई के रूप में जन्म लेते हैं और विभीषण के रूप में भी वे रावण के लिए हितबुद्धि से प्रेरित दिखाई पड़ते हैं। पर दोनों की रुचि, स्वभाव और विचार में कोई साम्य न था। किन्तु स्वभावगत भिन्नता के होते हुए भी रावण और विभीषण परस्पर स्नेहसूत्र में आबद्ध थे। प्रारम्भ में दोनों

भाइयों की साधना-पद्धति में भी साम्य दिखाई देता है। रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण तीनों ही भाई तपस्वी का जीवन स्वीकार करते हैं। साधना को चरम परिणति में इन तीनों को वर देने के लिए शंकर और ब्रह्मा आते हैं पर यहीं उनका स्वभावगत भेद सामने आ जाता है। जहां रावण और कुम्भकर्ण दोनों ही रजोगुणी और तमोगुणी इच्छाओ की पूर्ति को जीवन का लक्ष्य वना लेते हैं वहां विभीषण अपने सात्त्विक लक्ष्य की पूर्ति में संलग्न दिखाई देते हैं। यदि रावण और कुम्भकर्ण अमरता और नींद की मांग करते हैं तो विभीषण भगवद्भक्ति की :

कीन्ह विबिध तप तीनिहुँ भाई।
परम उग्र नहिं बरनि सो जाई॥
गयउ निकट तप देखि बिधाता।
माँगहु वर प्रसन्न मैं ताता॥
करि बिनती पद गहि दससीसा।
बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा॥
हम काहू के मरहिं न मारें।
बानर मनुज जाति दुइ बारें॥
एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा।
मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा॥
पुनि प्रभु कुंभकरन पहि गयऊ।
तेहि बिलोकि मन बिसमय भयऊ॥
जौं एहिं खल नित करब अहारू।
होइहि सब उजारि संसारू॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी।
मागेसि नींद मास षट केरी॥
गए बिभीषण पास पुनि कहेउ पुत्र बर मागु।
तेहि मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु॥

भगवद्भक्ति का वरदान प्राप्त कर लेने के पश्चात् विभीषण की दिनचर्या और उनका जीवन ठीक उसी के अनुकूल वन जाता है। वे हरिमन्दिर में अपनी भक्ति-भावना को तृप्त करने में संलग्न हो जाते हैं। फिर भी रावण और विभीषण दोनों के ही मन में स्नेह और सहिष्णुता का ऐसा सूत्र विद्यमान था जो दोनों को विलग होने से रोकता है। दोनों भाई अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल चल रहे थे। रावण जहां विश्व विजय की आकांक्षा से प्रेरित होकर नित्य नये अभियान की योजनाएं वनाता है, वहां विभीषण हरिमन्दिर में सन्तुष्ट थे। रावण की विचारधारा से सह-मत न होते हुए भी वे उसका प्रत्यक्ष विरोध नहीं करते। उन्हें यह विश्वास रहा होगा कि कभी न कभी उसके जीवन में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी। वे रावण के व्यक्तिगत औदार्य और सहिष्णुता से भी प्रभावित रहे हों, इसे अस्वा-भाविक नहीं कहा जा सकता है। पर उनके जीवन में ऐसा अवसर आ जाता है जब

वे दो टूक निर्णय करने के लिए वाध्य हो जाते हैं। इस घटनाक्रम में उनका किसी प्रकार हाथ या वस नहीं था। इतिहास पुन: एक वार अपने को दोहराता है। जव रावण शूर्पणखा की प्रेरणा से विदेहजा के हरण का संकल्प लेता है उस समय भी अपने पूर्व जन्म की ही भांति वह विभीषण से किसी प्रकार की मन्त्रणा नहीं करता है। यदि उसने विभीषण से इस विषय में राय ली होती तो वे निश्चित रूप से उसे इस असत् संकल्प से विरत करने का प्रयास करते। किन्तु विभीषण की प्रकृति से परिचित रावण ऐसा करता कैसे ? परिणाम मैथिली के अपहरण के रूप में सामने आया। इस घटना की तीव्र प्रतिक्रिया विभीषण के मन पर पड़ी। तत्काल विरोध न करते हुए भी वे उचित अवसर की प्रतीक्षा करते रहे। यह अवसर उन्हें आंजनेय के आगमन से प्राप्त हुआ। पवनपुत्र कठिन प्रयास के पश्चात् भी विदेहजा की आवास-स्थली को ढूंढ़ पाने में समर्थ नहीं होते हैं। रात्रि में लंका का परिभ्रमण करते हुए अन्त में विभीषण के भवन के पास पहुंचे। वहां का वैष्णव वातावरण देखकर वे आश्चर्यचकित रह गए। लंका के प्रतिकूल वातावरण में रहकर कोई भगवद्भक्ति की साधना में संलग्न रह सकता है, यह कल्पना भी आंजनेय नहीं कर पा रहे थे। आगे चलकर विभीषण के प्रति हनुमान जी के मन में जीवन भर जो अगाध आदर-भावना रही उसके पीछे प्रथम-दर्शन की यह प्रतिक्रिया ही विद्यमान थी। प्रतिकूलताओं के मध्य में अपनी साधना में संलग्न रहना किसी विरले व्यक्ति के लिए ही सम्भव हो सकता हैं। विभीषण ऐसे विरले व्यक्तियों में भी अन्यतम थे ! इससे एक ओर जहां आंजनेय विभीषण के प्रति श्रद्धान्वित हुए, वहीं विभीषण की संस्कारजन्य ग्रन्थि भी पवनसुत के सत्संग से खुल गई।

विभीषण के अन्त:करण में रावण के प्रति जो आदरभाव था उसके पीछे उनकी धर्म-भावना ही मुख्य कारण थी। धार्मिक दृष्टि से बड़े भाई का स्थान पिता के तुल्य माना जाता है। इसी संस्कार से प्रेरित होकर वे रावण के विरुद्ध विद्रोह करने में झिझकते थे। किन्तु जव आंजनेय ने उन्हें 'तव हनुमंत कहा सुनु भ्राता' कहकर सम्वोधित किया तव उनका चौंक पड़ना स्वाभाविक ही था। यह सम्वोधन उन्हें भ्रातृत्व की व्याख्या पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा देता है। एक ही व्यक्ति अलग-अलग जन्मों में भिन्न-भिन्न देशों, जातियों और व्यक्तियों के रूप में जन्म लेता है अत: इन आधारों के माध्यम से निर्णीत होने वाला सम्वन्ध और धर्म सामाजिक दृष्टि से सही प्रतीत होने पर भी व्यक्ति को किसी शाश्वत सत्य से नहीं जोड़ते हैं। देश, जाति और परिवार के नाम पर उनके प्रत्येक कार्य का समर्थन वहिरंग दृष्टि से धर्म प्रतीत होने पर भी धर्म के मर्म से सर्वथा विपरीत है। यदि धर्म शाश्वत सत्य का प्रतिपादक है तो वह प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले व्यक्ति और समाज के स्वार्थों का समर्थन कैसे कर सकता है ? इसलिए भागवत धर्म के परिप्रेक्ष्य में ही धर्म के सच्चे तात्पर्य को हृदयंगम किया जा सकता है। हनुमान जी के सम्वोधन में इसी तथ्य की ओर विभीषण का ध्यान आकृष्ट किया गया था। साधारण व्यवहार में एक माता और पिता के द्वारा जन्म लेने वालों को भाई के रूप में स्वीकार किया

जाता है। इस तरह अगणित माता-पिता के माध्यम से जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का विभाजित धर्म परस्पर संघर्ष की दिशा में प्रेरित करता है, पर आंजनेय के सम्वोधन में 'देखी चहउं जानकी माता' के द्वारा जिस मातृत्व की ओर संकेत किया गया है उससे संघर्ष मूलक धर्म के स्थान पर शाश्वत सत्य और एकत्व की प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः विश्व में सृजन की प्रक्रिया महाशक्ति के द्वारा संचालित होती है। अतः वास्तविक माता भी वे ही हैं। इसलिए समस्त विश्व के प्राणी एक दूसरे के भाई ही हैं। इसी दृष्टि से हनुमान जी ने विभीषण को भाई कह पुकारा। इस सम्वोधन में एक छिपा हुआ उलाहना भी था कि क्या जगज्जननी को कुदृष्टि से देखने वाले व्यक्ति को भाई के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति निष्ठा का निर्वाह धर्मसंगत हो सकता है? विभीषण के लिए यह सम्वोधन प्रेरक सिद्ध हुआ। संस्कार-जन्य भ्रान्ति का निराकरण हुआ और वे रावण के अनौचित्यपूर्ण कार्यों का खुल-कर विरोध ही नहीं करने लगे अपितु रावण के द्वारा किये गए अनौचित्यपूर्ण कार्य का निराकरण करने के लिए आंजनेय की सहायता करने के लिए भी प्रस्तुत हो जाते हैं। विभीषण की वताई गई युक्ति का आश्रय लेकर ही पवनपुत्र मां मैथिली के पास पहुंचने में सफल हुए। उन्होंने न्याय का पक्ष लेने का सुदृढ़ निश्चय वना लिया। आगे चलकर अशोक-वाटिका के ध्वंस के दण्ड में जव रावण ने आंजनेय को मारने का आदेश दिया तव विभीषण अपनी वचन-चातुरी के द्वारा उसके उस आदेश को वापस लौटाने में समर्थ हो जाते हैं। पर उनके इस कार्य के पीछे भी षड्यन्त्र या कूटनैतिक कौशल जैसी कोई वात नहीं थी। उनकी यह सम्मति शुद्ध नैतिकता की भावना से प्रेरित थी। वे लंका को जलाकर विनष्ट कर दिये जाने के कार्य को भी एक भिन्न दृष्टि से देख रहे थे। इसीलिए वे वाद में भरी सभा में रावण से विदेहजा को लौटाने का अनुरोध करते हैं। उनकी वाणी में विनम्रता, नीति, धर्म और भक्ति के सारे तत्त्व विद्यमान थे। वस्तुतः उनके अन्तः-करण में रावण और लंका के हित की भावना विद्यमान थी। यदि राजसत्ता की उपलब्धि का कोई कुत्सित षड्यन्त्र उनके मन में होता तो वे रावण को कुमार्ग से विरत करने का कोई प्रयास न करते। इस संदर्भ में मानस की ये पंक्तियां पठनीय हैं:

> अवसर जानि विभीषनु आवा।
> भ्राता चरन सीसु तेंहि नावा॥
> पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन।
> बोला बचन पाइ अनुसासन॥
> जौं कृपाल पूँछिहु मोहि बाता।
> मति अनुरूप कहउँ हित ताता॥
> जो आपन चाहै कल्याना।
> सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥
> सो पर नारि लिलार गोसाईं।
> तजउ चउथ के चंद कि नाईं॥

चौवह भुवन एक पति होई।
भूत द्रोह तिष्टइ नहिं सोई॥
गुन सागर नागर नर जोऊ।
अलप लोभ भल कहइ न कोऊ॥
काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥
तात राम नहिं नर भूपाला।
भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता।
ब्यापक अजित अनादि अनंता॥
गो द्विज धेनु देव हितकारी।
कृपासिंधु मानुष तनु धारी॥
जन रंजन भंजन खल व्राता।
बेद धर्म रच्छक सुनु भ्राता॥
ताहि बयरु तजि नाइअ माथा।
प्रनतारित भंजन रघुनाथा॥
देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही।
भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥
सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा।
बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥
जासु नाम त्रय ताप नसावन।
सोइ प्रभु प्रगट समुझु जियँ रावन॥
बार बार पद लागउँ बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात॥

वे केवल रावण के कार्यों के अनौचित्य का ही प्रतिपादन नहीं करते हैं अपितु राम के ईश्वरत्व पर बहुत अधिक बल देते हैं। वस्तुतः वे रावण की धारणा में आमूल चूल परिवर्तन चाहते थे। वे यह जानते थे कि रावण अपने कार्यों का समर्थन यह कहकर कर सकता है कि उसने जो कुछ किया उसका उद्देश्य अपनी बहिन के अपमान का बदला लेना था और अब सीता को लौटाना स्वाभिमान के विरुद्ध है। विभीषण के द्वारा ईश्वरत्व के प्रतिपादन का वास्तविक उद्देश्य उसे इसी संकोच से मुक्त करना था। जहां किसी सांसारिक व्यक्ति के समक्ष पराजय को स्वीकार कर लेना स्वाभिमान के विरुद्ध है वहीं ईश्वर के समक्ष अपनी त्रुटियों को स्वीकार करना समर्पण और शरणागति की उच्चतम भावनाओं के अनुरूप है।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके लिए भगवान् राम और रावण का

संघर्ष दो देशों या दो राजाओं का संघर्ष नहीं था। उनकी दृष्टि से यह व्यष्टि का समष्टि के विरुद्ध विद्रोह था। एक विचारक के लिए सारा ब्रह्माण्ड विराट् भगवान् का शरीर है। इसलिए भक्त या विचारक परस्पर विद्वेष की कल्पना ही नहीं कर सकता। शरीर का प्रत्येक अंग एक दूसरे का पूरक है, सहयोगी है पर समस्या तब उत्पन्न होती है जब शरीर का अंग रुग्ण होकर सारे शरीर को विनष्ट करने पर तुल जाता है। किसी भी व्यक्ति का अपने प्रत्येक अंग के प्रति प्रगाढ़ अनुराग होता है। अतः एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें कि जिसका अपने हाथ से बड़ा स्नेह है। अब यदि हाथ में फोड़ा हो जाय तो वह पूरी शक्ति से उसे मिटाने का प्रयास करेगा। पर यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय जब चिकित्सक यह कहने लगे कि अब शरीर की रक्षा के लिए पूरे हाथ को काट देना होगा उस समय व्यक्ति का क्या कर्तव्य है ? उस समय हाथ की रक्षा के लिए सारे शरीर को विनष्ट होने देना हाथ के प्रति सच्चे-प्रेम का परिचायक माना जायगा या अविवेक का ? ठीक यही स्थिति विभीषण के सामने थी। वे रावण से स्नेह करते हैं, उसके रुग्ण मन को स्वस्थ बनाने का प्रयास करते हैं पर जब वे यह अनुभव करते हैं कि रावण एक ऐसे व्रण का रूप ग्रहण कर चुका है जो सारी लंका के लिए ही नहीं अपितु विश्व के लिए अभिशाप और विनाश का हेतु बनने जा रहा है तब उन्होंने रावण का परित्याग कर अपने विवेक का ही परिचय दिया। उनका यह कार्य व्यक्तिगत-स्वार्थ के लिए किया जाने वाला राजनैतिक षड्यन्त्र नहीं था। यह भाई के विरुद्ध भाई का विद्रोह भी नहीं था। यह तो विराट् की रक्षा के लिए रुग्ण अंग का त्याग था। यदि वे राज्य-लोलुप षड्यन्त्रकारी होते तो अपना दोहरा रूप बनाए रह सकते थे। वे ऊपर से रावण के कार्यों का समर्थन करते हुए भीतर ही भीतर लंका के भेदों को राम तक पहुंचाने का प्रयास कर सकते थे। या प्रतिकूल परिस्थिति में वे छिपकर राघवेन्द्र के पास जा सकते थे। पर उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया। उन्होंने भरी सभा में रावण के अन्याय का विरोध करते हुए उसे सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की। इसके बदले में रावण का चरण प्रहार होते ही वे शरणागति का दृढ़ निश्चय लेकर सभा में उठ खड़े होते हैं। और स्पष्ट शब्दों में अपने निर्णय की घोषणा करते हुए रामभद्र की ओर प्रस्थान करते हैं :

सचिव संग लै नभ पथ गयऊ।
सबहि सुनाइ कहत अस भयऊ॥
रामु सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥

व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा करते हुए उन्होंने अपने लिए बहुत बड़ा संकट मोल ले लिया था। उनकी इस घोषणा के बाद रावण उन्हें बन्दी बनाने का आदेश दे सकता था। उन्हें मृत्युदण्ड देना भी उसके लिए कठिन नहीं था। अतः राजनैतिक बुद्धिमत्ता यही होती कि वे उस समय माल्यवंत का अनुगमन करते हुए अपने घर चले जाते और अवसर देखकर वे लंका से पलायन करते। पर उन्होंने एक सत्य-

निष्ठ सिद्धान्तवादी मार्ग का चुनाव किया। रावण को चुनौती देते हुए वे उसका परिणाम भुगतने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। यह अन्याय के विरुद्ध विद्रोह था और इसके पीछे राम के ईश्वरत्व के प्रति उनकी अविचल आस्था थी। उन्हें रावण और लंका का विनाश स्पष्ट दिखाई दे रहा था। प्रस्थान करते हुए यह घोषणा वे स्पष्ट शब्दों में करते हैं। इसके साथ ही उनके दो उद्देश्य और हो सकते हैं। वे लंका-वासियों में अन्याय के विरुद्ध विद्रोह का साहस उत्पन्न करना चाहते थे। उन्हें यह पता था कि लंका के अधिकांश व्यक्ति रावण के कार्यों का अनौचित्य जानते और मानते थे पर रावण के भय से वे मुंह खोलने में असमर्थ थे। विभीषण उनमें साहस उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। साथ ही वे अपने कार्य के औचित्य-अनौचित्य को भी स्पष्ट रूप में लोगों के समक्ष रखने का प्रयास करते हैं। वे एक ऐसी दिशा में बढ़ रहे थे जिसके औचित्य को लेकर लोगों के मन में संशय हो सकता था। उनके स्पष्टीकरण का तात्पर्य इस भ्रान्ति का निराकरण था।

रावण की सभा से उठकर जाते हुए विभीषण की मनःस्थिति का जो चित्र मानस में प्रस्तुत किया गया है वह भी उनके उदात्त हृदय का ही परिचायक है। भरी सभा में अपमानित और तिरस्कृत किए जाने के बाद किसी की शान्त मनः-स्थिति की कल्पना कर पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। ऐसे अवसर पर क्रोध से कांपते हुए शरीर, फड़कते होंठ और बदले की योजना और कल्पना से भरे हुए व्यक्ति का चित्र ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु विभीषण में इनका सर्वथा अभाव है। वे स्वयं को भूतकाल से पूरी तरह मुक्त कर लेते हैं। वे पूरी तरह प्रफुल्लित मन से राम की ओर बढ़ते हैं। उनके मन में भविष्य का बड़ा ही मधुर चित्र उभर रहा था :

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।
करत मनोरथ बहु मन माहीं॥
देखिहउँ जाइ चरन जल जाता।
अरुन मृदुल सेवक सुख दाता॥
जे पद परस तरी रिषिनारी।
दंडक कानन पावन कारी॥
जे पद जनकसुताँ उर लाए।
कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई।
अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥
जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।
ते पद आज बिलोकिहऊँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

उपर्युक्त भावनाएँ उनके भक्त-हृदय की परिचायक हैं। उन्हें इस घटना और अनादर में भी अपने प्रभु के ही संकेत का साक्षात्कार हो रहा था। आज उन्हें इस द्विविधाग्रस्त जीवन से पूरी तरह मुक्ति मिल चुकी थी जिसे वे न जाने कब से

छोड़ना चाहते थे पर ममत्व के कारण या धर्म की मिथ्या धारणा के परिणाम स्वरूप वे स्वयं इस दिशा में बढ़ने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे। आज यह कार्य रावण के द्वारा हो गया। अतः इसमें उन्हें प्रभु की ही प्रेरणा प्रतीत होती है। इस तरह विभीषण का चरित्र एक महान् साधक के रूप में सामने आता है जो प्रतिकूलता में भी प्रभु की कृपा का साक्षात्कार करते हैं। भगवान् राम भी उन्हें इसी प्रकार का सम्मान देते हैं। यहां सुग्रीव और विभीषण की तुलना की जा सकती है।

सुग्रीव और विभीषण दोनों ही रामभद्र के सखा के रूप में प्रसिद्ध हैं। पर इस बाह्य साम्य से हटकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की मनः-स्थिति में पूरी तरह भिन्नता है। विभीषण के चरित्र में प्रारम्भ से ही भक्ति के संस्कार विद्यमान थे। श्री राम के ईश्वरत्व के प्रति उनकी अविचल आस्था भी सार्वकालिक थी। किन्तु सुग्रीव के लिए ठीक ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उनका प्रारम्भ में वालि के प्रति प्रगाढ़ अनुराग था और वे वैयक्तिक संघर्ष के कारण ही वालि के विरोधी बने थे। बालि ने उनकी पत्नी का अपहरण करते हुए उन्हें सम्पत्ति और सुख से वंचित कर दिया था। उनके स्वार्थ की हानि हुई थी; उनके प्रति अन्याय हुआ था। प्रतिशोध की भावना से ही वे श्री राम से मैत्री करते हैं। प्रारम्भ में उनके मन में राम की ईश्वरता के प्रति भी संशय था। विभीषण किसी व्यक्तिगत न्याय, अन्याय अथवा स्वार्थ को लेकर रावण के विरुद्ध विद्रोह नहीं करते हैं। वे रावण के द्वारा सीताजी के प्रति किए गए अन्याय से क्षुब्ध होकर रावण का परित्याग करते हैं। मनःस्थिति की इस भिन्नता के कारण ही राघवेन्द्र दोनों के प्रति भिन्न व्यवहार करते हैं। जहां सुग्रीव से मैत्री करते हुए वे मित्र के कर्तव्यों का उपदेश देते हैं वहां विभीषण से मिलने पर वे उनके प्रति जिस शब्दावली का प्रयोग करते हैं उसमें उनके सन्तत्व की सराहना के साथ प्रगाढ़ आदर-भावना का परिचय प्राप्त होता है। सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियों में विभीषण के द्वारा धर्म का निर्वाह किया जाना उन्हें इतना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि वे यह जिज्ञासा किए बिना नहीं रह पाते कि वे ऐसे विरोधी वातावरण में धर्म का निर्वाह कैसे कर पाते थे? इस प्रश्न के साथ वे भक्ति-तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए सन्तों के लक्षणों का वर्णन करते हैं और अपने भाषण का समापन करते हुए वे भक्त और सन्तों का समस्त लक्षण विभीषण में बताते हुए यह कहते हैं कि तुम जैसे सन्तों के लिए ही मैं अवतरित होता हूं :

अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।
बोले बचन भगत भय हारी॥
कहु लंकेस सहित परिवारा।
कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥
खल मंडली बसहु दिन राती।
सखा धरम निबहइ केहि भांती॥

मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती।
अति नय निपुन न भाव अनीती॥
बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
× × ×
जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं।
हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।
धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥
सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥
सुनु लंकेस सकल गुन तोरें।
तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥

विभीषण को राजतिलक करते हुए भी वे यह कहना नहीं भूलते हैं कि "मित्र मुझे यह भली भांति ज्ञात है कि तुममें राज्य की रंचमात्र आकांक्षा नहीं है पर अपने दर्शन की अव्यर्थता सिद्ध करने के लिए ही मैं तुमसे राज्य लेने का अनुरोध करता हूं।" इस प्रसंग में भी सुग्रीव के प्रति उनके भिन्न व्यवहार का स्मरण आता है। रघुवीर के द्वारा की जाने वाली वालि वध की प्रतिज्ञा के पश्चात् सुग्रीव में क्षणिक वैराग्य का उफान आता है और वे उस आवेश में सर्व त्याग की बात करने लग जाते हैं। पर उनके उस शाब्दिक वैराग्य को सुनकर रामभद्र को हंसी आ जाती है। सुग्रीव के वैराग्य की वास्तविकता से वे भली भांति परिचित थे। किन्तु विभीषण की इस आत्म-स्वीकृति के पश्चात् भी उनके अन्तःकरण में कुछ वासनाएं विद्यमान थीं प्रभु इसे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं। विभीषण को राजतिलक करते हुए प्रभु के जिस संकोच का उल्लेख गोस्वामी जी ने किया है उसके पीछे उनका यही भय था कि लोगों के मन पर यह प्रभाव न पड़े कि विभीषण राज्य-लोलुप हैं और इसी वासना से प्रेरित होकर वे राम के निकट आए हैं। वस्तुतः इस कार्य के द्वारा राम का उद्देश्य लंका के वैभव के प्रति अपनी उदासीनता सिद्ध करना था। वे यह स्पष्ट कर देना चाहते थे कि लंका की भूमि अथवा वैभव का आकर्षण उनके मन में विद्यमान नहीं है पर उन्हें इतनी ही चिन्ता इस बात की भी थी कि विभीषण की मूर्ति लोक-दृष्टि में खण्डित न होने पावे। सुग्रीव के प्रसंग में

इस प्रकार की कोई आशंका उनके मन में नहीं थी। वहां वे अन्याय का परिमार्जन करते हुए बालि वध के पश्चात् लक्ष्मण को यह आदेश देते हैं कि वे किष्किन्धा में जाकर सुग्रीव का राजतिलक करें। पर इसके साथ ही सुग्रीव से वे यह कहना नहीं भूलते कि अंगद के साथ मिलकर वे किष्किन्धा राज्य का संचालन करें और उन्हें यह भी ध्यान बना रहे कि सीता जी का पता लगाना उनका परम कर्तव्य है। इस तरह दोनों प्रसंगों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मैत्री में समानता होते हुए भी भगवान् राम के मन में दोनों के चरित्र की भिन्नता का भान था। इन दोनों प्रसंगों की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

सुग्रीव :— उपजा ग्यान बचन तब बोला।
नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला।।
सुख संपति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।।
ए सब राम भगति के बाधक।
कहहिं संत तव पद अवराधक।।
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
मायाकृत परमारथ नाहीं।।
बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।।
सपनें जेहि सन होइ लराई।
जागें समुझत मन सकुचाई।।
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।
सब तजि भजनु करौं दिन राती।।
सुनि बिराग संजुत कपि बानी।
बोले बिहँसि रामु धनु पानी।।
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई।
सखा बचन मम मृषा न होई।।
× × ×
राम कहा अनुजहि समुझाई।
राज देहु सुग्रीवहि जाई।।
× × ×
अंगद सहित करहु तुम्ह राजू।
संतत हृदयँ धरेहु मम काजू।।
× × ×
बिभीषण :— सुनत बिभीषनु प्रभु कै बानी।
नहिं अघात श्रवनामृत जानी।।

पद अंबुज गहि बारहिं बारा।
हृदयँ समात न प्रेमु अपारा॥
सुनहु देव सचराचर स्वामी।
प्रनतपाल उर अंतरजामी॥
उर कछु प्रथम बासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
अब कृपाल निज भगति पावनी।
देहु सदा सिव मन भावनी॥
एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा।
माँगा तुरत सिंधु कर नीरा॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।
मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा।
सुमन वृष्टि नभ भई अपारा॥

अभिषेक के पश्चात् रामभद्र मन्त्रिमण्डल के समक्ष समुद्र के सन्तरण का प्रश्न उपस्थित करते हैं। विभीषण ने प्रभु से यह अनुरोध किया कि वे समुद्र की प्रार्थना कर उनसे मार्ग देने का अनुरोध करें। रामभद्र ने विभीषण की इस सम्मति पर साधुवाद दिया और इसी के अनुकूल चलने का निश्चय किया। स्वभावतः तेजस्वी लक्ष्मण इस मत का तीव्र विरोध करते हैं। उन्हें अब विलम्ब सर्वथा असह्य प्रतीत हो रहा था। उनका मत तो यह था कि पावकास्त्र के द्वारा समुद्र को सुखाकर लंका पर अभियान प्रारम्भ कर देना चाहिए। वे कठोर नीति के पक्षधर थे। इस प्रसंग के अन्त में ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मण का मत ही उपयुक्त था। राघवेंद्र को भी बाध्य होकर वाण के प्रयोग के लिए प्रस्तुत होना पड़ा। यहां यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि विभीषण के द्वारा दी गई सम्मति के पीछे कौन-सा मनोभाव कार्य कर रहा था। वन्दिनी विदेहजा जिस प्रतिकूल स्थिति में निवास कर रही थीं उसका ज्ञान जैसा विभीषण को था वैसा किसी अन्य को हो ही नहीं सकता था। फिर वे एक विलम्बकारी नीति का प्रतिपादन करें यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पीछे भी उनके हृदय का सद्भाव ही कार्य कर रहा था। वस्तुतः वे लंका और रावण को विनष्ट होने से रोकना चाहते थे। अब भी उनके मन में आशा के कुछ तन्तु अवशिष्ट थे। परिवर्तित परिस्थिति में वे रावण को सोचने के लिए कुछ समय देना चाहते थे। उन्हें विश्वास था कि राघवेंद्र के ऐश्वर्य से परिचित रावण इससे उनकी शान्ति-नीति को समझकर सन्धि का प्रस्ताव कर सकता है। भले ही उनकी धारणा यथार्थ न सिद्ध हुई हो पर इससे उनके सद्भाव का परिचय अवश्य प्राप्त होता है। आगे चलकर जब उन्हें यह समाचार ज्ञात हो जाता है कि रावण इस कार्य में भी राम की कायरता देख रहा है तब उन्हें यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि रावण का विनाश रोक

पाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है और तब उन्होंने लंका के युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लिया। वे लंका और रावण के रहस्यों से भली भांति परिचित थे। अब उन्हें यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगा था कि न केवल विश्व-हित में अपितु रावण के हित में भी यही उचित होगा कि लंका का युद्ध शीघ्र समाप्त हो जाय। राम के ईश्वरत्व के प्रति अविचल आस्था के कारण ही वे इसमें रावण की मुक्ति का साक्षात्कार कर रहे थे। मेघनाद और रावण की मृत्यु के प्रसंग में उनकी मन्त्रणा ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी। रावण वध के पश्चात् उन्हें लंका के सिंहासन पर आरूढ़ किया जाता है। किन्तु यह कहना उनके चरित्र के प्रति अन्याय होगा कि वे राज्य के प्रलोभन से प्रेरित होकर श्री राम से मिल गए थे। वस्तुतः वे सिद्धान्तवादी सत्याग्रही थे।

।। श्री राम: शरणं मम ।।

कुम्भकर्ण

जहां जनमानस में रावण अन्याय और अत्याचार के प्रतीक के रूप में स्मृति का विषय है वहां कुम्भकर्ण को शारीरिक विशालता और निद्रा के प्रतीक के रूप मे याद किया जाता है। किसी अत्यन्त विशालकाय व्यक्ति को देखकर लोगों को कुम्भकर्ण की याद आ जाती है। अत्यधिक निद्राप्रिय व्यक्ति की तुलना भी सर्वदा कुम्भकर्ण से की जाती है। इन दोनों भाइयों के प्रसंग में एक अन्तर बहुत सुस्पष्ट देखा जा सकता है कि जहां रावण से तुलना किए जाने पर व्यक्ति स्वयं को अत्यधिक अपमानित अनुभव करता है वहां कुम्भकर्ण नाम दिए जाने पर व्यंग्य और उपहास की ही अधिक अनुभूति होती है। वस्तुत: इन दोनों भाइयों की मनोवृत्ति का पार्थक्य ही इसका हेतु है।

रावण का व्यक्तित्व जहां महत्त्वाकांक्षाओं का पुंज था वहां कुम्भकर्ण में इसका सर्वथा अभाव दिखाई देता है। मानस के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ से ही कुम्भकर्ण अत्यधिक भोजन-प्रिय व्यक्ति था। उसकी महत्त्वाकांक्षा अत्यधिक आहार तक ही सीमित थी। शारीरिक क्षमता में अद्वितीय होते हुए भी वह स्वत: संघर्ष-प्रिय नहीं था। किन्तु वह रावण के प्रति पूरी तरह समर्पित था और वह उसकी इच्छा-पूर्ति के लिए एक यन्त्र की भांति कार्य करता था। यदि वह युद्ध में रावण का अनुगामी था तो तपस्या में भी वह उसके अनुज के रूप में ही सामने आता है। उसके लिए युद्ध और तपस्या का कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं था। वह अपने विवेक का प्रयोग नहीं करता और रावण की इच्छाओं की पूर्ति को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठता है। वस्तुत: यह संस्कार उसे अपने पूर्व-जन्म से ही प्राप्त हुआ था। वह अपने पूर्व-जन्म में अरिमर्दन के नाम से प्रसिद्ध था। उस समय वह प्रतापभानु के छोटे भाई के रूप में सामने आता है पर उस समय भी वह अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करता है। प्रगाढ़ भ्रातृ-भक्ति से प्रेरित अरिमर्दन का परिचय मानस में इसी रूप में दिया गया है। अतुलनीय योद्धा होते हुए भी वह केवल प्रतापभानु की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ही संघर्ष करता है। उसका अन्त:करण पूरी तरह छल शून्य था। मानस की इन पंक्तियों में उसका यही चित्र प्रस्तुत किया गया है :

बिस्व बिदित एक कैकय देसू।
सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू।।
धरम धुरंधर नीति निधाना।
तेज प्रताप सील बलवाना।।
तेहि के भए जुगल सुत बीरा।
सब गुन धाम महा रनधीरा।।

राज धनी जो जेठ सुत आही।
नाम प्रतापभानु अस ताही॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा।
भुजबल अतुल अचल संग्रामा॥
भाइहि भाइहि परम समीती।
सकल दोष छल बरजित प्रीती॥

रावण अपने पूर्व-जन्म में प्रतापभानु के रूप में भी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था। हां, यह अन्तर अवश्य था कि जहां रावण के रूप में वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को छिपाने का प्रयास नहीं करता है वहां प्रतापभानु के रूप में वह आत्मगोपन की कला में निपुण था। वह कपटमुनि के समक्ष एकान्त क्षणों में ही अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देता है। कपटमुनि के द्वारा उसे जो गुप्त मन्त्रणा प्राप्त होती है, उसमें वह किसी को भागीदार नहीं बनाता है। यहां तक कि अपने प्रिय अनुज अरिमर्दन से भी इस विषय में मन्त्रणा करना उसे अनावश्यक प्रतीत होता है। अपने भाई की निरीहता और समर्पण पर उसे पूरा विश्वास था। प्रतापभानु की इन महात्त्वाकांक्षाओं का दण्ड केवल उसे ही नहीं भोगना पड़ा अपितु अरिमर्दन को भी इसमें भागी बनना पड़ता है। फिर भी वह प्रतापभानु को किसी प्रकार का उलाहना देता हुआ नहीं दिखाई देता। प्रकृतिगत उसकी यह उदासीनता कुम्भकर्ण के रूप में भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसीलिए जहां रावण और विभीषण सुस्पष्ट लक्ष्य लेकर तपस्या में प्रविष्ट होते हैं वहां कुम्भकर्ण केवल अपने भाई का अनुगमन कर रहा था। उसकी इस अनिश्चितता का लाभ ब्रह्मा उसे वरदान देते समय लेते हैं।

तीनों भाइयों की तपस्या से सन्तुष्ट होकर ब्रह्मा और शंकर उनके सामने प्रकट होते हैं। रावण को वरदान देने के पश्चात् जब वे कुम्भकर्ण के सामने आकर खड़े हुए तब ब्रह्मा कुम्भकर्ण की शरीर-रचना को देखकर आतंकित हो उठे, उन्हें ऐसा लगा कि यदि यह व्यक्ति प्रतिदिन भोजन में जुटा रहा तो विश्व इसकी क्षुधा-शांति में ही विनष्ट हो जावेगा। ऐसी स्थिति में इस समस्या का समाधान ढूंढ़ने के लिए वे सरस्वती का आश्रय लेते हैं। कुम्भकर्ण अब भी यह निश्चय नहीं कर पाया था कि उसे क्या वरदान मांगना है। सरस्वती ने उसके मस्तिष्क में निद्रा के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया। वस्तुतः इसके पीछे कुम्भकर्ण का मनोवैज्ञानिक रूप छिपा हुआ था। वह स्वभाव से हिंसक और क्रूरता-प्रिय नहीं था। पर अपनी क्षुधा-शान्ति के लिए उसे हिंसा का आश्रय लेना ही पड़ता था। अतः उसे इस समस्या का समाधान निद्रा में ही प्रतीत हुआ। इस तरह यह कहा जा सकता है कि उसने जिस वरदान की याचना की उसके पीछे उसका सद्भाव विद्यमान था। उसने ब्रह्मा से छः मास सोने के पश्चात् केवल एक दिन जागने का वरदान प्राप्त किया। इस तरह प्रारम्भ में जो व्यक्ति केवल भोजनप्रिय था वह व्यक्ति ब्रह्मा की प्रेरणा से निद्रा-प्रिय भी बन गया। इसमें जहां ब्रह्मा की दृष्टि में सृष्टि की समस्या का समाधान था वहीं इसमें कुम्भकर्ण की भी आत्मतुष्टि थी :

पुनि प्रभु कुम्भकरन पहिं गयऊ।
तेहि बिलोकि मन बिसमय भयऊ॥
जौं एहिं खल नित करब अहारू।
होइहि सब उजारि संसारू॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी।
मागेसि नींद मास षट केरी॥

इसके पश्चात् उसकी जीवन-चर्या निद्रा और भोजन तक ही सीमित हो गई। उसे लंका में होने वाले क्रिया-कलाप से कुछ लेना-देना नहीं था। छः मास के पश्चात् उसे जागरण का जो दिन प्राप्त होता था उसे वह क्षुधा की पूर्ति में प्रयुक्त करता था। वह रावण के प्रति कृतज्ञ था क्योंकि उसे यह प्रतीत होता था कि उसके द्वारा लंका की कोई सेवा नहीं हो रही है फिर भी बिना असन्तुष्ट हुए रावण उसके बोझ को ढो रहा है। रावण के द्वारा किए जाने वाले निर्वाह में केवल भ्रातृप्रेम ही हेतु रहा हो ऐसा नहीं जान पड़ता है। वस्तुतः जहां वह अपने भाई के प्रति स्नेहालु था वहां उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के अभाव से संतुष्ट भी था।। इससे इन दोनों भाइयों में संघर्ष की सम्भावना समाप्त हो चुकी थी। पर कुम्भकर्ण की यह उदासीनता रावण की असीम महत्त्वाकांक्षाओं और उच्छृंखलताओं में सहायक बनी। सम्भवतः कुम्भकर्ण के प्रतिरोध को पूरी तरह स्वीकार कर पाना रावण के लिए सम्भव न होता। किन्तु उसकी भ्रातृभक्ति लंका के लिए महंगी पड़ी। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए रावण को एक दिन उसकी दिनचर्या में हस्तक्षेप करना पड़ा।

विदेहजा के हरण के कारण लंका में जो महान् युद्ध छिड़ा हुआ था उसमें रावण की सेना प्रतिदिन पराजित और विनष्ट हो रही थी। ऐसी स्थिति में रावण को कुम्भकर्ण का स्मरण आया। उसे लगा कि सम्भवतः इस विपत्ति से कुम्भकर्ण का बल ही उबार सकता है; साथ ही उसने यह मान लिया कि वह आज तक कुम्भकर्ण का जो बोझ ढोता रहा है उसका प्रतिदान प्राप्त करने का अवसर उपस्थित हो गया है। वह स्वार्थ में इतना अन्धा हो चुका था कि उसने वरदान के उस पक्ष को भुला दिया जिसमें उसे मध्य में जगाए जाने का निषेध था। इस निषेध में ही कुम्भकर्ण की मृत्यु का बीज निहित था। बड़ी कठिनाई से कुम्भकर्ण की निद्रा टूटी और वह उठकर बैठ गया। रावण की मुखाकृति देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया। सर्वदा उत्साह और शौर्य से उत्फुल्ल रावण उसे म्लानमुख दिखाई दे रहा था। कुम्भकर्ण की जिज्ञासा के उत्तर में रावण ने उन सारी घटनाओं का वर्णन किया जिससे प्रेरित होकर उसने मैथिली के अपहरण का निर्णय लिया। घटना के सारे वर्णन में उसका अभिमान स्पष्ट था। उसने कुम्भकर्ण पर यह छाप डालने की चेष्टा की कि उसके इस कार्य में कोई अनौचित्य नहीं है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि लंका की आधी सेना मारी जा चुकी है और इस अवसर पर पराक्रम प्रकट करने के लिए ही उसे जगाया गया है। रावण को यह पूरी तरह विश्वास था कि उसका प्रिय बन्धु अपनी शौर्य भरी वाणी से उसे आश्वस्त करेगा। पर कुम्भकर्ण की वाणी

से उसे जो कुछ सुनने को मिला उससे उसका आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक ही था। सर्वदा मौन रहने वाला भाई आज मुखर होकर उसकी कटु आलोचना कर रहा था। वस्तुतः कुम्भकर्ण का शरीर ही नहीं आज उसकी बुद्धि भी जाग्रत् हो चुकी थी। रावण के द्वारा मैथिली-हरण के कार्य का अनौचित्य सिद्ध करते हुए वह कठोर शब्दों में उसकी भर्त्सना करता है; दुष्परिणाम की भविष्यवाणी करता है और राम के ईश्वरीय स्वरूप के चिन्तन में क्षण भर के लिए डूब जाता है। उन क्षणों में वह विभीषण का प्रतिरूप जैसा प्रतीत होता है। सत्य तो यह है कि विभीषण की वाणी की विनम्रता के स्थान पर कुम्भकर्ण के स्वर में रावण के प्रति तीव्र कटुता विद्यमान थी। पर विभीषण की विनम्र वाणी को न सह पाने वाला रावण इस तिरस्कार भरी वाणी को चुपचाप सुनता रहा, इसे परिस्थिति की बाध्यता कह सकते हैं। वह इस बीच में इतना कुछ खो चुका था कि स्वयं को कुम्भ-कर्ण को रुष्ट करने की स्थिति में नहीं पाता है। पर बात इतनी-सी ही नहीं थी। रावण कुम्भकर्ण और विभीषण के पार्थक्य को भली भांति समझता था, दोनों के प्रकृति गत भेद को ही वह जानता था। विभीषण का ज्ञान सूर्य के प्रकाश की भांति सुस्थिर था किन्तु कुम्भकर्ण के विचार में बिजली की एक कौंध मात्र थी। वह शरीर से ऊपर उठने की स्थिति में नहीं था। रावण यह भली भांति जानता था कि विभीषण के विचारों को परिवर्तित करना उसके लिए सम्भव नहीं था किन्तु भोजन और सुरा के द्वारा कुम्भकर्ण के विचारों को धुंधला बनाया जा सकता है। कुम्भ-कर्ण की इस दुर्बलता का लाभ उठाने में वह सफल होता है। ध्यानावस्थित कुम्भकर्ण के समक्ष वह मद्य और मांस के ढेर लगा देता है और नेत्र खुलते ही कुम्भकर्ण की दृष्टि इन वस्तुओं पर पड़ती है, तब वह भूख से व्याकुल होकर इन पर टूट पड़ता है। जहां राम के रूप और गुण में उनका मन क्षण भर के लिए डूबा वहां सुराघाट में उसके सारे सद्विचार डूब गए और उन्मत्त होकर वह गर्जना करने लगा :

> ब्याकुल कुंभकरण पहिं आवा।
> बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥
> जागा निसिचर देखिअ कैसा।
> मानहुँ कालु देह धरि बैसा॥
> कुंभकरण बूझा कहु भाई।
> काहे तव मुख रहे सुखाई॥
> कथा कही सब तेहिं अभिमानी।
> जेहि प्रकार सीता हरि आनी॥
> तात कपिन्ह सब निसिचर मारे।
> महा महा जोधा संघारे॥
> दुर्मुख सुररिपु मनुज अहारी।
> भट अतिकाय अकंपन भारी॥

अपर महोदर आदिक बीरा।
परे समर महि सब रन धीरा॥
सुनि दसकंधर बचन तब कुंभकरण बिलखान।
जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान॥
भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा।
अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना।
भजहु राम होइहि कल्याना॥
है दससीस मनुज रघुनायक।
जाके हनूमान से पायक॥
अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई।
प्रथमहिं मोहि न सुनाएहि आई॥
कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक।
सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥
नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा।
कहतेउँ तोहि समय निरबहा॥
अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई।
लोचन सुफल करौं मैं जाई॥
स्याम गात सरसीरुह लोचन।
देखौं जाई ताप त्रय मोचन॥
राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक।
रावन माँगेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक॥
महिष खाइ करि मदिरा पाना।
गर्जा बज्राघात समाना॥

कुम्भकर्ण ऐसे अनगिनत व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है जो सत्य को समझकर भी उसे जीवन में उतार नहीं पाते हैं। जिनके जीवन की सरिता वासना और विचार के दोनों कगारों का स्पर्श करती हुई बहती है किन्तु संकल्प सेतु के अभाव में उस व्यवधान को पाट पाना सम्भव नहीं होता। विचारों में राम का समर्थन करने वाला यह योद्धा युद्ध-क्षेत्र में रावण की ओर से लड़ने के लिए बाध्य था। युद्ध के परिणाम के विषय में उसे कोई सन्देह नहीं था, वस्तुतः वह विजय का संकल्प लेकर युद्ध के लिए चलता भी नहीं है। वह तो रावण के द्वारा किए गए सद्व्यवहार का प्रतिदान देने के लिए युद्ध-क्षेत्र में जा रहा था। इसीलिए वह किसी वाहन या सेना को साथ में ले जाना स्वीकार नहीं करता है :

कुंभकरन दुर्मद रन रंगा।
चला दुर्ग तजि सेन न संगा॥

कुम्भकर्ण के विशाल शरीर को देखते ही बानरोंकी सेना आश्चर्यचकित हो

जाती है। विभीषण आगे बढ़कर कुम्भकर्ण के चरणों में जाकर नमन करते हैं। जिन परिस्थितियों से बाध्य होकर उन्हें लंका का परित्याग करना पड़ा था वह भी वह अपने वड़े भाई के समक्ष रखते हैं। उन क्षणों में भी कुम्भकर्ण की न्याय-बुद्धि पूरी तरह लुप्त नहीं हुई थी। वह विभीषण के कार्यों का न केवल अनुमोदन करता है अपितु भावुकता भरे स्वर में उन्हें वंशविभूषण की उपाधि देकर उनका अभिनन्दन भी करता है। कपट छोड़कर मन, वचन, कर्म से भक्ति करने का उपदेश देता है। कुम्भकर्ण का यह रूप उसकी आकृति, उसके आचरण, उसके आहार-विहार से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि इस भयानक दिखाई देने वाले व्यक्ति के हृदय में एक अत्यन्त संवेदनशील, मन विद्यमान था, वह स्वयं की सीमाओं से परिचित था। विभीषण के मार्ग का अनुगमन कर पाना उसके लिए संभव नहीं था। यहां तीनों भाइयों की प्रकृति की भिन्नता का स्मरण आना स्वाभाविक है। रावण कभी अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। अपने अनुचित कार्यों को उचित सिद्ध करने के लिए वह अपने पाण्डित्य का, अपनी तर्कशक्ति का उपयोग करता ही रहता है। वह दूसरों को ही नहीं अपने को छलने की कला में भी अत्यन्त कुशल था। कुम्भकर्ण के चरित्र में आत्म-प्रवंचना का सर्वथा अभाव है। वह सत्य को समझता है और सरलता से स्वीकार भी कर लेता है पर उसके सवल शरीर में संकल्प पूर्ति करने वाला सबल मन नहीं था। इसलिए भक्ति के संदर्भ में अपनी अयोग्यता और असमर्थता को स्वीकार कर लेता है। विभीषण के जीवन में सत्य के प्रति न केवल-अविचल निष्ठा थी अपितु बहिरंग दृष्टि से कम सवल होते हुए भी वे आत्मवल से भरे हुए थे। कुम्भकर्ण इसी दृष्टि से उनका अभिनन्दन करता है। साथ ही वह उनसे तत्काल लौट जाने का भी अनुरोध करता है क्योंकि उसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसकी दृष्टि धुंधली हो रही है और वह मृत्यु के सन्निकट पहुंच रहा है :

देखि बिभीषनु आगें आयउ।
परेउ चरन निज नाम सुनायउ॥
अनुज उठाइ हृदयँ तेहि लायो।
रघुपति भक्त जानि मन भायो॥
तात लात रावन मोहि मारा।
कहत परम हित मंत्र बिचारा॥
तेहिं गलानि रघुपति पहिं आयउँ।
देखि दीन प्रभु के मन भायउँ॥
सुनु सुत भयउ काल बस रावन।
सो कि मान अब परम सिखावन॥
धन्य धन्य तैं धन्य विभीषन।
भयउ तात निसिचर कुल भूषन॥

बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।
भजेहु राम सोभा सुख सागर॥
बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि भयउँ काल बस बीर॥

इसके पश्चात् कुम्भकर्ण का दुर्दमनीय शौर्य प्रकट होता है। रावण और मेघनाद की तरह भले ही उसने कई दिनों तक युद्ध न किया हो पर केवल एक दिन के लिए लड़ा जाने वाला उसका युद्ध अप्रतिम था। अकेला कुम्भकर्ण कपि सेना के सभी महान् योद्धाओं को परास्त करने में सफल हो जाता है। अतुलित बली आंजनेय भी इसके अपवाद नहीं सिद्ध हुए। यद्यपि उन्होंने अपने सवल प्रहार से कुम्भकर्ण को मूर्च्छित करने में सफलता प्राप्त की पर वाद में उसके प्रहार से पवन-नन्दन भी मूर्च्छित हो गये। इससे वानरों की सेना में अभूतपूर्व आतंक फैल गया। वानराधिप सुग्रीव को तो वह मूर्च्छित देखकर वगल में दबाकर लंका की ओर लौटता दिखाई देता है, यह उसकी दृष्टि में वालि द्वारा रावण के प्रति किए जाने वाले व्यवहार का वदला था। पर चतुर सुग्रीव मूर्च्छा-मुक्त होने पर उसे पुनः युद्ध-क्षेत्र में लौटाने में सफलता प्राप्त करते हैं। मृतक के अभिनय के द्वारा वे स्वयं को तो मुक्त कर ही लेते हैं चलते-चलाते उसकी नासिका और कानों को भी काट लेते हैं। कुम्भकर्ण इस रूप में लौटना व्यर्थ समझता है। असम्मान और उपहास का जीवन उसके लिए असह्य था। रणक्षेत्र में लौटकर वह पुनः अपना असह्य पराक्रम प्रकट करता है। बन्दर भयाक्रान्त होकर भाग खड़े होते हैं। रक्षा के लिए राम को पुकार उठते हैं और तव भगवान् राम इस युद्ध में हस्तक्षेप करते हैं। प्रारम्भ में विभीषण के द्वारा परिचय दिए जाने के बाद भी प्रभु युद्ध में प्रवृत्त नहीं होते। लक्ष्मण को भी उन्होंने युद्ध करने का आदेश नहीं दिया। लगता है विभीषण ने कुम्भ-कर्ण के पास से लौटकर जब उसका परिचय दिया तब स्वभावतः वे कुम्भकर्ण के उन विचारों को बताना नहीं भूले होंगे जिसमें उसके हृदय की कोमलता, निष्पक्षता और राम के प्रति अनुराग का परिचय प्राप्त होता है। शील-सिन्धु राम का उससे द्रवित हो उठना स्वाभाविक ही था। ऐसा व्यक्ति जो परिस्थितियों और अपनी दुर्वलताओं से वाध्य होकर उनके विपक्ष में खड़ा था उन्हें शत्रु जैसा प्रतीत नहीं होता। इस तटस्थता का कारण यही था। पर अव जिन परिस्थितियों का निर्माण हुआ था उसमें उनका हस्तक्षेप अपरिहार्य था। न केवल बन्दरों की रक्षा के लिए अपितु कुम्भकर्ण के अन्तर्मन की भावना की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक था। कुम्भकर्ण जिस अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में था वह उसके लिए अत्यन्त दुःखद थी। उसके जीवन में जिस द्वैत का उदय हो गया था, मृत्यु को छोड़कर उससे उबारने का और कोई उपाय नहीं रह गया था। व्यावहारिक अर्थों में भी उसके लिए यही मार्ग श्रेयस्कर था। सुग्रीव के द्वारा उसका विरूपीकरण कर दिए जाने के पश्चात् उसकी स्वाभिमानि प्रकृति के लिए लंका लौटाने का मार्ग अवरुद्ध हो चुका था। श्री राम के हाथों से उसका वध ही इन सारी समस्याओं का समाधान था। युद्ध के चरम

क्षणों में भी उसने अप्रतिम शौर्य का परिचय दिया, इस अर्थ में उसका युद्ध रावण और मेघनाद की तुलना में कहीं अधिक उत्कृष्ट था। बिना किसी छल और अस्त्र-शस्त्र का आश्रय लिए केवल शारीरिक वल से वह जिस शौर्य का प्रदर्शन करता है वह अप्रतिम था। राम के वाणों के द्वारा उसका प्रत्येक अंग विनष्ट हो रहा था फिर भी उसने पीछे हटने या भागने की कोई चेष्टा नहीं की जब कि ऐसे अवसरों पर रावण और मेघनाद ने शूरता का ऐसा परिचय नहीं दिया। उसके युद्ध का सवल चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है :

नाक कान काटे जियँ जानी।
फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी ॥
सहज भीम पुनि बिनु श्रुति नासा।
देखत कपि दल उपजी त्रासा ॥
जय जय जय रघुबंस मनि धाए कपि दै हूह।
एकहि बार तासु पर छाड़ेन्हि गिरि तरु जूह ॥
कुंभकरन रन रंग बिरुद्धा।
सन्मुख चला काल जनु क्रुद्धा ॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई।
जनु टीड़ी गिरि गुहाँ समाई ॥
कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा।
कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा ॥
मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा।
नसरि पराहिं भालु कपि ठाटा ॥
रन मद मत्त निसाचर दर्पा।
बिस्व ग्रसिहि जनु एहि बिधि अर्पा ॥
मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे।
सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे ॥
कुंभकरन कपि फौज बिडारी।
सुनि धाई रजनीचर धारी ॥
× × ×
कुंभकरन मन दीख बिचारी।
हति छन माझ निसाचर धारी ॥
भा अति क्रुध महाबल बीरा।
कियो मृगनायक नाद गँभीरा ॥
कोपि महीधर लेइ उपारी।
डारइ जहँ मर्कट भट भारी ॥
आवत देखि सैल प्रभु भारे।
सरन्हि काटि रज सम करि डारे ॥

पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक।
छाँड़े अति कराल बहु सायक॥
तनु महुँ प्रबिसि निसरि सर जाहीं।
जिमि दामिनि घन माझ समाहीं॥
सोनित स्रवत सोह तन कारे।
जनु कज्जल गिरि गेरु पनारे॥
बिकल बिलोकि भालु कपि धाए।
बिहँसा जबहिं निकट कपि आए॥
महानाद करि गर्जा कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव सपथ करइ दससीस॥
आगे भालु बली मुख जूथा।
बृकु बिलोकि जिमि मेष बरूथा॥
चले भागि कपि भालु भवानी।
बिकल पुकारत आरत बानी॥
यह निसिचर दुकाल सम अहई।
कपि कुल देस परन अब चहई॥
कृपा बारिधर राम खरारी।
पाहि पाहि प्रनतारति हारी॥
सकरुन बचन सुनत भगवाना।
चले सुधारि सरासन बाना॥
राम सेन निज पाछें घाली।
चले सकोप महाबलसाली॥
खैंचि धनुष सर सत संधाने।
छूटे तीर सरीर समाने॥
लागत सर धावा रिस भरा।
कुधर डगमगत डोलति धरा॥
लीन्ह एक तेहिं सैल उपाटी।
रघुकुल तिलक भुजा सोइ काटी॥
धावा बाम बाहु गिरि धारी।
प्रभु सोउ भुजा काटि महि पारी॥
काटें भुजा सोह खल कैसा।
पच्छहीन मंदर गिरि जैसा॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका।
ग्रसन चहत मानहुँ त्रैलोका॥
करि चिक्कार घोर अति धावा बदनु पसारि।
गगन सिद्ध सुर त्रासित हा हा हेति पुकारि॥

सभय देव करुनानिधि जान्यो।
श्रवन प्रजंत सरासन तान्यो॥
विसिख निकर निसिचरमुख भरेऊ।
तदपि महाबल भूमि न परेऊ॥
सरन्हि भरा मुख सन्मुख आवा।
काल त्रोन सजीव जनु आवा॥
तब प्रभु कोपि तीब्र सर लीन्हा।
धर ते भिन्न तासु सर कीन्हा॥
सो सिर परेउ दसानन आगे।
बिकल भयउ जिमि फनि मनि त्यागे॥
धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा।
तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥
परे भूमि जिमि नभ तें भूधर।
हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥
तासु तेज प्रभु बदन समाना।
सुर मुनि सबहि अचंभव माना॥

मृत्यु के क्षणों में जो अद्‌भुत दृश्य दिखाई पड़ा उससे देवता और मुनियों का आश्चर्यचकित हो जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उन्होंने कुम्भकर्ण के कंठ से एक दिव्य-तेज को प्रवाहित होते देखा और वह तेज प्रभु के मुख में विलीन हो गया। एक महान तमसाछन्न राक्षस का इस प्रकार मुक्त हो जाना उन्हें विस्मय में डाल देता है। कुम्भकर्ण की इस मुक्ति को अनेकों भिन्न सन्दर्भों में देखा जा सकता है। वेदान्त की मान्यता है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' में इसी सिद्धांत का उद्‌घोष किया गया है। इस ज्ञान की उपलब्धि की प्रक्रिया का मानस में जटिल वर्णन प्रस्तुत किया गया है। निश्चित रूप से उस प्रक्रिया का कोई अंश कुम्भकर्ण के जीवन में दिखाई नहीं देता है पर उसे अज्ञानी नहीं कहा जा सकता। भले ही उसने ज्ञान-दीप को जलाने की कठिन प्रक्रिया का पालन न किया हो पर दूसरे के द्वारा प्रज्ज्वलित ज्ञान-दीप को उसने आदरपूर्वक ग्रहण कर लिया था। यह महान ज्ञानोपलब्धि उसे महान् सन्त देवर्षि नारद के द्वारा हुई थी। भले ही उसके जीवन का अधिकांश भाग आलस्य और प्रमाद में व्यतीत हुआ हो पर जागृति के कुछ क्षणों का उसने बड़ा ही सार्थक सदुपयोग किया। छः महीने के पश्चात् जागरण के केवल एक दिन को वह भोजन और मदिरापान में व्यतीत करे यही उसके लिए स्वाभाविक था पर ऐसे ही किसी दिन सन्त का शुभागमन होता है और वह भोजन और पान से विरत होकर उनकी दिव्य ज्ञानमयी गाथा आदरपूर्वक श्रवण करता है और यह ज्ञान उसके स्मृति-कोष में पूरी तरह सुरक्षित रहता है। रावण से वार्तालाप करते हुए कुम्भकर्ण ने उन पवित्र क्षणों का बड़े भाव भरे स्वर में स्मरण किया था :

नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा।
कहतेउँ तोहि समय निरवाह।।

इसलिए उसकी मुक्ति को केवल करुणा का ही परिणाम न मानकर ज्ञान के फल के रूप में भी देखा जा सकता है। आध्यात्मिक संदर्भ में भले ही वह विभीषण के समान भगवद्भक्त न रहा हो पर व्यावहारिकता की पृष्ठभूमि में देखने वालों को उसका जीवन-दर्शन विभीषण से भी श्रेष्ठ प्रतीत हो सकता है। उस पर भ्रातृ-द्रोह अथवा देशद्रोह का वह आरोप नहीं लगाया जा सकता जो विभीषण पर लगाया जाता है। रावण से वैमत्य होते हुए भी वह उसका परित्याग नहीं करता है। अपनी भावनाओं को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देने के वाद भी वह रावण के द्वारा पालित शरीर को उसकी सेवा में ही विनष्ट हो जाने देता है। इस तरह उसने व्यवहार और परमार्थ दोनों के ही निर्वाह का प्रयास किया। इस दृष्टि से उसकी तुलना महाभारत के अप्रतिम योद्धा कर्ण से ही की जा सकती है। न केवल इन दोनों के नाम में ही साम्य है अपितु दोनों ने ही मृत्यु को अपरिहार्य समझते हुए भी कृतज्ञता के निर्वाह के लिए स्वपक्ष का ही साथ दिया। कर्ण अपना सच्चा परिचय देकर पाण्डवों का उत्तराधिकार स्वयं प्राप्त कर सकता था। कुम्भकर्ण भी शरणागत वनकर न केवल अपने प्राणों की रक्षा कर सकता था अपितु लंका राज्य का अधिपति भी वन सकता था। किन्तु दोनों ने ही इस प्रलोभन को ठुकराकर एक प्रकार की विलक्षण वीरता का ही परिचय दिया। कुम्भकर्ण की यह मुक्ति उसके स्वार्थ त्याग की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त ही थी। अन्याय का पक्ष लेने के कारण ही कुम्भकर्ण और कर्ण दोनों को शारीरिक दृष्टि से मृत्युदण्ड का पात्र वनना पड़ा पर दोनों ही अपनी शौर्यमयी गाथा के कारण विश्व इतिहास में अमर हैं।

• • •

बिरला अकादमी आफ आर्ट एण्ड कल्चर